बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल 1891 परिनिर्वाण : 6 दिसंबर 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 1

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 1

भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा–उन्मूलन, भाषायी प्रांतों पर विचार, रानडे, गांधी और जिन्ना आदि

पहला संस्करण : 1993
दूसरा संस्करण : 1995
तीसरा संस्करण : 1998
चौथा संस्करण : 2011
पांचवां संस्करण : 2013

ISBN : **978-93-5109-001-4**

© सर्वाधिकार सुरक्षित

आवरण परिकल्पना : विनय कुमार पॉल
पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

मूल्य : सामान्य (पेपरबैक) : ₹ 30

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571, 23320576, 23320589
फैक्स : 23320582
वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in

मुद्रक : अरिहंत ऑफसेट, जनकपुरी, नई दिल्ली

बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व दान कर सकता है। किसी भी देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण और अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का संपूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतंत्र और निष्पक्ष है तो उस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आपमें कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है, जिसे एक बुद्धिमान व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान व्यक्ति भला हो सकता है, लेकिन साथ ही वह दुष्ट भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्च विचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है, जो सहायता करने के लिए तैयार रहता है और पथभ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है।

भीमराव अम्बेडकर

जातिप्रथा-उन्मूलन

संकलन
श्री बसंत मून

संपादक मंडल

अध्यक्ष
श्री के .एस.आर. मूर्ति, आई.ए.एस.
सचिव, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार
सदस्य-सचिव
श्री गंगा दास, आई.ए.एस.
संयुक्त सचिव, कल्याण मंत्रालय,
भारत सरकार
प्रबंध संपादक
डा. सुखवीर सिंह, एम.ए., पीएच.डी.
संपादक (समन्वय)
श्री कैलाश चन्द्र सेठ
श्रीमती भारती नरसिंहमन

प्रधान संपादक
डा. श्याम सिंह शशि
पीएच.डी., डी. लिट्.

अनुवादक तथा पुनरीक्षक

श्री सीताराम खोड़ावाल
डॉ. परमानंद पांचाल
श्री प्रेम दास
श्री के. एन. गोस्वामी
डॉ. नरेन्द्र व्यास
श्री नूर नबी अब्बासी
श्री अफला सिंह वर्मा
श्री मोहन दास नैमिशराय
श्री कृष्णा गोपाल
डॉ. धर्मवीर
श्री आर. एन. सिंह

चतुर्थ संस्करण के पुनरीक्षक
श्री सुधीर हिलसायन

आमुख

भारत की धरती पर अनेक ऋषियों, मुनियों, संतों, विचारकों तथा महापुरुषों ने जन्म लिया है। यहां की संस्कृति में जहां एक ओर विचारों की विविधता रही है, दूसरी ओर उन्हें प्रकट करने की पूरी स्वतंत्रता भी दी गई है। डा. भीमराव अम्बेडकर एक स्वतंत्र विचारक, अद्भुत विद्वान तथा भारत की महान विभूति थे। उनके निधन पर पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था – ''बाबा साहेब डा. अम्बेडकर हिन्दू समाज की तमाम दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक थे।''

महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित 'डा. बाबा साहेब अम्बेडकर : राइटिंग्स एंड स्पीचीज' संपूर्ण वाङ्मय का अनुवाद हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनुभवी अनुवादकों तथा पुनरीक्षकों से यथाशीघ्र पूरा कराने का प्रयत्न किया जा रहा है। मैं सभी सहयोगियों, विशेष रूप से प्रधान संपादक डा. श्याम सिंह शशि तथा संपादक मंडल के सभी सदस्यों को बधाई देना चाहूंगा, जिनके अनथक प्रयास से यह खंड प्रकाशित हुआ है। मुझे आशा है, इसी प्रकार अन्य खंड भी प्रकाशित होंगे।

नई दिल्ली
16 मार्च 1993

सीताराम केसरी

(सीताराम केसरी)
कल्याण मंत्री, भारत सरकार

dqekjh lSytk
KUMARI SELJA

Lkkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=h
Hkkjr ljdkj
MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
rFkk
v/;{k] MkW- vEcsMdj izfr"Bku
CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

Lkans'k

e>s ;g tkudj vR;ar çlUurk gks jgh gS fd lkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=ky; dk Lok;Ùk'kklh laLFkku] MkW- vEcsMdj çfr"Bku }kjk ckck lkgsc MkW- vEcsMdj ds ys[kksa ,oa Hkk"k.kksa ds [kaM la[;k 1 dk iqu% laLdj.k çdkf'kr fd;k tk jgk gSA

Hkkjr jRu MkW- ch- vkj- vEcsMdj Hkkjrh; lkekftd&jktuhfrd vkanksyu ds ,sls iqjks/kk jgs gSa] ftUgksaus thoui;Ur lekt ds vkf[kjh ik;nku ij la?k"kZjr 0;fDr;ksa dh csgrjh ds fy, dk;Z fd;kA MkW- vEcsMdj cgqeq[kh çfrHkk ds /kuh Fks blhfy, muds ys[kksa esa fo"k; dh n'kkfud ehekalk çLQqfVr gksrh gSA ckck lkgsc dk fparu ,oa dk;Z lekt dks ckSf)d] vkfFkZd ,oa jktuSfrd lef) dh vksj ys tkus okyk rks gS gh] lkFk gh eu"; dk tkx:d ekuoh; xfjek dh vk/;kfRedrk ls lalLd`r Hkh djrk gSA

Ckkck lkgsc dk laiw.kZ thou neu] 'kks"k.k vkSj vU;k; ds fo#) vuojr Økafr dh 'kkS;&xkFkk gSA os ,d ,sls lekt pkgrs Fks ftlesa o.kZ vkSj tkfr dk vk/kkj ugha cfYd lerk] Lora=rk] cU/kqRo o ekuoh; xfjek lokZifj gks vkSj lekt esa tUe] oa'k vkSj fyax ds vk/kkj ij fdlh çdkj ds HksnHkko dh dksbZ xqatkb'k u gksA lerk] Lora=rk vkSj cU/kqRo ds çfr dVzlaDYi ckck lkgsc dk ys[ku çcq) eu/kk dk çkekf.kd nLrkosat gSA

Hkkjrh; lekt esa 0;kIr fo"kerkoknh o.kZ0;oLFkk] ftlds rgr ekuo&ekuo esa Hksn fd;k tkrk Fkk] ls MkW- vEcsMdj dbZ ckj Vdjk,A blls VdjkgV ls MkW- vEcsMdj esa ,sls tTcs iSnk gq, vkSj] ftlds dkj.k mUgksaus lerkoknh lekt dh lajpuk dk viuk thou dk fe'ku cuk fy;kA lerkoknh lekt ds fuekZ.k dh çfrc)rk ds dkj.k MkW- vEcsMdj us fofHkUu /keksZa dh lkekftd&/kkfeZd 0;oLFkk dk v/;;u o rqyukRed fparu&euu fd;kA

MkW- vEcsMdj çfr"Bku] ckck lkgsc MkW- vEcsMdj ds vU; [kaMksa dks Hkh 'kh?kz çdkf'kr djus esa ç;kljr gSA e>s iwjh vk'kk gS fd ikBdksa dks 'kh?kz gh vçdkf'kr vU; [kaM Hkh iqLrdksa ds vkdkj esa çkIr gks tk,axsA

vk'kk gS] ikBdx.k bl [kaM ds ckjs esa viuk veY; fopkj ,oa lq>ko miyC/k djok,axs ftlls fd bu vuqfnr [kaMksa dh xq.koÙkk ,oa lkt&lTtk dks vkxkeh [kaMksa esa vkSj vkSj vf/kd csgrj cuk;k tk ldsA

¼dqekjh lSytk½

परामर्श सहयोग

कुमारी सैलजा
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री डी. नैपोलियन
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री पी. बलराम नाईक
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री अनिल गोस्वामी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री संजीव कुमार
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री विनय कुमार पॉल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कुमार अनुपम
विशेष कार्याधिकारी

डॉ. शशि भारद्वाज
सम्पादक

श्री जगदीश प्रसाद 'भारती'
व्यापार प्रबंधक

संपादकीय

बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर के लेखन तथा भाषण भारतीय सामाजिक चिंतन के इतिहास और विकास के कालजयी दस्तावेज हैं। महाराष्ट्र सरकार ने उनके संपूर्ण वाङ्मय को अंग्रेजी भाषा में कई खंडों में प्रकाशित किया है, जिन्हें हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित कराया जा रहा है।

हम पाठकों की सुविधा की दृष्टि से प्रथम खंड (अंग्रेजी) को हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में दो खंडों में प्रकाशित कर रहे हैं। खंड-1 के विषय हैं : भारत में जातिप्रथा, जातिप्रथा-उन्मूलन, महाराष्ट : एक भाषावार प्रांत, निरीक्षण तथा संतुलन के उपायों की आवश्यकता, भाषावार राज्यों के संबंध में विचार, रानाडे, गांधी और जिन्ना।

अनुवाद कार्य मौलिक लेखन से भी कठिन होता है। यह एक प्रकार से परकाय-प्रवेश की भांति है। अनुवादक को न केवल स्रोत भाषा तथा लक्ष्य भाषा का ज्ञाता होना आवश्यक है, बल्कि उसके लिए विषय का ज्ञान भी अपेक्षित है। हमें प्रसन्नता है कि इस खंड के अनुवाद को अनुभवी अनुवादकों तथा पुनरीक्षकों ने अल्प समय में पूरा किया है, हम उनके आभारी हैं।

हम बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर शताब्दी समारोह समिति, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना और प्रसारण मंत्रालय तथा प्रकाशन विभाग के सभी संबंधित सहयोगियों को धन्यवाद देना चाहेंगे, जिनके सहयोग से यह कार्य यथाशीघ्र संपन्न हो सका।

डा.श्याम सिंह शशि
प्रधान संपादक

अनुक्रम

आमुख 7

संपादकीय 9

भाग I

जातिप्रथा

1. भारत में जातिप्रथा 15
2. जातिप्रथा-उन्मूलन 37

भाग II

भाषायी राज्यों के संबंध में

3. महाराष्ट्र : एक भाषावार प्रांत 125
4. निरीक्षण तथा संतुलन के उपायों की आवश्यकता
5. भाषावार राज्यों के संबंध में विचार 169

भाग III

नायक और नायक-पूजा

6. रानाडे, गांधी और जिन्ना 247

अनुक्रमणिका 291

भाग I

जातिप्रथा

1

भारत में जातिप्रथा
संरचना, उत्पत्ति और विकास

9 मई 1916 को

कोलंबिया यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क, अमरीका,

में आयोजित

डा. ए.ए. गोल्डनवाइजर गोष्ठी में

नृविज्ञान

पर पठित लेख

इंडियन एंटीक्वेरी (भारतीय पुरावशेष संकलन)
मई 1917, खंड 41, से

भारत में जातिप्रथा

मैं नि:संकोच कह सकता हूं कि हममें से बहुत लोगों ने स्थानीय, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय संग्रहालय देखे होंगे, जो सभ्यता का समग्र रूप प्रस्तुत करते हैं। इस बात पर कुछ लोगों को ही विश्वास आएगा कि संसार में मानव संस्थाओं का प्रदर्शन भी होता है। मानवता-चित्रण विचित्र विचार है, कुछ को यह बात एक अजीब गोरखधंधा लग सकती है। किंतु नृजाति-विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते आप इस अनुसंधान पर कठोर रुख नहीं अपनाएंगे और कम से कम आपको यह आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए।

मेरा मानना है कि आप सबने कुछ ऐतिहासिक स्थल देखे होंगे, जैसे पोम्पियाई के खंडहर, और बड़ी उत्कंठा से गाइडों की धाराप्रवाह जबान में इन खंडहरों का इतिहास सुना होगा। मेरे विचार में नृजाति-विज्ञान का विद्यार्थी भी एक मायने में गाइड ही है। वह अपने प्रकृतरूप की तरह (शायद अधिक गाम्भीर्य और स्व-ज्ञानार्जन की आकांक्षा के साथ) सामाजिक संस्थाओं को यथासंभव निष्पक्षता से देखता है और उनकी उत्पत्ति तथा कार्यप्रणाली का पता लगाता है।

इस गोष्ठी का विचारणीय विषय है - आदिकालीन बनाम आधुनिक समाज। इसमें भाग लेने वाले मेरे सहयोगियों ने इसी आधार पर आधुनिक या प्रागैतिहासिक संस्थाओं के सार्थक उदाहरण दिए हैं, जिनमें उनका अध्ययन है। अब मेरी बारी है। मेरे आलेख का विषय है - 'भारत में जातिप्रथा: संरचना, उत्पत्ति और विकास।'

आप जानते हैं कि यह विषय कितना जटिल है, जिसके संबंध में मुझे अपने विचार व्यक्त करने हैं। मुझसे ज्यादा योग्य विद्वानों ने जाति के रहस्यों को खोलने का प्रयास किया है। किंतु यह बड़े खेद की बात है कि अभी तक इस विषय पर चर्चा नहीं हुई है और लोगों को इसके बारे में अल्प जानकारी है। मैं जाति जैसी संस्था की जटिलताओं के प्रति सजग हूं और मैं इतना निराशावादी नहीं हूं कि यह कह सकूं कि यह पहेली अगम, अज्ञेय है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि इसे जाना जा सकता है। जाति की समस्या सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से एक विकराल समस्या है। यह समस्या जितना व्यावहारिक रूप से उलझी है, उतना ही इसका सैद्धांतिक पक्ष इन्द्रजाल है। यह ऐसी व्यवस्था है, जिसके फलितार्थ गहन हैं। होने

को तो यह एक स्थानीय समस्या है, लेकिन इसके परिणाम बड़े विकराल हैं। "जब तक भारत में जातिप्रथा विद्यमान है, तब तक हिन्दुओं में अंतर्जातीय विवाह और बाह्य लोगों से शायद ही समागम हो सके, और यदि हिन्दू पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों में भी जाते हैं तो भारतीय जातपांत की समस्या विश्व की समस्या हो जाएगी।"[1] सैद्धांतिक रूप से अनेक महान विद्वानों ने जिन्होंने श्रम की चाह की खातिर इसके उद्भव तक पहुंचने का प्रयास स्वीकारा था, उनको निराश होना पड़ा। ऐसी स्थिति में मैं इस समस्या का उसकी समग्रता की दृष्टि से समाधान नहीं कर सकता। मुझे आशंका है कि समय, स्थान और कुशाग्रता मुझे असफल कर देगी, यदि मैने इस समस्या को वर्गीकृत न करके अपनी सीमाओं से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। जिन पक्षों को मैं निरूपित करना चाहता हूं, वे हैं – जातिप्रथा की संरचना, उत्पत्ति और इसका विकास। मैं इन्हीं सूत्रों तक अपने आपको सीमित रखूंगा, केवल आवश्यकता पड़ने पर स्पष्टीकरण देते हुए ही विषयांतर करूंगा।

विषय का प्रतिपादन करते हुए मैं निवेदन करूंगा कि प्रसिद्ध नृजाति-विज्ञानियों के अनुसार, भारतीय समाज में आर्यों, द्रविडों, मंगोलियों और शकों का सम्मिश्रण है। ये जातियां देश-देश से शताब्दियों पूर्व भारत पहुंचीं और अपने मूल देश की सांस्कृतिक विरासत के साथ यहां बस गईं। तब इनकी स्थिति कबायली थी। ये अपने पूर्ववर्तियों को धकेल कर इस देश के अंग बन गए। इनके परस्पर सतत संपर्कों और संबंधों के कारण एक समन्वित संस्कृति का सूत्रपात हुआ। परंतु भारतीय समाज के विषय में यह बात कहना असंगत है कि वह विभिन्न जातियों का संकलन है। पूरे भारत में भ्रमण करने पर दिक्‌दिगंत में यह साक्ष्य मिलेगा कि इस देश के लोगों में शारीरिक गठन और रंग-रूप की दृष्टि से कितना अंतर है। संकलन से सजातीयता उत्पन्न नहीं होती है। यदि रक्त-भेद की दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय समाज विजातीय है, हां यह संकलन सांस्कृतिक रूप से अत्यंत गुंथा हुआ है। इसी आधार पर मेरा कहना है कि इस प्रायद्वीप को छोड़कर संसार का कोई देश ऐसा नहीं है, जिसमें इतनी सांस्कृतिक समरसता हो। हम केवल भौगोलिक दृष्टि से ही सुगठित नहीं हैं, बल्कि हमारी सुनिश्चित सांस्कृतिक एकता भी अविच्छिन और अटूट है, जो पूरे देश में चारों दिशाओं में व्याप्त है। इसी सांस्कृतिक एकरूपता के कारण जातिप्रथा इतनी विकराल समस्या बन गई है कि उसकी व्याख्या करना कठिन कार्य है। यदि हमारा समाज केवल विजातीय या सम्मिश्रण भी होता तब भी कोई बात थी, किंतु यहां तो सजातीय समाज में भी जातिप्रथा घुसी हुई है। हमें इसकी उत्पत्ति की व्याख्या के साथ-साथ इसके संक्रमण की भी व्याख्या करनी होगी।

आगे विश्लेषण करने से पूर्व हमें जातितंत्र की प्रकृति पर भी विचार करना होगा। मैं नृजाति-विज्ञान के कुछ विद्वानों की परिभाषाएं प्रस्तुत करना चाहता हूं :

---

1. केतकर - कास्ट (जातिप्रथा), पृ. 4.

जाति के संबंध में फ्रांसीसी विद्वान श्री सेनार का सिद्धांत है : तीव्र वंशानुगत आधार पर घनिष्ठ सहयोग, विशिष्ट पारंपरिक और स्वतंत्र संगठनों से युक्त, जिसमें एक मुखिया और पंचायत हो, उसकी समय-समय पर बैठकें होती हों, कुछ उत्सवों पर मेले हों, एक सा व्यवसाय हो, जिसका विशिष्ट संबंध रोटी-बेटी व्यवहार से और समारोह अपमिश्रण से हो, और इसके सदस्य उसके अधिकार क्षेत्र से विनियमित होते हों, जिसका प्रभाव लचीला हो, पर जो संबद्ध समुदाय पर प्रतिबंध और दंड लागू करने में सक्षम हो और सबसे बढ़कर समूह से अपरिवर्तनीय।

2. नेसफील्ड जाति की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : समुदाय का एक वर्ग जो दूसरे वर्ग से संबंधों का बहिष्कार करता हो और अपने संप्रदाय को छोड़कर दूसरे के साथ शादी व्यवहार तथा खान-पान से परहेज करता हो।
3. सर एच. रिजले के अनुसार : जाति का अर्थ है, परिवारों का या परिवार समूहों का संगठन, जिसका साझा नाम हो, जो किसी खास पेशे से संबद्ध हो, जो एक से पौराणिक पूर्वजों-पितरों के वंशज होने का दावा करता हो, एक जैसा व्यवसाय अपनाने पर बल देता हो और सजातीय समुदाय का हामी हो।
4. डा. केतकर ने जाति की परिभाषा इस प्रकार की है: दो लक्षणों वाला एक सामाजिक समूह, (क) उसकी सदस्यता उन लोगों तक सीमित होती है, जो जन्म से सदस्य होते हैं और जिनमें इस प्रकार जन्म लेने वाले लोग शामिल होते हैं; (ख) कठोर सामाजिक कानून द्वारा सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह करने के लिए वर्जित किए जाते हैं।

हमारे लिए इन परिभाषाओं की समीक्षा अत्यावश्यक है। यह स्पष्ट है कि अलग-अलग देखने पर तीन विद्वानों की परिभाषाओं में बहुत कुछ बातें हैं या बहुत कम तत्व हैं। अकेले देखने में कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं और मूल भाव किसी में भी नहीं है। उन सबने एक भूल की है कि उन्होंने जाति को एक स्वतंत्र तत्व माना है, उसे समग्र तंत्र के एक अंग के रूप में नहीं लिया है। फिर भी सारी परिभाषाएं एक-दूसरे की पूरक हैं, जो तथ्य एक विद्वान ने छोड़ दिया है, उसे दूसरे ने दर्शाया है। मैं केवल उन सूत्रों पर विचार रखूंगा और उनका मूल्यांकन करूंगा, जो उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार सभी जातियों में समान रूप से पाए जाते हैं, जो जाति की ख़ासियत मानी जाती हैं।

हम सेनार से शुरू करते हैं। वह अपमिश्रण की बात करते हैं और यह बताते है कि यह जाति की प्रकृति है। इसे देखते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यह किसी जाति से संबंधित नहीं है। यह आमतौर पर पूजा-समारोहों से संबद्ध बात है और शुद्धता के सामान्य सिद्धांत का पोषक तत्व है। परिणामस्वरूप इसका संबंध जाति से नहीं है और इसकी कार्यप्रणाली को ध्वस्त किए बिना, इसको प्रतिरुद्ध किया जा सकता है। अपमिश्रण का सिद्धांत जाति से जोड़ दिया गया है क्योंकि जो जाति सर्वोच्च कही जाती है, वह पुरोहित वर्ग है।

हम जानते ही हैं कि पुरोहित और पवित्रता का पुराना संबंध है। सार यही है कि अपमिश्रण का सिद्धांत तभी लागू होता है, जब किसी जाति का धार्मिक स्वभाव हो। श्री नेसफील्ड अपने तरीके से कहते हैं कि जाति की प्रकृति है कि उनके साथ खान-पान नहीं किया जाता, जो उनकी जाति के बाहर हैं। यह नया तथ्य है, फिर भी ऐसा लगता है कि श्री नेसफील्ड इस व्यवस्था के प्रभाव से अपरिचित हैं। चूंकि जाति अपने में ही सीमित एक संस्था है, अतः वह सामाजिक अंतरंगता के विरुद्ध है, जिसमें खान-पान आदि पर भी पाबंदी है। परिणाम यह निकलता है कि बाहरी लोगों से खान-पान पर पाबंदी सकारात्मक निषेध का कारण नहीं है, बल्कि जातिप्रथा का परिणाम है, अर्थात् भिन्नता का गुरुमंत्र है। इसमें कोई संदेह नहीं कि खान-पान पर प्रतिबंध भिन्नता के कारण नहीं है, बल्कि यह एक धार्मिक व्यवस्था है। परंतु यह तत्व बाद में जुड़ा है। सर एच. रिजले ने विशेष ध्यान देने योग्य कोई नई बात नहीं कहीं है।

अब हम डा. केतकर की परिभाषा का विश्लेषण करते हैं। उन्होंने इस विषय को और विशद् रूप दिया है। केवल यही बात नहीं है कि वह भारत के निवासी हैं, बल्कि उन्होंने विवेचनात्मक और पैनी दृष्टि से निष्पक्ष राय दी है, जो जातिप्रथा के बारे में उनके अध्ययन के कारण हुआ है। उनकी परिभाषा विचारणीय है, क्योंकि उन्होंने जातितंत्र का विश्लेषण जातिप्रथा के आधार पर किया है और अपना ध्यान केवल उन्हीं लक्षणों तक केन्द्रित रखा है, जो जातिप्रथा के अंतर्गत जाति के अस्तित्व में अनिवार्य हैं। उन्होंने फालतू बातों की ठीक अवहेलना की है, जो गौण और क्षणिक हैं। उनकी परिभाषा के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनके विचारों में कहीं थोड़ी भ्रांति है, वैसे उनमें विशदता और स्पष्टता है। वह रोटी-बेटी के व्यवहार में भेदभाव की बात कहते हैं। मेरा कहना है कि मूल बात एक ही है, रोटी से भी परहेज है और बेटी व्यवहार से भी। पर डा. केतकर ने बताया है कि ये हैं एक ही सिक्के के दो पहलू। यदि आप बेटी व्यवहार पर पाबंदी लगाते हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि आप परिधि संकुचित कर लेते हैं। इस प्रकार ये दोनों लक्षण एक ही पदक के मुख्य भाग तथा पृष्ठ भाग हैं।

जातितंत्र के इस समीक्षात्मक मूल्यांकन से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता है कि सजातीय विवाह का निषेध या ऐसे विवाह का न पाया जाना ही जातिप्रथा का मूल है। परंतु अमूर्त नृविज्ञान के आधार पर कुछ लोग इस बात को नकार सकते हैं, क्योंकि सजातीय विवाह के पक्षधर वर्ग जातीय समस्या बढ़ाए बिना ऐसा कर सकते हैं। सामान्यतः यह संभव है, क्योंकि यह एक मूर्त सत्य है कि सजातीय विवाह समर्थक समाज सांस्कृतिक रूप से भिन्न रहकर अलग बस्तियों में बस सकता है, जहां एक-दूसरे से कोई मतलब न हो। इस बारे में एक युक्तिसंगत उदाहरण दिया जा सकता है कि अमरीकन भारतीयों के नाम से विख्यात नीग्रो समुदाय और गोरों के विभिन्न कबीले अमरीका में मौजूद हैं। परंतु हमें इस संबंध में भ्रांति नहीं रहनी चाहिए कि भारत में स्थिति भिन्न है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत

में सजातीय प्रथा है। भारत की विभिन्न प्रजातियां कुछ खास क्षेत्रों में निवास करती हैं और उनका आपस में मेल-जोल है तथा उनमें सांस्कृतिक एकता है, जो सजातीय समाज का एकमात्र मापदंड है। ऐसी सजातीयता को आधार मानने से जातिप्रथा एक नई समस्या का रूप धारण करती है, जो केवल सजातीय विवाह समर्थक समाज या कबीलों से अलग स्थिति है। भारत में जातिप्रथा का अर्थ है समाज को कृत्रिम हिस्सों में विभाजित करना, जो रीति-रिवाजों और शादी-व्यवहार की भिन्नताओं से बंधे हों। परिणाम स्पष्ट है कि सजातीय विवाह एकमात्र लक्षण है, जो जातिप्रथा की विशेषता है और यदि हम यह जताने में सफल हो जाएं कि सजातीय विवाह ही क्यों होते हैं तो हम व्यावहारिक रूप से यह साबित कर सकते हैं कि जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई और इनका ताना-बाना क्या है?

अब आप भलीभांति समझ सकते हैं कि मैं सजातीय विवाह को जातिप्रथा की जड़ क्यों मानता हूं। मैं आपको पशोपेश में डालना नहीं चाहता। मैं इस पर प्रकाश डालता हूं।

यहां यह बताना असंगत न होगा कि आज दुनिया का कोई अन्य सभ्य देश ऐसा नहीं है, जो आदिम मान्यताओं से लिपटा हो। इस देश का धर्म आदिम है और इसके आदिम संकेत इस आधुनिक काल में भी पूरे जोर-शोर से इस पर हावी हैं। इस सिलसिले में मैं बहिर्गोत्र विवाह का उल्लेख करना चाहता हूं। आदिम युग में बहिर्गोत्र विवाहों का प्रचलन सर्वविदित है। युग परिवर्तन के साथ-साथ तो इस शब्द की सार्थकता ही जाती रही और रक्त के घनिष्टतम रिश्ते को छोड़कर इस संबंध में विवाहों पर कोई प्रतिबंध ही नहीं रहा। लेकिन भारत में आज भी बहिर्गोत्र विवाह प्रथा ही प्रचलित है। भारतीय समाज में आज भी कबीला प्रथा मौजूद है, हालांकि कबीले नहीं रहे। विवाह पद्धति इसका प्रमाण है, जो बहिर्गोत्र प्रथा पर आधारित है। यहां सपिंड विवाहों पर ही प्रतिबंध नहीं है, बल्कि सगोत्र विवाह भी अपवित्र माने जाते हैं।

इसलिए आपको सबसे महत्वपूर्ण बात यह याद रखनी है कि सजातीय प्रथा भारत के लिए विदेशी प्रथा है। भारत में विभिन्न गोत्र हैं और ये बहिर्गोत्र विवाह से संबंधित हैं। ऐसे ही अन्य वर्ग भी हैं, जो टोटम अर्थात् देवों को मानते हैं। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत में बहिर्गोत्र विवाह एक विधान है और इसका उल्लंघन संभव नहीं, यहां तक कि जाति भीतर विवाह प्रथा के बावजूद, गोत्र बाहर विवाह पद्धति का कठोरता से पालन किया जाता है। गोत्र बाहर विवाह करने की प्रथा का उल्लंघन करने पर जाति बाहर विवाह करने वालों की तुलना में कठोर दंड का विधान है। आप देख सकते है कि बहिर्गोत्र विवाह का नियम बना दिया जाए तो जातिप्रथा का आधार ही मिट जाए, क्योंकि बहिर्गोत्र का अर्थ परस्पर विलय है। परंतु हमारे यहां जातिप्रथा है। परिणाम यही निकलता है कि जहां तक भारत का संबंध है, यहां बहिर्गोत्र विवाह विधान से अंततः जाति अर्थात् सजातीय विवाह विधान भी जुड़ा है। बहरहाल, मूल रूप से बहिर्गोत्री समाज में सजातीय विवाह विधान का पालन सरलता से संभव है, जो जातिप्रथा का मूल है और एक गंभीर समस्या है। इसी विधान के माध्यम

से बहिर्गोत्र विवाहों के रहते सजातीय विवाह होता है। इसी पर विचार करके हमें अपनी समस्या का समाधान मिल सकता है।

इस प्रकार सजातीय विवाह प्रथा की बहिर्गोत्रीय विवाहों पर जकड़ ही जातिप्रथा का कारक है। लेकिन बात इतनी सरल नहीं। हम मान लेते हैं कि एक ऐसा समुदाय है, जो एक जाति बनाना चाहता है और विचार करता है कि सजातीय विवाह प्रथा के प्रचलन के लिए कौन सा माध्यम अपनाए। यदि कोई समुदाय सजातीय विवाह पद्धति को दरकिनार करके अंतरजातीय विवाह निषेध का उल्लंघन करता है और अपने समुदाय के बाहर विवाह रचा लेता है, तो वह व्यर्थ है। विशेष रूप से इस परिप्रेक्ष्य में कि सजातीय विवाह प्रथा के पहले सभी विवाह बहिर्गोत्र होते थे। फिर सभी वर्गों में यह प्रकृति है कि वे सम्मिश्रण के पक्षधर हैं और वे एक सजातीय वर्ग में संगठित हो जाते हैं। यदि इस प्रकृति का प्रतिकार किया जाए तो यह आवश्यक है कि जिन वर्गों के बीच विवाह संबंध नहीं हैं, उन्हें भी प्रतिबंधित वर्ग में सम्मिलित किया जाए। इसके लिए आवश्यक है, परिधि का बढ़ाया जाना।

इसके बावजूद बाहरी समुदाय में शादी व्यवहार को रोक देने से आंतरिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं, जिनका समाधान सरल नहीं है। मोटे तौर पर सभी वर्गों में स्त्री-पुरुष संख्या समान होती है और समान वय के स्त्री-पुरुष में बराबरी भी होती है। किंतु समाज उन्हें बराबर नहीं मानता। साथ ही जो समुदाय जाति-संरचना करता है, उसमें स्त्री-पुरुष समानता परम लक्ष्य होता है। इसके बिना सजातीय विवाह प्रथा सफल नहीं हो सकती। इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यदि सजातीय विवाह प्रथा को बनाए रखना है, तो आंतरिक दृष्टि से दाम्पत्य अधिकारों का विधान रखना होगा। अन्यथा समाज के लोग दायरे से बाहर हो जाएंगे। यदि आंतरिक दृष्टि से दाम्पत्य अधिकार दिए जाते हैं तो जाति-संरचना की सफलता के लिए स्त्री-पुरुष संख्या समान रखनी आवश्यक होगी। दोनों के बीच भारी संख्या विषमता होने से सजातीय विवाह प्रथा चरमरा उठेगी।

जातियों की समस्या के समाधान के लिए विवाह योग्य स्त्री-पुरुष संख्या की असमानता को रोकना होगा। प्रकृति इसमें सहायक तभी हो सकती है, जब पति के साथ पत्नी या पत्नी के साथ पति की मृत्यु हो जाए। इससे ही यह संतुलन बना रह सकता है। ऐसा असंभव है। वास्तव में, पति के मरने पर पत्नी बच जाती है और पत्नी के मरने पर पति बचा रह जाता है। इस प्रकार इन बच रहे स्त्री- पुरुषों की व्यवस्था करनी होगी। अन्यथा ऐसा हो सकता है कि कोई बचा हुआ पुरुष या स्त्री जाति के बाहर विवाह करके जाति-व्यवस्था के जाल को छिन्न-भिन्न कर दे। यदि उन्हें स्वतंत्र रहने दिया गया और उन्हें नव-युगल बनाने का कोई नियम नहीं बनता है तो इस प्रकार के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष बचे रहेंगे। ऐसे यह बहुत संभव है कि वे सीमाएं लांघ जाएं तथा बाहर विवाह रचा लें और जाति में विजातीय लोगों को भर लें।

अब हम यह देखें कि जिस वर्ग की हमने ऊपर कल्पना की है, वह इन बचे हुए स्त्री-पुरुष का क्या करेगा। पहले हम विधवा स्त्रियों को लेते हैं। उनका दो तरह से इंतजाम किया जा सकता है, जिससे कि सजातीय विवाह प्रथा बनी रहे।

पहला : उसे उसके मृत पति के साथ जला दिया जाए और उससे मुक्ति पा ली जाए। स्त्री-पुरुष अंतर को घटाने के लिए यह एक अव्यावहारिक तरीका है। कुछ मामलों में यह संभव है, कुछ में नहीं। नतीजा यह निकला कि प्रत्येक स्त्री को ठिकाने नहीं लगाया जा सकता। वैसे यह एक आसान तरीका है, लेकिन बहुत कटु स्थिति है। इस तरह विधवाएं यदि ठिकाने नहीं लगाई जा सकें और वे जाति में ही बनी रहें, तो दुहरा खतरा पैदा हो जाता है। वह जात बाहर विवाह कर लेगी और सजातिवाद को तिलांजलि दे देगी या मुकाबलेबाजी में अपनी जाति की उन स्त्रियों का हक मार लेगी, जो विवाह योग्य हैं। इस तरह यह खतरा है। यदि वह उसके पति के साथ जलाई न जा सके तो उसका कुछ इंतजाम करना होगा।

दूसरा निराकरण है कि उन्हें हमेशा के लिए विधवा रहने दिया जाए। जहां तक वांछित परिणाम का संबंध है, उसे जला देना सदा विधवा बनाए रखने से बेहतर है। जला देने से तीनों आशंकाएं, जिनका विधवा को सामना करना पड़ता है, नष्ट हो जाती हैं। मरने से वह कोई समस्या नहीं रहेगी। और वह न जाति के बाहर और न ही जाति में पुनर्विवाह करेगी। परंतु उसे विधवा रूप में जीवित रहने देना, जलाने से अच्छा और व्यावहारिक भी है। जहां यह अपेक्षाकृत मानवीय प्रथा है, इससे पुनर्विवाह की आशंका भी टलती है। परंतु इससे उस वर्ग की नैतिकता स्थापित नहीं रह सकती। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनिवार्य वैधव्य में स्त्री बच जाती है। परंतु पूरे जीवन उसे किसी की वैध पत्नी बनने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। इससे अनैतिकता के लिए रास्ते खुलते हैं। लेकिन यह कोई दु:साध्य कार्य नहीं है। उसे इस हालत में लाया जा सकता है कि उसमें आकर्षण लेशमात्र भी न बचे।

जाति-संरचना करने वाले समुदाय में बचे पुरुषों (विधुरों) की समस्या अधिक महत्वपूर्ण है। यह विधवाओं की अपेक्षा अधिक विकराल है। इतिहास के आरंभ से ही पुरुष का स्त्री की अपेक्षा अधिक महत्व रहा है। इसका प्रभुत्व हर समाज में रहा है। इसकी प्रतिष्ठा अधिक रही है। पुरुष की परंपरागत श्रेष्ठता के कारण उसकी इच्छाओं का सदा सम्मान किया जाता रहा है। दूसरी ओर नारी सदा धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक असमानताओं का शिकार होती रही है। इस हालत में विधवाओं के साथ वैसा ही बर्ताव नहीं किया गया है, जैसा बचे हुए पुरुषों (विधुर) के साथ किया गया है।

उसे उसकी मृत पत्नी के साथ जला डालना दो कारणों से खतरनाक है। पहली बात तो यह है कि ऐसा किया नहीं जा सकता, क्योंकि वह पुरुष है। दूसरे यदि ऐसा किया जाए तो एक तगड़ा व्यक्ति जाति की खातिर लुप्त हो जाएगा। अब उससे आसानी से निबटने के लिए दो विकल्प रह जाते हैं। मैं इन्हें आसान विकल्प इसलिए कह सकता हूं, क्योंकि वह समाज के लिए उपयोगी हैं।

वह समाज के लिए कितना ही महत्वपूर्ण हो, सजातीय विवाह इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है और इसलिए समाधान ऐसा होना चाहिए जो इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति करे। ऐसी परिस्थितियों में उसे भी विधवा की तरह आजीवन विधुर रहने के लिए बाध्य या मेरे विचार से ऐसा करने के लिए राजी किया जा सकता है। यह समाधान बिल्कुल मुश्किल नहीं है, क्योंकि कुछ बिना विवश किए भी आत्म-संयम बरत सकते हैं या वे इससे भी चार कदम आगे बढ़कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकते हैं। लेकिन मानव प्रकृति के देखते हुए ऐसी अपेक्षा आसानी से पूर्ण नहीं हो सकती। दूसरी स्थिति में संभव है कि ऐसा व्यक्ति समूह की गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेने पर उसके नैतिक सिद्धांतों के लिए खतरा बन सकता है।

दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर यद्यपि ब्रह्मचर्य व्रत उन मामलों में आसान है, जहां इसे सफलता से अपनाया जाता है, लेकिन फिर भी जाति की भौतिक सुख-समृद्धि के लिए लाभदायक नहीं है। यदि वह सही अर्थों में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है और सांसारिक सुखों का त्याग कर देता है, तो वह जाति के नैतिक मूल्यों या सजातीय विवाह के लिए खतरा नहीं होगा, जैसा कि उसके सांसारिक जीवन बिताने पर होता। जहां तक भौतिक सुख-समृद्धि का प्रश्न है, ब्रह्मचारी की तरह जीवनयापन करने वाला व्यक्ति जला दिए गए व्यक्ति के समान है। प्रभावी सौहार्दपूर्ण जीवन सुनिश्चित करने के लिए जाति के सदस्यों की निर्धारित संख्या होनी चाहिए।

विधुरों पर ब्रह्मचर्य थोपना सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से विफल रहता है। यह जाति के हित में है कि वह गृहस्थ रहे। समस्या केवल यह है कि उसे जाति में से ही पत्नी सुलभ कराई जाए। शुरू में इसमें कठिनाई होती है, क्योंकि जातियों में स्त्री और पुरुष का अनुपात एक-एक का है। इस तरह किसी के दुबारा विवाह की गुंजायश नहीं होती, क्योंकि जब जातियों की परिधियां बनी होती हैं तो विवाह योग्य पुरुषों और स्त्रियों की संख्या पूरी तरह संतुलित होती है। इन परिस्थितियों में विधुर को जाति में रखने के लिए उसका पुनर्विवाह उन बालिकाओं से किया जा सकता है, जो अभी विवाह योग्य न हों। विधुरों के लिए यह यथा संभव उपाय है। इस प्रकार वह जाति में बना रहेगा। इस प्रकार उनके जाति से बाहर निकलने और उनकी संख्या में कमी को रोका जा सकेगा और सजातीय विवाह वाले समाज में नैतिकता भी बनी रहेगी।

यह स्पष्ट है कि ऐसे चार तरीके हैं, जिन्हें अपनाने से स्त्री-पुरुषों में संख्या का अनुपात बनाए रखा जा सकता है : (1) स्त्री को उसके मृत पति के साथ सती कर दिया जाए, (2) उसे आजीवन विधवा रखा जाए, जो जलाने से कुछ कम पीड़ादायक है, (3) विधुरों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने को बाध्य किया जाए, और (4) विधुर का ऐसी लड़की से विवाह कर दिया जाए, जिसकी आयु अभी विवाह योग्य न हो। हालांकि मेरे उपरोक्त विचार के अनुसार विधवा को जलाना और विधुर पर ब्रह्मचर्य व्रत थोपना सजातीय विवाह को बनाए

रखने के लिए समूह के प्रयत्नों के प्रति संदेहास्पद सेवा होगी। लेकिन जब साधनों को शक्ति के रूप में स्वतंत्र किया जाता है अथवा उन्हें गतिमान कर दिया जाता है, तो वे लक्ष्य बनते हैं। तब फिर ये साधन कौन सा लक्ष्य प्राप्त करते हैं। वे सजातीय विवाह की व्यवस्था को जारी रखते हैं। जब कि विभिन्न परिभाषाओं के हमारे विश्लेषण के अनुसार सजातीय विवाह और जाति एक ही बात है। अतः इन साधनों का अस्तित्व और जाति समरूप हैं, तथा जाति में इन साधनों का समावेश है।

मेरे विचार में जाति-व्यवस्था में यह जाति की सामान्य क्रियाविधि है। अब हम अपना ध्यान इन उच्च सिद्धांतों से हटाकर हिन्दू समाज में विद्यमान जातिप्रथा और उसकी क्रियाविधि की जांच में लगाएं। मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि अतीत के रहस्यों को खोलने वालों के मार्ग में अनेक कठिनाइयां आती हैं और निःसंदेह भारत में जाति-व्यवस्था अति प्राचीन संस्था है। इन हालात में यह और भी ज्वलंत यथार्थ है कि जहां तक हिन्दुओं का संबंध है, उनके बारे में कोई आधिकारिक या लिखित संकेत नहीं हैं तथा भारतीयों का दृष्टिकोण ऐसा बन गया है कि वह इतिहास लेखन को मूर्खता मानते हैं, क्योंकि उनके लिए जगत मिथ्या है। लेकिन ये संस्थाएं जीवित रहती हैं, यद्यपि चिरकाल तक इनका लिखित प्रमाण नहीं रहता और उनके रीति-रिवाज व नैतिक मूल्य अवशेषों की भांति अपने आपमें एक इतिहास हैं। हम अपने कर्तव्य में सफल होंगे, यदि हम अतिरेक पुरुष और अतिरेक स्त्री से संबंधित समस्याओं का हिन्दुओं द्वारा जो निदान किया गया है, उसकी जांच करें।

सतही तौर पर देखने वाले व्यक्ति को हिन्दू समाज की सामान्य क्रियाविधि जटिल लगे, किंतु वह स्त्रियों से संबंधित तीन असाधारण रीतियां प्रस्तुत करती है, ये हैं :

1. सती या विधवा को उसके मृत पति के साथ जलाना।
2. थोपा गया आजीवन वैधव्य, जिसके अंतर्गत एक विधवा को पुनःविवाह करने की आज्ञा नहीं है।
3. बालिका विवाह।

संन्यास के बाद भी विधुर में विकट लिप्सा होती है, परंतु कुछ मामलों में यह शुद्ध मानसिक कारणों से ही संभव है।

जहां तक मैं समझता हूं, आज तक इन प्रथाओं के उद्‌भव की कोई वैज्ञानिक व्याख्या सामने नहीं आई है। अनेक दार्शनिक सिद्धांत इन प्रथाओं की प्रतिष्ठा में प्रतिपादित किए गए हैं, परंतु कहीं से इनके उद्‌भव और अस्तित्व का संकेत नहीं मिलता। सती सम्माननीय है (ए.के. कुमार स्वामी: सती:ए डिफेंस ऑफ द ईस्टर्न वीमेन इन द सोशियोलोजिकल रिव्यु, वोल्यूम, VI, 1913) क्योंकि यह पति-पत्नी के बीच शरीर और आत्मा की संपूर्ण एकात्मकता और श्मशान से परे तक समर्पण को दर्शाती है, क्योंकि इसमें पत्नीत्व को साकार रूप दिया गया है, जैसा कि उमा ने अच्छी तरह उस समय स्पष्ट किया है, जब उन्होंने कहा था, ''हे महेश्वर, अपने पतिदेव के लिए नारी का समर्पण ही उसका सम्मान है, यही उसका

शाश्वत स्वर्ग है।" भावुकता में वह आगे कहती हैं : "मेरी धारणा है कि यदि आप मुझसे संतुष्ट नहीं हैं तो मेरे लिए स्वर्ग की कामना करना बेकार है।" आजीवन वैधव्य क्यो सम्माननीय है, मैं नहीं जानता, न ही मुझे कोई ऐसा व्यक्ति मिला है, जो इसकी प्रशंसा करता हो, हालांकि इसका पालन करने वाले अनेकानेक हैं। बालिका विवाह की प्रशंसा में डा केतकर कहते हैं : "एक सच्चे आस्थावान स्त्री अथवा पुरुष को विवाह सूत्र में बंधने के बाद अन्य पुरुष-स्त्री से लगाव नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की पवित्रता न केवल विवाह के उपरांत, बल्कि विवाह पूर्व भी आवश्यक है, क्योंकि चारित्र्य का केवल यही सही आदर्श है। किसी अपरिणीता को पवित्र नहीं माना जा सकता, यदि वह उस व्यक्ति के अलावा जिससे उसका विवाह होने वाला है, किसी अन्य व्यक्ति से प्रणय करती है। यदि वह ऐसा करती है तो यह पाप है। इसलिए एक लड़की के लिए यह अच्छा होगा कि कामवासना जागृत होने से पूर्व उसे यह पता होना चाहिए कि उसे किससे प्रेम करना है।"[2] तब उसका विवाह किया जाए।

ऐसी हवाई और कुतर्क की बातें यह तो प्रमाणित करती हैं कि ऐसी प्रथाओं को क्यों सम्मानित किया गया, परंतु हमें यह नहीं बतातीं कि ये रिवाज कैसे पड़े। मेरा यह मानना है कि इनको सम्मान देने का कारण ही यह है कि इन्हें अपनाया गया। जिस किसी को भी 18वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद का थोड़ा सा भी ज्ञान होगा वह मेरे कथन का सार समझ जाएगा। सदा से यह प्रथा रही है कि आंदोलनों का सर्वोपरि महत्व होना है। बाद में उन्हें न्याय-संगत बनाने के लिए और उन्हें नैतिक बल देने के लिए उन्हें दार्शनिक सिद्धांतों का संबल दे दिया जाता है। इसी तरह मैं निवेदन करता हूं कि इसी कारण इन रिवाजों की प्रशंसा की गई, क्योंकि इनके चलन को प्रोत्साहन देने के लिए प्रशंसा की जरूरत थी। प्रश्न यह है कि ये कैसे बढ़े? मेरा विचार है कि जाति-संरचना में इनकी आवश्यकता थी और उनको लोकप्रिय बनाने के लिए सिद्धांतों की बैसाखी पकड़ा दी गई। हम जानते हैं कि ये रिवाज कितने क्रूर, कष्टकारी और घातक हैं। रिवाज साधन मात्र हैं, जब कि उन्हें आदर्श घोषित किया गया। परंतु यह हमें परिणामों के बारे में भ्रमित नहीं कर सकते। सरलता से कहा जा सकता है कि साधनों को आदर्श बना देना आवश्यक होता है और इस मामले में तो खासतौर से उन्हें भारी प्रेरणा देकर उत्साहित किया जाता है। साधन को साध्य मान लेने में कोई हर्ज नहीं है, किंतु हम अपने साधन की प्रकृति नहीं बदल सकते। आप कानून बना सकते हैं कि सभी बिल्लियां कुत्ते हैं, जैसे आप किसी साधन को उद्देश्य मान सकते हैं। परंतु आप साधन की प्रकृति में परिवर्तन नहीं कर सकते। अत: आप बिल्लियों को कुत्ते नहीं बना सकते। ठीक ऐसे ही साधन को साध्य मान सकते हैं। इसी कारण मेरा यह कहना ठीक है कि साधन और साध्य को एकाकार कर दिया जाए, परंतु यह कैसे उचित ठहराया जा सकता है कि जातिप्रथा और सजातीय विवाह

2. हिस्ट्री आफ कास्ट इन इंडिया, 1909, पृष्ठ 2-33.

प्रथा के लिए सतीप्रथा, आजीवन विधवा अवस्था और बालिका विवाह, विधवा स्त्री और विधुर पुरुष की समस्या के समाधान हैं। सजातीय विवाह-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ये रिवाज आवश्यक हैं, जब कि सजातीय विवाह प्रथा के अभाव में जातिप्रथा का अस्तित्व बने रहना संदेहास्पद है।

भारत में जातिप्रथा के प्रचलन और संरक्षण की क्रियाविधि पर विचार करते हुए अगला प्रश्न यह है कि इसकी उत्पत्ति कहां से हुई। इसके मूल का प्रश्न एक कड़वा प्रश्न है और जातपांत के अध्ययन में इसकी दुखद अवहेलना की गई है; कुछ ने इसका समर्थन किया है और कुछ ने इस प्रश्न पर जानबूझकर पर्दा डाल दिया है। कुछ लोग समझ पाने में सफल रहे हैं कि यह जातपांत का मूल कहां हो सकता है। वे कहते हैं - ''यदि हम मूल के प्रति अपनी स्नेह भावना पर नियंत्रण नहीं कर सकते तो हमें उसके बहुवचन रूप, अर्थात 'जातपांत के मूल' का प्रयोग करना चाहिए।'' वैसे भारत में जातपांत के मूल के बारे में कोई उलझन पेश नहीं हुई है, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं कि सजातीय विवाह ही जातपांत का एकमात्र कारण है और जब मैं जाति के मूल की बात कहता हूं तो इसका अर्थ सजातीय विवाह प्रथा की क्रियाविधि के मूल से है।

किसी समाज में व्यक्तियों की अतिसूक्ष्म अवधारणा को इतने शक्तिशाली ढंग से प्रचारित करना- मैं गंदगी उछालना कहने जा रहा था - यह राजनीतिक भाषा में कोरी बकवास है। यह बात नगण्य है कि व्यक्ति मिलकर समाज बनाते हैं। समाज सर्वथा वर्गों से मिलकर बनता है; इसमें वर्ग संघर्ष के सिद्धांत पर बल देना अतिश्योक्ति हो सकती है, परंतु यह सच है कि समाज में कुछ निश्चित वर्ग होते हैं। और उनके आधार भिन्न हो सकते हैं। वे वर्ग आर्थिक, आध्यात्मिक या सामाजिक हो सकते हैं। लेकिन समाज का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वर्ग से संबद्ध होता है। यह एक शाश्वत सत्य है और आरंभिक हिन्दू समाज भी इसका अपवाद नहीं रहा होगा। जहां तक हम जानते हैं, वह अपवाद नहीं था। यदि हम इस सामान्य नियम को ध्यान में रखें तो पाते है कि जातपांत की उत्पत्ति के अध्ययन में यह बहुत उपयोगी तत्व साबित हो सकता है, क्योंकि हम यह निश्चित करना चाहते हैं कि वह कौन सा वर्ग था, जिसने सबसे पहले अपनी जाति की संरचना की। इसलिए वर्ग और जाति एक-दूसरे के दो रूप हैं। फर्क सिर्फ यह है कि जाति अपने को सजातीय परिधि में रखने वाला वर्ग है।

जातिप्रथा के मूल का अध्ययन हमारे प्रश्नों का उत्तर दे सकता है कि वह कौन सा वर्ग है जिसने इस परिधि का सूत्रपात किया, जो इसका चक्रव्यूह है? यह प्रश्न बहुत कौतुहलजनक है, परंतु यह बहुत प्रासंगिक है और इसका उत्तर उस रहस्य पर से पर्दा हटाएगा कि पूरे भारत में जातिप्रथा कैसे पनपी और दृढ़ होती गई। दुर्भाग्य से इस प्रश्न का सीधा उत्तर मेरे पास नहीं है। मैं इसका परोक्ष उत्तर ही दे सकता हूं। मैने अभी कहा है कि विचाराधीन रीति-रिवाज हिन्दू समाज में प्रवाहित हैं। तथ्यों को यथार्थ बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि कथन

को स्पष्ट किया जाए, ताकि इसकी व्यापकता पर प्रकाश डाला जा सके। यह प्रथा अपनी पूरी दृढ़ता के साथ केवल एक जाति, अर्थात् ब्राह्मणों में प्रचलित है, जो हिन्दू समाज की संरचना में सर्वोच्च स्थान पर है और गैर-ब्राहमण जातियों ने इसका केवल अनुसरण किया, जहां इसके पालन में न तो उतनी दृढ़ता है और न संपूर्णता। यह महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सम्मुख महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत कर सकता है। यदि गैर-ब्राह्मण जातियां इस प्रथा का अनुसरण करती हैं, जैसा कि आसानी से देखा जा सकता है, तो यह प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि कौन सा वर्ग जाति-व्यवस्था का जन्मदाता है। ब्राह्मणों ने क्या अपने लिए एक परिधि बनाई और जाति की संरचना कर ली, यह एक अलग प्रश्न है, जिस पर किसी अन्य अवसर पर विचार किया जाएगा। परंतु इस रीति-नीति पर कड़ाई से पालन और इस पुरोहित वर्ग द्वारा प्राचीन-काल से इस प्रथा का कड़ाई से अमल, यह प्रमाणित करता है कि वही वर्ग इस अप्राकृतिक संस्था का जन्मदाता था। उसने अप्राकृतिक साधनों से इसकी नींव डाली और इसे जिंदा रखा।

अब मैं अपने लेखन के तीसरे भाग पर आता हूं, जिसका संबंध पूरे भारत में जातपांत के उद्भव और विस्तार से है। जिस प्रश्न का मुझे उत्तर देना है, वह यह कि देश के अन्य गैर-ब्राह्मण समुदायों में यह प्रथा कैसे फैली? इसके उत्तर में मेरा विचार है कि पूरे भारत में जातिप्रथा के प्रचलन से ज्यादा पीड़ादायक इसके उद्भव का प्रश्न है। जैसा कि मैं समझता हूं, इसका मुख्य कारण यह है कि इसका विस्तार और सूत्रपात दो अलग-अलग बातें नहीं हैं। विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि जातिप्रथा या तो भोले-भाले समाज पर कानून गढ़ने वालों ने नैतिकता का मुलम्मा चढ़ाकर थोप दी या फिर सामाजिक विकास की भक्त भारतीय जनता में किसी नियम के अधीन पनपती रही।

पहले मैं भारत के विधि-निर्माता के बारे में बताना चाहूंगा। हर देश में उसके विधि-निर्माता होते हैं, जो अवतार कहलाते है, ताकि आपातकाल में पापी समाज को सही दिशा दी जा सके। यही विधि-निर्माता कानून और नैतिकता की प्रतिस्थापना करते हैं। भारत के विधि-निर्माता के रूप में यदि मनु का कोई अस्तित्व रहा है, तो वह एक ढीठ व्यक्ति रहा होगा। यदि यह बात सत्य है कि उसने स्मृति अथवा विधि की रचना की तो मैं कहता हूं कि वह एक दुःसाहसी व्यक्ति था और जिस मानवता ने उसके विधान को शिरोधार्य किया, वह वर्तमान-काल की मानवता से भिन्न थी। यह अकल्पनीय है कि जाति-विधान की संरचना की गई। यह कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी कि मनु ने ऐसा कोई विधान नहीं बनाया कि एक वर्ण को इतना रसातल में पहुंचा दिया कि उसे पशुवत बना दिया और उसको प्रताड़ित करने के लिए एक शिखर वर्ण गढ़ दिया। यदि वह क्रूर न होता जिसने सारी प्रजा को दास बना डाला, तो ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वह अपना आधिपत्य जमाने के लिए इतने अन्यायपूर्ण विधान की संरचना करता, जो उसकी 'व्यवस्था' में साफ झलकता

है। मैं मनु के विषय में कठोर लगता हूं, परंतु यह निश्चित है कि मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं उसका भूत उतार सकूं। वह एक शैतान की तरह जिंदा है, किंतु मैं नहीं समझता कि वह सदा जिंदा रह सकेगा। एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूं कि मनु ने जाति के विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जातिप्रथा मनु से पूर्व विद्यमान थी। वह तो उसका पोषक था, इसलिए उसने उसे एक दर्शन का रूप दिया, परंतु निश्चित रूप से हिन्दू समाज का वर्तमान रूप जारी नहीं रह सकता। प्रचलित जातिप्रथा को ही उसने संहिता का रूप दिया और जाति धर्म का प्रचार किया। जातिप्रथा का विस्तार और उसकी दृढ़ता इतनी विराट है कि यह एक व्यक्ति या वर्ग की धूर्तता और बलबूते का काम नहीं हो सकता। तर्क में यह सिद्धांत है कि ब्राह्मणों ने जाति-संरचना की। मैंने मनु के विषय में जो कहा है, मैं इससे अधिक और नहीं कहना चाहता, सिवाय यह कहने के कि वैचारिक दृष्टि से यह गलत और इरादतन दुर्भावनापूर्ण है। ब्राह्मण और कई बातों के लिए दोषी हो सकते हैं, और मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि वे है भी, परंतु गैर-ब्राह्मण अन्य जन-समुदायों पर जातिप्रथा थोपना उनके बूतें के बाहर की बात थी। अपने इस तरह के दर्शन द्वारा, हो सकता है, उन्होंने अपने ही तरीके से इस प्रक्रिया को पनपने में सहायता की हो, परंतु अपनी क्षमता से वे अपनी योजना कार्यान्वित नहीं करा सकते थे। चाहे कोई कितना भी गौरवशाली हो! चाहे कोई कितना ही कठोर क्यों न हो! अपने ढंग से समाज को चलाने में वह प्रशंसित तो हो सकता है, किंतु यह सिलसिला ज्यादा दिन नहीं चलता। मेरी आलोचना की तीव्रता अनावश्यक लग सकती है, पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यह असत्य नहीं है। पुरातन पंथी हिन्दुओं के मन में यह दृढ़ धारणा है कि हिन्दू समाज किसी तरह जातिप्रथा की प्रणाली में ढल गया और यह संस्था शास्त्रों ने बनाई है। यह विश्वास केवल विद्यमान ही नहीं है, बल्कि उसे इस आधार पर न्यायसंगत भी ठहराया जाता है। यह स्थिति सुखद हो सकती है, क्योंकि यह शास्त्रों से जन्मी है और शास्त्र गलत नहीं हो सकते। मैने इस प्रकृति की विसंगतियों की ओर इस आधार पर ही ध्यान नहीं दिलाया है कि वैज्ञानिकता के नाम पर धार्मिक सामान्यताएं थोप दी गईं, न ही मैं उन सुधारकों का पक्षधर हूं, जो इसके विरुद्ध है। यह प्रथा उपदेशों से बड़ी है और न ही उपदेश इसे उखाड़ सकते हैं। मैं इस प्रकृति की निस्सारता बताना चाहता हूं, जिसने धार्मिक प्रतिबंधों को वैज्ञानिक कहकर ओढ़ रखा है।

इस तरह व्यक्ति-पूजा का सिद्धांत भारत में जातिप्रथा के प्रचलन के निराकरण में बहुत लाभदायक साबित नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों ने संभवतः व्यक्ति-पूजा को विशेष महत्व नहीं दिया लेकिन उन्होंने दूसरी व्याख्याओं को आधार बना लिया। उनके अनुसार भारत में जिन मान्यताओं ने जातिप्रथा को जन्म दिया, वे हैं (1) व्यवसाय, (2) विभिन्न कबायली संगठनों का प्रचलन, (3) नई धारणाओं का जन्म, (4) संकर जातियां, और (5) आव्रजन।

प्रश्न यह उठता है कि क्या वे मान्यताएं अन्य समाजों में मौजूद नहीं हैं और क्या भारत

में ही उनका विशिष्ट रूप विद्यमान है। यदि वे भारत की विशेषताएं नहीं हैं और पूरे विश्व में एक समान हैं, तो उन्होंने भूमंडल के किसी अन्य भाग में जातियां क्यों नहीं गढ़ लीं? क्या इसका कारण यह है कि वे देश वेदों की इस भूमि की अपेक्षा अधिक पवित्र हैं या विद्वान गलती पर हैं? मैं सोचता हूं कि बाद की बात सही है।

अनेक लेखकों ने किसी न किसी मान्यता के आधार पर अपनी-अपनी विचारधारा के समर्थन में उच्च सैद्धांतिक मूल्यों के दावे किए हैं। कोई विवशता प्रकट करते हुए कहता है कि गहराई से देखने पर प्रकट होता है कि ये सिद्धांत उदाहरणों के सिवाय कुछ भी नहीं हैं। मैथ्यू आर्नोल्ड का कहना है कि इसमें ''महानता का कुछ सार न होते हुए भी महान नाम जुड़े हुए है।'' सर डेनजिल इब्बतसन, नेसफील्ड, सेनार और सर एच. रिजले के सिद्धांत यही हैं। मोटेतौर पर इनकी आलोचना में यह कहा जा सकता है कि यह एक लीक पीटने का प्रयत्न है। नेसफील्ड उदाहरण प्रस्तुत करते हैं - ''सिर्फ कार्य, केवल कार्य ही वह आधार था, जिस पर भारत की जातियों की पूर्ण प्रथा का निर्माण हुआ।'' लेकिन उन्हें यह बताना होगा कि वह इस कथन से हमारी जानकारी में कोई इजाफा नहीं करते, जिसका सार यही है कि भारत में जातियों का आधार व्यवसाय मात्र है और यह स्वयं में एक लचर दलील है। हमें नेसफील्ड महोदय से इस सवाल का जवाब चाहिए कि यह कैसे हुआ कि विभिन्न व्यवसायी वर्ग विभिन्न जातियां बन गए? मैं अन्य नृजाति-विज्ञानियों के सिद्धांतों पर विचार करने के लिए सहर्ष प्रसन्न होता, यदि यह सही न होता कि नेसफील्ड का सिद्धांत एक अजीब सिद्धांत है।

मैं इन सिद्धांतों की आलोचना जारी रखते हुए इस विषय पर अपनी बात रखना चाहूंगा कि जिन सिद्धांतों ने जातिप्रथा को विभाजनकारी नियमों के पालन की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति बताया है, जैसा कि हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने विकास के सिद्धांत में व्याख्या की है और इसे स्वाभाविक बताया है तथा इसे 'जैविक संरचना भेद' कहकर लचर पुरातन पंथी शब्द जाल की धारणाओं को पुष्ट किया है या सुजनन-विज्ञान के आदि प्रयत्नों का समर्थन किया है, जिससे उसकी सनक का आभास विदित होता है कि जातिप्रथा अवश्यंभावी है या विधि-सम्मत है, यह जानकर निरीह वर्गों पर सजग होकर इन नियमों को आरोपित किया गया है।

यह उचित ही रहेगा कि शुरू में मैं यह बात याद दिलाऊं कि अन्य समाजों के समान भारतीय समाज भी चार वर्णों में विभाजित था, ये हैं : (1) ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग, (2) क्षत्रीय या सैनिक वर्ग, (3) वैश्य अथवा व्यापारिक वर्ग, और (4) शूद्र अथवा शिल्पकार और श्रमिक वर्ग। इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि आरंभ में यह अनिवार्य रूप से वर्ग विभाजन के अंतगर्त व्यक्ति दक्षता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था और इसीलिए वर्णों को व्यक्तियों के कार्य की परिवर्तनशीलता स्वीकार्य थी। हिन्दू इतिहास में किसी समय पुरोहित वर्ग ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया और इस तरह स्वयं सीमित प्रथा

से जातियों का सूत्रपात हुआ। दूसरे वर्ण भी समाज विभाजन के सिद्धांतानुसार अलग-अलग खेमों में बंट गए। कुछ का संख्या बल अधिक था तथा कुछ का नगण्य। वैश्य और शूद्र वर्ण मौलिक रूप से वे तत्व हैं, जिनकी जातियों की अनगिनत शाखा, प्रशाखाएं कालांतर में उभरी हैं। क्योंकि सैनिक व्यवसाय के लोग असंख्य समुदायों में सरलता से विभाजित नहीं हो सकते, इसलिए यह वर्ण सैनिकों और शासकों के लिए सुरक्षित हो गया।

समाज का यह उप-वर्गीकरण स्वाभाविक है। किंतु उपरोक्त विभाजन में अप्राकृतिक तत्व यह है कि इससे वर्णो में परिवर्तनशीलता के मार्ग अवरुद्ध हो गए और वे संकुचित बनते चले गए, जिन्होंने जातियों का रूप ले लिया। प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्हें अपने दायरे में रहने के लिए विवश किया गया और उन्होंने सजातीय विवाह का नियम अपना लिया या उन्होंने स्वेच्छा से ऐसा किया। मेरा कहना है कि इसका द्विपक्षीय उत्तर है - कुछ ने द्वार बंद कर लिए और कुछ ने दूसरे के द्वार अपने लिए बंद पाए। पहला पक्ष मनोवैज्ञानिक है और दूसरा चालाकी भरा, परंतु ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं और जाति-संरचना की संपूर्ण रीति-नीति में दोनों की व्याख्या जरूरी है।

मैं पहले मनोवैज्ञनिक व्याख्या से शुरू करता हूं। इस संबंध में हमें इस प्रश्न का उत्तर खोजना है कि औद्योगिक, धार्मिक या अन्य कारणों से वर्ग अथवा जातियों ने अपने आपको आत्म-केन्द्रित या सजातीय विवाह की प्रथा में क्यों बांध लिया? मेरा कहना है कि ब्राह्मणों के करने के कारण ऐसा हुआ। सजातीय विवाह या आत्म-केन्द्रित रहना ही हिन्दू समाज का चलन था। और क्योंकि इसकी शुरुआत ब्राह्मणों ने की थी, इसलिए गैर-ब्राह्मण वर्गों अथवा जातियों ने भी बढ़-चढ़कर इसकी नकल की और वे सजातीय विवाह प्रथा को अपनाने लगे। यहां यह खरबूजे को देखकर खरबूजे की रंग बदलने वाली कहावत चरितार्थ होती है। इसने सभी उप-विभाजनों को प्रभावित किया। इस तरह जातिप्रथा का मार्ग प्रशस्त हुआ। मनुष्य में नकलबाजी की जड़ें बहुत गहरी होती हैं। इस कारण भारत में जातिप्रथा के जन्म की यह व्याख्या पर्याप्त है। इसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि बाल्टर बागेहोट को कहना पड़ा - "हमें यह नहीं सोचना चाहिए . . . कि यह नकलबाजी स्वैच्छिक होती है या इसके पीछे कोई भावना काम कर रही होती है। इसके विपरीत, इसका जन्म मानव के अवचेतन मन में होता है और पूर्ण चेतना जागने पर उसके प्रभावों का आभास होता है। इस तरह इसके तत्काल उदय का प्रश्न नहीं है, बल्कि बाद में भी इसका अहसास नहीं होता है। दरअसल, हमारी नकल करने की प्रवृत्ति का स्रोत विश्वास होता है और ऐसे कारण हैं, जो पूर्वकालीन रूप से हमें यह विश्वास कराते हैं तथा हमें विश्वास करने से विरक्त करते है - यह हमारी प्रकृति के अस्पष्ट भाग हैं। सरल मन से नकल करने की प्रवृत्ति पर कोई संदेह नहीं है।"[3] नकल करने की इस प्रवृत्ति के विषय को गेबरिल टार्डे ने वैज्ञानिक अध्ययन का रूप दिया,

---

3. फिजिक्स एंड पालिटिक्स (भौतिकी एवं राजनीति शास्त्र) 1915, पृष्ठ 60.

जिन्होंने नकल करने की प्रवृत्ति को तीन नियमों में बांटा है। उसके तीन नियमों से एक है कि नीचे वाले ऊपर की नकल करते हैं। उन्हीं के शब्दों में – "अवसर मिलने पर दरबारी सदा अपने नायकों, अपने राजा या अधिपति की नकल करते हैं और आम जनता भी उसी प्रकार अपने सामंतों की नकल करती है।"[4] नकल के बारे में टार्डे का दूसरा नियम है कि चाहे आदर्श पात्र और अनुसरणकर्ता के बीच कितनी ही दूरी क्यों न हो, उनके अनुसार नकल करने की इच्छा और तीव्रता में कोई फर्क नहीं पड़ता। उन्हीं के शब्दों में, "जिस व्यक्ति की नकल की जाती है, वह होता है हमारे बीच सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति या समाज। दरअसल, जिन्हें हम श्रेष्ठ मानते हैं, उनसे हमारा अंतर कितना ही हो यदि हम उनसे सीधे संपर्क में आते हैं तो उनका संसर्ग अत्यंत प्रभावोत्पादक होता है। अंतर का अर्थ समाज-विज्ञान के आधार पर लिया गया है। यदि हमारा उनसे प्रतिदिन बार-बार संसर्ग होता है और उनके जैसे रंग-ढंग अपनाने का अवसर मिलता है, तो वह व्यक्ति चाहे हमसे कितने ही ऊंचे स्तर का क्यों न हो, कितना ही अपरिचित हो, फिर भी हम स्वयं को उसके निकट मानते हैं। सबसे कम दूरी पर निकटतम व्यक्ति के अनुसरण का नियम प्रकट करता है कि ऊंची हैसियत वाले व्यक्ति निरंतर सहज प्रभाव छोड़ते हैं।"[5]

हालांकि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है, परंतु अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए मैं यह बताना चाहता हूं कि कुछ जातियों की संरचना नकल से हुई। मुझे लगता है कि यह जाना जाए कि हिन्दू समाज में नकल करके जातियां बनाने की परिस्थितियां हैं या नहीं? इस नियम के अनुसार नकल करने की गुंजायश इस प्रकार है : (1) जिस स्रोत की नकल की गई है, उसकी समुदाय में प्रतिष्ठा होनी चाहिए, और (2) समुदाय के सदस्यों में प्रतिदिन और अनेक बार संपर्क होने चाहिएं। भारतीय समाज में ये परिस्थितियां मौजूद हैं, इसमें कोई शक नहीं है। ब्राह्मण अर्द्ध देवता माना जाता है और उसे अंशावतार जैसा कहा जाता है। वह विधि नियोजित करता है और सभी को उसके अनुसार ढालता है। उसकी प्रतिष्ठा असंदिग्ध है और वह शीर्ष परमानंद है। क्या शास्त्रों द्वारा प्रायोजित और पुरोहितवाद द्वारा प्रतिष्ठित ऐसा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालने में विफल हो सकता है? यदि यह कहानी सही है तो उसके बारे में यह विश्वास क्यों किया जाता है कि वह जातिप्रथा की उत्पत्ति का कारण है। यदि वह सजातीय विवाह का पालन करता है तो क्या दूसरों को उसके पद चिन्हों पर नहीं चलना चाहिए। निरीह मानवता! चाहे वह कोई दार्शनिक हो या तुच्छ गृहस्थ, उसे इस गोरखधंधे में फंसना ही पड़ता है, यह अवश्यंभावी है। अनुसरण सरल है, अविष्कार कठिन।

जातिप्रथा की संरचना में दूसरों से सीखने की प्रवृत्ति की कितनी भूमिका है, यह बताने के लिए गैर-ब्राह्मण वर्गों की प्रवृत्ति को समझना होगा, जिनके लिए आज तक इस प्रथा

---

4. लॉज आफ इमीटेशन (नकल करने के सिद्धांत), अनुवाद : ई.सी. पार्सन्स, पृ. 217.
5. तथैव, पृष्ठ 225.

के पोषक रीति-रिवाज विद्यमान हैं, हिन्दू मस्तिष्क को इन्होंने जकड़ रखा है और उन्हें किसी सहारे की जरूरत नहीं है, सिवाय सतत विश्वास भाव के, जैसे एक पोखर में जलकुंभी। एक तरीके से हिन्दू समाज में सतीप्रथा, बालिका विवाह और विधवा की यथास्थिति जातियों की हैसियत के हिसाब से विद्यमान है। परंतु इन प्रथाओं का चलन विभिन्न जातियों में असमान है, जिससे उन जातियों का भेद परिलक्षित होता है (मैं भेद शब्द का प्रयोग टार्डियन अर्थ में कर रहा हूं)। जो जातियां ब्राह्मणों के निकट हैं, वे इन तीनों प्रथाओं की नकल का कड़ाई से पालन करती हैं। दूसरे जो इनसे कुछ कम निकट हैं, उनमें केवल वैधव्य और बालिका विवाह प्रचलित हैं; अन्य जो कुछ और दूरी पर हैं, उनमें केवल बालिका विवाह प्रमुख है; तथा सबसे अधिक दूरी वाले लोग जातिप्रथा के सिद्धांत का अनुसरण करते हैं। मैं निःसंदेह कह सकता हूं कि यह अधूरी नकल इसी प्रकार है, जैसे टार्डे ने 'दूरी' बताई है। आंशिक रूप से यह प्रथाओं का पाशविक लक्षण है। यह स्थिति टार्डे के नियम का पूर्ण उदाहरण है और इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि भारत में जातिप्रथा निम्न वर्ग द्वारा उच्च वर्ग की नकल का प्रतिफल है। इस स्थान पर मैं अपने ही पूर्वोक्त कथन की पुनरावृत्ति करना चाहूंगा, जो आपके सम्मुख अनायास और बिना समर्थन के उपस्थित हुआ होगा। मैने कहा था कि इन विचाराधीन तीन प्रथाओं के बल पर ब्राह्मणों ने जातिप्रथा की नींव डाली। उस विचार के पीछे मेरा तर्क यही था कि इन प्रथाओं को अन्य वर्गों ने वहीं से सीखा है। गैर-ब्राह्मण जातियों में इन रिवाजों की ब्राह्मणों जैसी नकल-प्रवृत्ति की भूमिका पर प्रकाश डालने के बाद मेरा कहना है कि ये प्रवृत्ति उनमें आज भी मौजूद है, चाहे वे अपनी इस आदत से परिचित भी न हों। यदि इन वर्गों ने किसी से सीखा है तो इसका अर्थ है कि समाज में उन प्रथाओं का किसी न किसी वर्ग में प्रचलन रहा होगा और उसका दर्जा काफी ऊंचा हुआ होगा, तभी वह दूसरों का आदर्श हो सकता है। परंतु किसी ईश्वरवादी समाज में कोई आदर्श नहीं हो सकता, सिर्फ ईश्वर का सेवक हो सकता है।

इसमें उस कहानी की पूर्णाहुति हो जाती है कि जो निर्बल थे और जिन्होंने अपने को अलग कर लिया। हमें अब यह देखना है कि दूसरों ने अपने लिए उनके दरवाजे बंद देखकर अपना घर क्यों बंद कर लिया। इसे मैं जातिप्रथा के निर्माण की क्रियाविधि की प्रक्रिया मानता हूं। यही कारीगरी थी, क्योंकि ऐसा अवश्यंभावी होता है। यही दृष्टिकोण और मानसिकता है, जिसके कारण हमारे पूर्ववर्ती इस विषय की व्याख्या करने से कतरा गए, क्योंकि उन्होंने जाति को ही एक अलग इकाई मान लिया, जब कि वह जातिप्रथा का ही एक अंग होती है। इस चूक या इस पैनी दृष्टि के अभाव के कारण ही सही अवधारणा बनने में मदद नहीं मिली है। अतः सही व्याख्या करने की आवश्यकता है। एक टिप्पणी के जरिए मैं अपनी व्याख्या प्रस्तुत करूंगा, जिसे कृपया आप सदा ध्यान में रखें। वह टिप्पणी इस प्रकार है: जाति अपने आपमें कुछ नहीं है, उसका अस्तित्व तभी होता है, जब वह सारी जातियों में स्वयं भी एक हिस्सा हो। दरअसल, जाति कुछ है ही नहीं, बल्कि जातिप्रथा है। मैं इसका उदाहरण

देता हूं, अपने लिए जाति-संरचना करते समय ब्राह्मणों ने ब्राह्मण इतर जातियां बना डालीं - अपने तरीके से मैं यह कहूंगा कि अपने आपको एक बाड़े में बंद करके दूसरों को बाहर रहने के लिए विवश किया। एक दूसरे उदाहरण से मैं अपनी बात स्पष्ट करूंगा। भारत को संपूर्ण रूप में देखें, जहां विभिन्न नामों से विभिन्न समुदाय हैं और सबको अपने समुदाय से लगाव है, जैसे हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई और पारसी। लेकिन हिन्दुओं को छोड़कर शेष में आंतरिक जातिभेद नहीं है। परंतु एक-दूसरे के साथ व्यवहार में उनमें अलग-अलग जातियां हैं। यदि पहले चार समुदाय अपने को अलग कर लेंगे तो पारसी अपने आप ही बाहर रह जाएंगे। परंतु परोक्ष रूप से वे भी आपस में अलग समुदाय बना लेंगे। सांकेतिक रूप से कहना चाहता हूं कि यदि 'क' सजातीय विवाह पद्धति में सीमित रहना चाहता है, तो निश्चित रूप से 'ख' को भी विवश होकर अपने में ही सिमट कर रह जाना पड़ेगा।

अब यही बात हम हिन्दू समाज पर भी लागू करें, आपके सामने एक व्याख्या पहले से मौजूद है कि निजद्वैतवाद के परिणाम स्वरूप जो प्रवृत्ति इस समाज को विरासत में मिली है, वह है पृथकतावाद। मेरे इस नए विचार से नैतिकतावादियों की भृकुटि चढ़ सकती हैं, जातपांत की धार्मिक या सामाजिक संहिता जाति विशिष्ट के लिए असाध्य हो सकती है। किसी जाति के उद्दंड सदस्यों को यह आंशका होती है कि उन्हें मनचाही जाति में शामिल होने का विकल्प न देकर, जाति-बहिष्कृत कर दिया गया है। जाति के नियम बहुत कठोर होते हैं और उनके उल्लंघन की माप का कोई पैमाना नहीं होता है। नई विचारधारा एक नई जाति बना देती है, क्योंकि पुरातन जातियां नवीनता को सह नहीं पातीं। अनिष्टकारी विचारकों को गुरु मानकर प्रतिष्ठित किया जाता है। जो अवैध प्रेम संबंधों के दोषी होते हैं तो वे भी उसी दंड के भागी होंगे। पहली श्रेणी उनकी है जो धार्मिक समुदाय से जाति बनाते हैं, दूसरे वे हैं जो संकर जाति बनाते हैं। अपनी संहिता का उल्लंघन करने वालों को दंड देने में कोई सहानुभूति नहीं अपनाई जाए। यह दंड होता है, हुक्का-पानी बंद और इसकी परणति होती है - एक पृथक जाति की रचना। हिन्दू मानसिकता में यह कमियां नहीं होतीं कि हुक्का-पानी बंद के भागी अलग होकर एक अलग जाति बना लें। इसके विपरीत, वे लोग नतमस्तक होकर उसी जाति में रहकर बने रहना चाहते हैं (बशर्ते कि उन्हें इसकी इजाजत दे दी जाए) परंतु जातियां सिमटी हुई इकाइयां हैं और जानबूझकर उनमें यह चेतना होती है कि बहिष्कृत लोग एक अलग जाति बना लें। इसका विधान बड़ा निर्दयी है और इसी बल के अनुपालन का परिणाम है कि उन्हें अपने में सिमटना पड़ता है, क्योंकि अन्य वर्गों ने अपने को ही परिधि में करके अन्य वर्गों को बाहर बंद कर दिया है, जिसका परिणाम है कि नए समुदाय (जातिगत नियमों के निंदनीय आधार पर निर्मित समुदाय) यंत्रवत् विधि द्वारा आश्चर्यजनक बहुलता के साथ जातियों में बराबर परिवर्तन किए गए हैं। भारत में जाति-संरचना की प्रक्रिया की यह दूसरी कहानी बताई गई है।

अत: मुख्य सिद्धांत का समापन करते हुए मैं कहना चाहता हूं कि जातिप्रथा का अध्ययन करने वालों ने कई गलतियां की हैं, जिन्होंने उनके अनुसंधान को पथभ्रष्ट कर दिया। जातिप्रथा का अध्ययन करने वाले यूरोपीयन विद्वानों ने व्यर्थ ही इस बात पर जोर दिया है कि जातिप्रथा रंग के आधार पर बनाई गई, क्योंकि वे स्वयं रंगभेद के प्रति पूर्वाग्रही हैं। उन्होंने जाति-समस्या का मुख्य तत्व यही भेद माना है। परंतु यह सत्य नहीं है। डा. केतकर ने सही कहा है कि "सभी राजा, चाहे वे तथाकथित आर्य थे अथवा द्रविड़, आर्य कहलाते थे। जब तक विदेशियों ने नहीं कहा, भारत के लोगों को इससे कोई सरोकार नहीं रहा कि कोई कबीला या कुटुम्ब आर्य है या द्रविड़। चमड़ी का रंग इस देश में जाति का मानदंड नहीं रहा।"[6] वे अपनी व्याख्या का विवरण देते रहे और इसी बात पर सिर पटकते रहे कि जातिप्रथा के उद्‌भव का यही सिद्धांत है। इस देश में व्यावसायिक और धार्मिक आदि जातियां हैं, यह सत्य है। परंतु किसी भी हालत में उनका सिद्धांत जातियों के मूल से मेल नहीं खाता। हमें यह पता लगाना है कि व्यावसायिक वर्ग जातियां क्यों हैं? इस प्रश्न को कभी छुआ ही नहीं गया। अंतिम परिणाम यह है कि उन्होंने जाति-समस्या को बहुत आसान करके समझा, जैसे वे चुटकी बजाते ही बन गई हों। इसके विपरीत जैसा मैंने कहा है यह मान्य नहीं है, क्योंकि इस प्रथा में बहुत जटिलताएं हैं। यह सत्य है कि जातिप्रथा की जड़ें आस्थाएं हैं, परंतु आस्थाओं के जाति संरचना में योगदान के पहले ही ये मौजूद थीं और दृढ़ हो चुकी थीं। जाति-समस्या के संबंध में मेरे अध्ययन के चार पक्ष हैं : (1) हिन्दू जनसंख्या में विविध तत्वों के सम्मिश्रण के बावजूद इसमें दृढ़ सांस्कृतिक एकता है, (2) जातियां इस विराट सांस्कृतिक इकाई अंग हैं, (3) शुरू में केवल एक ही जाति थी, और (4) इन्हीं वर्गों में देखा-देखी या बहिष्कार से विभिन्न जातियां बन गईं।

आज भारत में जाति-समस्या ने एक दिलचस्प मोड़ ले लिया है, क्योंकि इस अप्राकृतिक विधान को तिलांजलि देने के लिए सतत प्रयत्न हो रहे हैं। सुधार के ये प्रयत्न जातियों के मूल से संबंधित विवादों से उत्पन्न हुए हैं कि क्या यह प्रथा सर्वोच्य स्तर के आदेशों से हुई या यह विशिष्ट परिस्थितियों में मानव समाज के सहज विकास का प्रतिफल है। जो व्यक्ति बाद के विचार के पक्षधर हैं, मुझे आशा है कि उन्हें इस प्रबंध से कुछ विचार सामग्री मिलेगी। इस विषय के व्यावहारिक महत्व के साथ ही जातिप्रथा एक सर्वव्यापी व्यवस्था है और इसका सैद्धांतिक आधार जानने की उत्कंठा मुझमें जगी, उसी के परिणामस्वरूप मैंने अपने विचार आप लोगों के सम्मुख उपस्थित किए, जिन्हें मैं सार्थक मानता हूं और वे बातें आपके समक्ष रखीं, जिन पर यह व्यवस्था टिकी है। मैं इतना हठधर्मी भी नहीं हूं कि यह सोचूं कि मेरा कथन ब्रह्म वाक्य है या इस विचार-विमर्श में योगदान से बढ़कर कुछ है। मैं सोचता हूं कि धारा का प्रवाह गलत दिशा में मोड़ दिया गया है और इस आलेख का प्राथमिक उद्देश्य यह

6. हिस्ट्री आफ कास्ट, पृ. 82

बताना है कि अनुसंधान का सही मार्ग कौन सा है, ताकि एक सत्य उजागर हो। हमें इस विषय के विश्लेषण में पक्षपात रहित रहना है। भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए, बल्कि इस विषय पर वैज्ञानिक और निष्पक्ष रूप से विचार किया जाए। मैं इस बात से प्रसन्न हूं कि मेरा दृष्टिकोण सही दिशा में है, मुद्दे पर जो असहमति है वह तार्किक है, फिर भी कुछ बातों पर सदा असहमति बनी ही रह सकती है, अंत में जहां मुझे इस बात पर गर्व है कि मैने जातिप्रथा के बारे में एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। यदि यह आधारहीन लगेगा तो मैं इसे तिलांजलि दे दूंगा।

2

जातिप्रथा - उन्मूलन
और
महात्मा गांधी को दिया गया उत्तर

सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में जानो

\- बुद्ध

जो तर्क नही करेगा, वह धर्मांध है
जो तर्क नहीं कर सकता, वह मूर्ख है
जो तर्क करने का साहस नहीं करता, वह दास है

\- एच. ड्रुमोंड

1944 के तीसरे संस्करण से मुद्रित

जातिप्रथा-उन्मूलन

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

लाहौर के जातपांत तोड़क मंडल के लिए जो भाषण मैंने तैयार किया था, उसका हिन्दू जनता द्वारा अपेक्षाकृत भारी स्वागत किया गया। यह भाषण मैंने मुख्य रूप से इन्हीं लोगों के लिए तैयार किया था। एक हजार पांच सौ प्रतियों का अंग्रेजी संस्करण इसके प्रकाशन के दो महीनों के भीतर ही समाप्त हो गया। इसका गुजराती और तमिल में अनुवाद किया गया। अब इस भाषण का मराठी, हिन्दी, पंजाबी और मलयालम में अनुवाद किया जा रहा है। अंग्रेजी पाठ की मांग अभी भी निरंतर बनी हुई है। इसलिए इस मांग को पूरा करने के लिए दूसरा संस्करण निकालना आवश्यक हो गया है। इतिहास की दृष्टि और अनुरोध को ध्यान में रखते हुए मैंने निबंध के मौलिक स्वरूप, अर्थात् भाषण के स्वरूप को यथावत् बनाए रखा, हालांकि मुझसे कहा गया था कि मैं इसे सीधी वर्णनात्मक शैली में नया रूप दूं। इस संस्करण में मैंने दो परिशिष्ट जोड़े हैं। परिशिष्ट I में मैंने 'हरिजन' में अपने भाषण की समीक्षा के रूप में श्री गांधी द्वारा लिखे गए दो लेख और जातपांत तोड़क मंडल के एक सदस्य श्री संत राम को लिखा गया उनका पत्र संकलित किया है। परिशिष्ट II में मैंने परिशिष्ट I में संकलित श्री गांधी के लेखों के उत्तर में अपने विचारों को प्रकाशित किया है। श्री गांधी के अलावा अन्य अनेक लोगों ने मेरे उन विचारों की तीखी आलोचना की है जो मैंने अपने भाषण में व्यक्त किए थे। किंतु मैंने यह महसूस किया है कि इस प्रकार की प्रतिकूल टिप्पणियों पर ध्यान देते हुए मैं अपने को केवल श्री गांधी तक ही सीमित रखूं। मेरे ऐसा करने का कारण यह नहीं है कि इनकी बात में इतना वजन है कि इसका उत्तर दिया जाना चाहिए, बल्कि कारण यह है कि अनेक हिन्दुओं की दृष्टि में श्री गांधी एक आप्त पुरुष हैं और इतने महान् हैं कि जब वे किसी बात पर कुछ कहने लगते हैं तो यह आशा की जाती है कि सब बहस खत्म हो जानी चाहिए और इस पर किसी को कुछ भी नहीं बोलना चाहिए, किंतु संसार ऐसे विद्रोहियों का ऋणी है, जिन्होंने धर्म गुरुओं के मुंह पर ही तर्क करने का साहस किया है और जोर देकर कहा है कि आप जो कहते हैं, वही सही नहीं है। मुझे ऐसा श्रेय नहीं चाहिए, जो प्रत्येक प्रगतिशील समाज को अपने विद्रोहियों को देना चाहिए। यदि मैं हिन्दुओं को इस बात का अहसास करा दूं कि वे भारत के ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें दोष व्याप्त हैं और उनके

दोषों से अन्य भारतीयों की खुशहाली और प्रगति को खतरा उत्पन्न हो रहा है, तो मुझे संतोष होगा।

भीमराव अम्बेडकर

तीसरे संस्करण की प्रस्तावना

इस निबंध का दूसरा संस्करण 1937 में प्रकाशित हुआ था और बहुत थोड़े ही समय में वह बिक गया। काफी समय से इसके नए संस्करण की मांग आ रही थी। मेरी मंशा थी कि मैं इस निबंध को नया रूप दूं और इसमें अपने एक अन्य निबंध 'भारत में जातियां, उनका उद्गम और उनकी संरचना' को भी शामिल कर दूं। मेरा यह निबंध 'इंडियन एंटीक्वेरी' जरनल के मई 1917 के अंक में प्रकाशित हुआ था। किंतु मुझे समय नहीं मिल सका और ऐसा करने की संभावना भी बहुत कम है और चूंकि जनता भी लगातार इसकी मांग कर रही है, इसलिए प्रस्तुत संस्करण को इसके दूसरे संस्करण के मात्र पुनर्मुद्रण के रूप में ही प्रकाशित करके ही मुझे संतोष है।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि यह निबंध इतना अधिक लोकप्रिय रहा। मुझे आशा है कि यह अपने अपेक्षित उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा।

भीमराव अम्बेडकर

22, पृथ्वीराज रोड,
नई दिल्ली,
1 दिसंबर 1944.

आमुख

12 दिसंबर 1935 को मुझे जातपांत तोड़क मंडल के मंत्री श्री संत राम का पत्र प्राप्त हुआ, जो इस प्रकार है :

प्रिय डाक्टर साहेब,

आपके 5 दिसंबर के कृपा पत्र के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। आपकी आज्ञा के बिना मैंने इसे प्रेस को दे दिया है, इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूं। मैं समझता हूं कि इसके प्रचारित करने में कोई हानि नहीं है। आप एक महान चिंतक हैं और मेरा यह सुविचारित मत है कि आपने जाति-समस्या का जितनी गहराई से अध्ययन किया है, उतना किसी और ने नहीं किया। मुझे स्वयं और हमारे मंडल को हमेशा ही आपके विचारों से लाभ पहुंचा है। मैंने अनेक बार 'क्रांति' में इसका प्रचार और स्पष्टीकरण किया है और अनेक सम्मेलनों में इस पर भाषण भी दिए हैं। मैं आपके इस नए सूत्र, अर्थात् 'जिन आर्थिक विश्वासों पर जातिप्रथा की नींव खड़ी है, उनके अस्तित्व की समाप्ति के बिना जातपांत को तोड़ना संभव नहीं होगा' की व्याख्या को पढ़ने का बहुत उत्सुक हूं। कृपया अपनी सुविधानुसार यथाशीघ्र विस्तार से इसकी व्याख्या करें, ताकि हम इस विचार का प्रेस और मंचों से समर्थन कर सकें। फिलहाल, मैं इस संबंध में पूरी तरह स्पष्ट नहीं हूं।

* * * * *

हमारी प्रबंधकारिणी समिति का आग्रह है कि आप हमारे वार्षिक सम्मेलन का अध्यक्ष बनना स्वीकार करें। हम आपकी सुविधानुसार इस सम्मेलन की तारीखों में परिवर्तन कर सकते हैं। पंजाब के स्वतंत्र विचारों वाले हरिजनों की आपसे मिलने और अपनी योजनाओं पर आपसे विचार-विमर्श करने की बड़ी इच्छा है। अतः यदि आप लाहौर आकर सम्मेलन की अध्यक्षता करने की कृपा करें तो दो काम हो जाएंगे।

हम सभी विचारधाराओं के हरिजन नेताओं को आमंत्रित करेंगे और इससे आपको उन्हें अपने विचारों से अवगत कराने का अवसर मिल सकेगा।

मंडल ने अपने सहायक मंत्री श्री इन्द्र सिंह को क्रिसमस के अवसर पर बंबई में आपसे मिलने और सारी स्थिति पर आपसे चर्चा करने के लिए नियुक्त किया है, जिससे आपको हमारे अनुरोध को स्वीकार करने के लिए राजी किया जा सके।

* * * * *

मुझे बताया गया था कि जातपांत तोड़क मंडल सवर्ण हिन्दू समाज सुधारकों का एक संगठन है, जिसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दुओं में जातिप्रथा का उन्मूलन करना है। सैद्धांतिक रूप से मैं ऐसे किसी आंदोलन में भाग लेना पसंद नहीं करता, जो सवर्ण हिन्दुओं द्वारा चलाया गया हो। सामाजिक सुधार के प्रति उनका रवैया मुझसे इतना भिन्न है कि मेरे लिए उनके साथ काम करना कठिन है। वास्तव में, मेरे और उनके विचारों में विभिन्नताओं के कारण मुझे उनके साथ काम करना अनुकूल नहीं लगता। इसलिए जब मंडल ने पहली बार मुझसे अध्यक्षता करने का अनुरोध किया था तो मैंने उसे अस्वीकार कर दिया था। फिर भी, मंडल ने इसे मेरी अस्वीकृति नहीं माना और अपने एक सदस्य को मुझ पर निमंत्रण स्वीकार करने के लिए दबाव डालने के उद्देश्य से बंबई भेजा। अंत में, मैं अध्यक्षता करने के लिए तैयार हो गया। वार्षिक सम्मेलन मंडल के मुख्यालय लाहौर में होना था। सम्मेलन का आयोजन ईस्टर के अवसर पर होना था, किंतु बाद में इसे 1936 के मई मास के मध्य तक के लिए स्थगित कर दिया गया। मंडल की स्वागत समिति ने अब इस सम्मेलन को रद्द कर दिया है। इस सम्मेलन के रद्द होने की सूचना मेरे अध्यक्षीय भाषण के छप जाने के बहुत बाद में आई। इस भाषण की प्रतियां अब मेरे पास पड़ी हैं। चूंकि मुझे अध्यक्षीय पद से यह भाषण देने का अवसर नहीं मिला, इसलिए जनता को जातिप्रथा से उत्पन्न समस्याओं पर मेरे विचारों को जानने का अवसर नहीं मिल सका। जनता मेरे विचारों को जान सके और भाषण की जो छपी प्रतियां मेरे पास पड़ी हैं उनका सदुपयोग हो सके, इस उद्देश्य से मैंने छपी प्रतियों को बाजार में बेच देने का फैसला किया है। संलग्न पृष्ठों में उसी भाषण का मूल पाठ है।

जनता को यह जानने की जिज्ञासा होगी कि किन कारणों से सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में मेरी नियुक्ति को रद्द किया गया। शुरू में भाषण की छपाई को लेकर विवाद खड़ा हुआ। मैं चाहता था कि भाषण बंबई में छपे। मंडल की यह इच्छा थी कि यह भाषण लाहौर में छपे, क्योंकि वहां छापने में बचत होगी। मैं इस पर सहमत नहीं हुआ और मैंने इसे बंबई में ही छापे जाने का आग्रह किया। मेरे प्रस्ताव पर सहमति बजाए, मुझे एक पत्र प्राप्त हुआ, जिस पर मंडल के कई सदस्यों के हस्ताक्षर थे। इसमें से आगे दिए गए उद्धरण मैं यहां प्रस्तुत करता हूं :

27-3-36

सम्माननीय डाक्टर जी,

श्री संत राम को लिखे गए इस मास की 24 तारीख के आपके पत्र को हमें दिखाया गया है। हमें इसे पढ़कर थोड़ी निराशा हुई। यहां जो स्थिति उत्पन्न हुई है, शायद आप इससे पूरी तरह अवगत नहीं हैं। पंजाब के प्राय: सभी हिन्दू आपको इस प्रांत में आंमत्रित किए जाने के विरुद्ध हैं। जातपांत तोड़क मंडल की बड़ी तीखी आलोचना हुई है और सभी ओर

से झाड़-फटकार मिली है। सभी हिन्दू नेताओं ने जिनमें भाई परमानंद, एम.एल.ए. (हिन्दू महासभा के पूर्व अध्यक्ष), महात्मा हंसराज, डा. गोकल चंद नारंग (स्थानीय स्वशासन मंत्री), राजा नरेन्द्र नाथ, एम.एल.सी., आदि शामिल हैं, मंडल के इस निर्णय से अपने आपको अलग कर लिया है।

इस सबके बावजूद, जातपांत तोड़क मंडल, जिसके प्रमुख नेता श्री संत राम हैं, के सभी सदस्य किसी भी स्थिति में एकजुट रहकर चलने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हैं और अध्यक्ष-पद पर आपकी नियुक्ति के विचार को नहीं छोड़ेंगे। मंडल की बदनामी हुई है।

* * * * *

इन परिस्थितियों में आपका कर्तव्य हो जाता है कि आप मंडल के साथ सहयोग करें। ऐसे समय में जब उन्हें हिन्दुओं की ओर से बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, आप भी उनकी परेशानियों को बढ़ाएं तो यह बहुत ही दुभाग्यपूर्ण होगा।

हमें आशा है कि आप मामले पर विचार करेंगे और वही करेंगे, जिसमें हम सभी की भलाई हो।

* * * * *

इस पत्र ने मुझे भारी परेशानी में डाल दिया है। मैं नहीं समझ पाया कि मंडल मेरे भाषण की छपाई के मामले में कुछ रुपयों की खातिर मुझे क्यों रुष्ट कर रहा है। मुझे इस पर भी विश्वास नहीं होता कि सर गोकल चंद नारंग जैसे व्यक्तियों ने मेरे अध्यक्ष चुने जाने के विरोध स्वरूप त्यागपत्र दे दिया है, क्योंकि मुझे सर गोकल चंद का निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ है।

5, मोन्टगुमरी रोड,
लाहौर, 7-2-36

प्रिय डा. अम्बेडकर,

मुझे जातपांत तोड़क मंडल के कार्यकर्ताओं से यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आपने ईस्टर की छुट्टियों के दौरान लाहौर में होने वाले उनके आगामी वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करना स्वीकार कर लिया है। यदि आप लाहौर में अपने प्रवास के दौरान मेरे यहां ठहरें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। शेष मिलने पर।

आपका,
गोकल चंद नारंग

सच्चाई चाहे जो कुछ भी हो, मैं इस दबाव के आगे नहीं झुका। जब मंडल ने देखा कि मैं अपना भाषण बंबई में ही छपवाने के लिए बराबर आग्रह कर रहा हूं तो मंडल

ने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करने की बजाए मुझे तार द्वारा सूचित किया कि वे श्री हर भगवान को 'इस मामले पर व्यक्तिगत रूप से बात करने' के लिए बंबई भेज रहे हैं। श्री हर भगवान 9 अप्रैल को बंबई आए।

जब मैं श्री हर भगवान से मिला तो मैंने देखा कि वह इस मुद्दे पर कुछ भी नहीं कहना चाहते हैं। वास्तव में, उन्हें भाषण की छपाई से कोई लेना-देना नहीं था, चाहे वह बंबई में छपे या लाहौर में और इसीलिए विचार-विमर्श के दौरान इस बात का कोई उल्लेख भी नहीं किया। हां वह यह जानने के लिए उत्सुक थे कि भाषण की विषय-वस्तु क्या है। इससे मुझे विश्वास हो गया कि भाषण के लाहौर में छपवाने से मंडल का उद्देश्य धन बचाना नहीं, अपितु भाषण की विषय-वस्तु को जानना था। मैंने उन्हें भाषण की एक प्रति दे दी। वह भाषण के कुछ अंशों को देखकर प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने लाहौर पहुंच कर मुझे जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है :

लाहौर,
14 अप्रैल 1936

प्रिय डाक्टर साहेब,

मैं 12 तारीख को बंबई से यहां लौटा हूं और तभी से मैं लगातार रेल में बिताई 5-6 रातों तक सो न सकने के कारण अस्वस्थ हूं। यहां पहुंचने पर मुझे पता चला कि आप अमृतसर आए थे। यदि मैं बाहर आने-जाने के लिए ठीक रहता तो मैं वहां आप से मिलता। मैंने आपका भाषण अनुवाद के लिए श्री संत राम को दे दिया है। उन्होंने इसे बहुत पसंद किया है, किंतु उन्हें विश्वास नहीं है कि 25 तारीख से पहले इसे छापे जाने के लिए वह इसका अनुवाद कर सकेंगे। कुछ भी हो, इसका व्यापक प्रचार होगा और हमें विश्वास है कि यह सोए हुए हिन्दुओं को जगाएगा।

बंबई में जिस लेखांश की ओर मैंने संकेत किया था, उसे हमारे कुछ मित्रों ने पढ़ा। इस पर उनकी कुछ शंकाएं हैं और हममें से जो लोग बिना किसी अप्रिय घटना के सम्मेलन को समाप्त करना चाहते हैं, उनकी इच्छा है कि कम से कम वेद शब्द को फिलहाल छोड़ दिया जाए। इसका निर्णय मैं आप पर छोड़ता हूं। फिर भी, मुझे आशा है कि आप अपने अंतिम पैरे में इस बात को स्पष्ट करेंगे कि भाषण में व्याप्त विचार आपके अपने हैं और मंडल उनके लिए जिम्मेदार नहीं है। मुझे आशा है कि मेरी इस बात का आप अन्यथा न लेंगे और हमें भाषण की एक हजार प्रतियां उपलब्ध करा देंगे। हम अवश्य ही इनकी कीमत आपको चुका देंगे। इस आशय का एक तार आज मैंने आपको भेजा है। सौ रुपये का एक चैक इस पत्र के साथ संलग्न है। कृपया इसकी पावती भेजें और हमें यथासमय अपने बिल भी भेज दें।

मैंने स्वागत समिति की एक बैठक बुलाई है। मैं उसके निर्णय से तत्काल आपको सूचित करूंगा। आपने भाषण को तैयार करने में जो भारी कष्ट उठाया है, उसके लिए कृपया मेरा

हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें। आपकी कृतज्ञता के लिए हम निश्चय ही बहुत ऋणी हैं।

आपका

हर भगवान

पुनश्च:, कृपया भाषण के छपते ही तत्काल उसकी प्रतियां यात्री गाड़ी से भेज दें, ताकि उन प्रतियों को प्रकाशन के लिए समाचार-पत्रों को भेज दिया जाए।

तदनुसार मैंने एक हजार प्रतियां छापने के आदेश के साथ अपनी पांडुलिपि मुद्रक को सौंप दी। आठ दिन के बाद मुझे श्री हर भगवान का एक और पत्र प्राप्त हुआ, जिसकी प्रतिलिपि नीचे प्रस्तुत है :

लाहौर,

22.4.36

प्रिय डाक्टर अम्बेडकर,

हमें आपका तार और पत्र प्राप्त हुआ। इसके लिए कृपया हमारा धन्यवाद स्वीकार करें। आपकी इच्छानुसार हमने सम्मेलन को फिर स्थगित कर दिया है, किंतु हम महसूस करते हैं कि इसे 25 तथा 26 तारीख को आयोजित करना अधिक बेहतर होगा, क्योंकि पंजाब में मौसम दिन-प्रतिदिन गर्म होता जा रहा है। मई के मध्य में यह बहुत गर्म हो जाएगा और दिन के समय बैठकें करना बहुत सुखद और आरामदायक नहीं रहेगा। फिर भी, यदि यह सम्मेलन मई के मध्य में होता है तो हम इसे यथासंभव आरामदायक बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे।

किंतु एक बात है, जिसे हम आपकी जानकारी में लाने के लिए विवश हैं। आपको याद होगा कि जब मैंने धर्म-परिवर्तन के विषय पर आपकी घोषणा के संबंध में अपने कुछ लोगों द्वारा उठाई आशंकाओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया था तो आपने बताया था कि यह बात निःसंदेह मंडल के कार्यक्षेत्र से बाहर है और उसके संबंध में आपका हमारे मंच से कुछ भी कहने का इरादा नहीं है। इसके साथ ही जब आपने भाषण की पांडुलिपि मुझे दी तो आपने आश्वासन दिया था कि वही आपके भाषण का मुख्य अंश है और आप केवल दो या तीन अंतिम पैरे उसमें जोड़ना चाहते हैं। आपके भाषण की दूसरी किस्त मिलने पर यह देखकर हम दंग रह गए कि यह भाषण इतना लंबा हो जाएगा कि बहुत कम लोग ही इस सारे भाषण को पढ़ना चाहेंगे। इसके अलावा, आपने अपने भाषण में एक से अधिक बार यह कहा है कि मैंने हिन्दू समाज से अलग होने का निर्णय कर लिया है और एक हिन्दू के रूप में यह मेरा अंतिम भाषण है। आपने अनावश्यक रूप से वेदों और हिन्दुओं के अन्य धार्मिक ग्रथों की नैतिकता तथा उनके औचित्य पर प्रहार किया है और हिन्दू धर्म के तकनीकी पक्ष पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है, जिनका विवादास्पद समस्या से कतई कोई संबंध नहीं

है। इससे कुछ परिच्छेद तो असंगत और अप्रासंगिक हो गए हैं। यदि आप अपने भाषण को उसी अंश तक सीमित रखते, जो आपने मुझे दिया था या अगर उसमें कोई वृद्धि करना आवश्यक ही था तो वह भी वहीं तक सीमित रहती, जो आपने ब्राह्मणवाद आदि पर लिखा है, तो इससे हमे बड़ी प्रसन्नता होती। अंतिम अंश जो हिन्दू धर्म के पूर्ण उन्मूलन के संबंध में है और हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों की नैतिकता पर संदेह व्यक्त करता है तथा हिन्दू समाज को छोड़ देने के आपके इरादे की ओर संकेत करता है, मुझे संगत प्रतीत नहीं होता।

अत: मैं सम्मेलन के लिए उत्तरदायी लोगों की ओर से बड़ी विनम्रता के साथ आपसे अनुरोध करता हूं कि आप ऊपर संदर्भित परिच्छेदों को छोड़ दें और भाषण को वहीं समाप्त कर दें, जहां तक आपने मुझे दिया था, या आप चाहें तो ब्राह्मणवाद तद; कुछ पैरे उसमें जोड़ दें। हम नहीं समझते कि भाषण को अनावश्यक रूप से उत्तेजनात्मक और कष्टकारी बनाने में कोई बुद्धिमानी है। हममें से कई लोग आपकी भावनाओं का समर्थन करते हैं और हिन्दू धर्म के पुनर्निर्माण हेतु आपका मार्गदर्शन चाहते हैं। यदि आप अपने विचारों के लोगों को आपस में मिलाने का निर्णय करते तो बड़ी संख्या में लोग आपके सुधारवादी कार्यकर्ताओं में शामिल हो जाते।

वास्तव में, हमने सोचा था कि आप जातिप्रथा की बुराइयों को समाप्त करने में हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे, विशेषकर जब आपने इस विषय का इतना गहन अध्ययन किया है। हमारा विचार था कि आप एक क्रांति लाकर इस दिशा में किए जा रहे महान प्रयासों के केन्द्र बिंदु बनकर हमारे हाथ मजबूत करेंगे, किंतु आपने घोषणा जिस रूप में की है, उसके दोहराए जाने से इसकी शक्ति समाप्त हो जाती है और यह एक घिसी-पिटी चीज बनकर रह जाती है। ऐसी परिस्थितियों में मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप सारे मामले पर फिर से विचार करें और यह कहकर अपने भाषण को अधिक प्रभावी बनाएं कि 'यदि हिन्दू लोग जातिप्रथा को समाप्त करने की दिशा में ईमानदारी से काम करने के इच्छुक हैं, चाहे उन्हें इसके लिए अपने सगे-संबंधियों और धार्मिक मान्यताओं को ही तिलांजलि क्यों न देनी पड़े, तो मुझे इस कार्य की अगुवाई करने में प्रसन्नता होगी।' यदि आप ऐसा करते हैं तो मुझे आशा है कि आपको ऐसे प्रयास में पंजाब से तत्काल अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त होगी।

यदि आप ऐसे समय पर हमारी सहायता करेंगे तो मैं आपका आभारी रहूंगा, क्योंकि हम पहले ही भारी खर्च कर चुके हैं और बड़े असमंजस की स्थिति में हैं। कृपया हमें वापसी डाक से सूचित करें कि क्या आपने भाषण को उपर्युक्तानुसार सीमित करने की कृपा की है। यदि आप फिर भी भाषण को संपूर्ण रूप में छापने का आग्रह करते हैं, तो हमें खेद है कि हमारे लिए सम्मेलन का आयोजन करना संभव और कदाचित उपयुक्त नहीं होगा और हम चाहेंगे कि इसे अनिश्चित-काल के लिए स्थगित कर दिया जाए। हालांकि ऐसा करने में हमें लोगों की सद्भावना से हाथ धोना पड़ेगा, क्योंकि यह सम्मेलन बार-बार स्थगित करना पड़ा है। फिर भी, हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि आपने जातिप्रथा पर ऐसा बढ़िया

प्रबंध लिखकर हमारे हृदय में एक स्थान बना लिया है। मैं कह सकता हूं कि यह अब तक लिखे गए अन्य सभी शोध प्रबंधों से बढ़कर है और यह एक मूल्यवान विरासत के रूप में सिद्ध होगा। आपने इसके तैयार करने में जो कष्ट उठाया है, उसके लिए हम सदा आपके ऋणी रहेंगे।

आपकी कृपा के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।

शुभकामनाओं सहित,

आपका

हर भगवान

इस पत्र के उत्तर में मैंने जो उत्तर भेजा, वह इस प्रकार है :

27 अप्रैल 1936

प्रिय श्री हर भगवान,

मुझे आपका 22 अप्रैल का पत्र प्राप्त हुआ। मुझे खेद है कि यदि मैंने अपने भाषण को संपूर्ण रूप में छापे जाने का आग्रह किया तो जातपांत तोड़क मंडल की स्वागत समिति 'सम्मेलन को अनिश्चित-काल के लिए स्थगित कर देगी'। इसके उत्तर में मैं सूचित करना चाहता हूं कि यदि मंडल मेरे भाषण में अपनी परिस्थितियों के अनुकूल काट-छांट करने पर जोर देगा तो मैं भी सम्मेलन को रद्द कराना चाहूंगा। मैं अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग करना पसंद नहीं करता। आप मेरे इस निर्णय को पसंद नहीं करेंगे, किंतु मैं सम्मेलन की अध्यक्षता करने के सम्मान की खातिर उस आजादी का परित्याग नहीं कर सकता, जो प्रत्येक अध्यक्ष को अपने भाषण को तैयार करने में मिलनी चाहिए। मैं मंडल को खुश करने के लिए अपने उस कर्तव्य को भी तिलांजलि नहीं दे सकता, जो किसी सम्मेलन की अध्यक्षता करने वाले व्यक्ति को सही और उचित मार्गदर्शन करने के लिए प्राप्त होती है। यह एक सिद्धांत का प्रश्न है और मैं महसूस करता हूं कि मुझे किसी भी प्रकार से इससे समझौता नहीं करना चाहिए।

स्वागत समिति ने जो निर्णय लिया है, मैं उसके औचित्य के बारे में किसी विवाद में नहीं पड़ना चाहता था, किंतु चूंकि आपने ऐसे कुछ कारण दिए हैं जिनसे मुझ पर दोष आरोपित होता है, इसलिए मैं उनका उत्तर देने के लिए बाध्य हूं। सर्वप्रथम, मुझे उस धारणा को दूर कर देना चाहिए कि भाषण के उस अंश में व्यक्त विचार, जिन पर समिति ने आपत्ति की है, मंडल के सामने अचानक ही उपस्थित हुए हैं। मुझे विश्वास है कि श्री संत राम इस बात की पुष्टि करेंगे। मेरा कहना है कि उनके एक पत्र के उत्तर में मैंने कहा था कि जातिप्रथा को तोड़ने का वास्तविक तरीका अंतर्जातीय भोज और अंतर्जातीय विवाह नहीं है, बल्कि उन धार्मिक धारणाओं को नष्ट करना है, जिन पर जातिप्रथा की नींव रखी गई है और श्री संत राम ने इसके प्रत्युत्तर में मुझसे उस बात को स्पष्ट करने को कहा था और माना था कि यह एक नवीन दृष्टिकोण है। श्री संत राम के इस अनुरोध के उत्तर में मैंने सोचा कि उनको लिखे गए अपने पत्र के एक वाक्य में जो बात मैंने कही थी, उसे अपने भाषण में विस्तार

से समझा देना चाहिए। इसलिए आप यह नहीं कह सकते कि जो विचार मैंने व्यक्त किए हैं, वे नए हैं। किसी भी प्रकार से ये विचार श्री संत राम, जो आपके मंडल की जान और उसके प्रमुख मार्गदर्शक हैं, के लिए नए नहीं हैं, परंतु मैं इससे भी आगे यह कहता हूं कि मैंने अपने भाषण का यह अंश केवल इसलिए नहीं लिखा है कि मैंने ऐसा करना वांछनीय समझा है, बल्कि इसलिए लिखा है कि तर्क को पूरा करने के लिए ऐसा करना नितांत आवश्यक है। मुझे यह पढ़कर आश्चर्य हुआ कि भाषण के जिस अंश पर आपकी समिति को आपत्ति है, उसे आप 'असंगत और अप्रासंगिक' बताते हैं। मैं बताना चाहता हूं कि मैं एक वकील हूं और प्रासंगिकता के नियमों को उतनी अच्छी तरह जानता हूं, जितना आपकी समिति का कोई सदस्य जानता है। मैं जोर देकर कहता हूं कि जिस अंश पर आपत्ति की गई है, वह न केवल सबसे अधिक प्रासंगिक है, बल्कि महत्वपूर्ण भी है। भाषण के उसी अंश में मैंने जातिप्रथा को नष्ट करने के सर्वोत्तम उपायों का विवेचन किया है। यह हो सकता है कि मैं जातिप्रथा को नष्ट करने के सर्वोत्तम उपाय के रूप में जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, वह चौंकाने वाला और कष्टकारी हो। आपको यह कहने का अधिकार है कि मेरा विश्लेषण गलत है। किंतु आप यह नहीं कह सकते कि जातिप्रथा की समस्या से संबंधित किसी भाषण में मुझे इस बात की छूट नहीं है कि मैं इस मुद्दे पर विचार करूं कि जातिप्रथा को कैसे नष्ट किया जा सकता है।

आपकी अन्य शिकायत भाषण की लंबाई को लेकर है। मैंने स्वयं भाषण में ही इस आरोप के दोष को स्वीकार किया है। किंतु इसके लिए वास्तविक जिम्मेदार कौन है? मुझे खेद है कि आप से देर में संपर्क हुआ, नहीं तो आपको इस बात की जानकारी हो जाती कि मूल रूप से मैंने अपनी ही सुविधा के लिए एक संक्षिप्त भाषण लिखा था, क्योंकि एक विस्तृत शोध-प्रबंध तैयार करने का न तो मेरे पास समय ही था, और न ही शक्ति थी। मंडल ने ही मुझसे इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालने का अनुरोध किया था और मंडल ने ही जातिप्रथा के संबंध में प्रश्नों की एक सूची मुझे दी थी तथा मुझसे अनुरोध किया था कि मैं अपने भाषण में इनका उत्तर दूं, क्योंकि प्राय: इन्हीं प्रश्नों को मंडल तथा उसके विरोधियों के बीच विवाद में उठाया जाता है और मंडल को इनका संतोषजनक उत्तर देने में कठिनाई होती है। इस संबंध में मंडल की इच्छाओं की पूर्ति करने के प्रयास में भाषण इस सीमा तक लंबा हो गया है। जो कुछ मैंने कहा है, उसे देखते हुए मुझे विश्वास है कि आप इस बात से सहमत होंगे कि भाषण के लंबा होने का दोष मेरा नहीं है।

मुझे यह आशा नहीं थी कि आपका मंडल इससे इतना परेशान होगा, क्योंकि मैंने हिन्दू धर्म के विनाश की बात कही है। मैं समझता था कि केवल मूर्ख ही शब्दों से घबराते हैं। किंतु ऐसा न हो कि लोगों के मन में कोई गलत धारणा उत्पन्न हो, इसके लिए मैंने इस बात को स्पष्ट करने का भारी प्रयास किया है कि धर्म और धर्म के विनाश से मेरा क्या अभिप्राय है। मुझे विश्वास है कि मेरा भाषण पढ़ने के बाद कोई भी व्यक्ति मुझे गलत नहीं समझ सकेगा।

साथ में दिए गए स्पष्टीकरण के बावजूद आपका मंडल मात्र 'धर्म के विनाश आदि' शब्दों से इतना भयभीत हो गया, इससे मंडल के प्रति मेरी श्रद्धा में कोई वृद्धि नहीं हुई। ऐसे व्यक्तियों के प्रति किसी को भी कोई श्रद्धा या सम्मान नहीं हो सकता, जो सुधारक बनकर भी उस स्थिति के तर्कपूर्ण परिणामों को देखना भी पंसद नहीं करते। इन्हें अकेला ही चलने दो।

आप मानेंगे कि मैंने अपने भाषण को तैयार करने में किसी भी प्रकार से सीमित होना कभी स्वीकार नहीं किया और इस प्रश्न पर कि भाषण में क्या होना चाहिए और क्या नहीं, मेरे और मंडल के बीच विचार-विमर्श नहीं हुआ। मैं सदा यह मानकर चला हूं कि मैं अपने भाषण में उस विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करने में स्वतंत्र हूं। वास्तव में, 9 अप्रैल को बंबई में आपके आने तक मंडल को यह पता नहीं था कि किस प्रकार का भाषण तैयार कर रहा हूं। आप जब बंबई आए तो मैंने स्वेच्छा से बताया था कि मुझे इस बात की कोई इच्छा नहीं है कि मैं दलित जातियों द्वारा धर्मांतरण के संबंध में अपने विचारों की वकालत करने के लिए मंच का उपयोग करूं। मैं समझता हूं कि मैंने भाषण को तैयार करने में ईमानदारी से उस वायदे को निभाया है। अप्रत्यक्ष रूप से एक सरसरी तौर पर दिए गए इस संदर्भ के अलावा कि 'मुझे अफसोस है कि मैं यहां नहीं रहूंगा . . . आदि', मैंने अपने भाषण में विषय के बारे में कुछ नहीं कहा है। जब मैं यह देखता हूं कि आपको इस प्रकार के सरसरी और इतने अप्रत्यक्ष संदर्भ पर भी आपत्ति है तो मैं यह प्रश्न पूछने के लिए बाध्य हूं कि क्या आपने यह सोचा है कि मैं आपके सम्मेलन की अध्यक्षता करने की खातिर दलित वर्गों द्वारा धर्म-परिवर्तन संबंधी अपने विचारों को छोड़ने या स्थगित रखने के लिए सहमत हो जाऊंगा? यदि आपने ऐसा सोचा है, तो मैं आपसे कहूंगा कि यह आपकी भूल है और इसके लिए मैं किसी भी प्रकार से जिम्मेदार नहीं हूं। यदि आपमें से कोई इस बात का संकेत भी कर देता कि आप मुझे अध्यक्ष चुनकर जो सम्मान दे रहे हैं, उसके बदले में मुझे धर्म-परिवर्तन के अपने कार्यक्रम में अपने विश्वास का संत्याग करना पड़ेगा, तो मैं आपको स्पष्ट शब्दों में बता देता कि मुझे आपके द्वारा दिए जाने वाले किसी सम्मान की अपेक्षा, अपने विश्वास की कहीं अधिक परवाह है।

आपके 14 तारीख के पत्र के बाद आपका यह पत्र मेरे लिए एक आश्चर्य है। मुझे विश्वास है कि जो कोई भी इन्हें पढ़ेगा, ऐसा ही महसूस करेगा। स्वागत समिति द्वारा इस प्रकार के अचानक अपने रुख में परिवर्तन करने के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हो सकता। जब 14 तारीख को आपने पत्र लिखा था तो उस समय समिति के सामने जो कच्चा प्रारूप था, उसमें और अंतिम प्रारूप, जिस पर आपने अपने पत्र में स्वागत समिति का निर्णय सूचित किया था, के सार रूप में कोई अंतर नही है। आप अंतिम प्रारूप में एक भी ऐसा नया विचार नही बता सकते, जो पहले वाले प्रारूप में न हो। वे ही समान विचार हैं। अंतर केवल यह है कि उन्हें अंतिम प्रारूप में अधिक विस्तार के साथ रखा गया है। यदि भाषण में कोई आपत्तिजनक बात थी तो आप उसे 14 तारीख को बता सकते थे। किंतु आपने ऐसा नहीं किया। उल्टे आपने

मुझसे एक हजार प्रतियां छपवाने के लिए कहा और यह बात मुझ पर छोड़ दी कि मैं आपके द्वारा सुझाए गए मौलिक परिवर्तनों को स्वीकार करूं या न करूं। तदनुसार, मैंने एक हजार प्रतियां छपवा लीं, जो अब मेरे पास पड़ी हैं। आठ दिन बाद आप यह बताने के लिए लिखते हैं कि आपको भाषण पर ऐतराज है और यदि उसमें संशोधन नहीं किया गया, तो सम्मेलन रद्द कर दिया जाएगा। आपको ज्ञात होना चाहिए था कि भाषण में परिवर्तन की कोई आशा नहीं है। जब आप बंबई में थे तो मैंने आपको बताया था कि मैं उसमें एक विराम का भी परिवर्तन नहीं करूंगा और अपने भाषण को किसी भी तरह सेंसर किए जाने की अनुमति नहीं दूंगा। आपको मेरे भाषण को जैसा वह मेरे पास से आएगा, वैसा ही स्वीकार करना होगा। मैंने आपको यह भी कहा था कि भाषण में व्यक्त विचारों की जिम्मेदारी पूर्णतः मेरी होगी और यदि सम्मेलन उन्हें पंसद नहीं करेगा और उनकी निंदा करने का प्रस्ताव पास करेगा कोई हर्ज न होगा। मैं आपके मंडल को अपने विचारों की जिम्मेदारी के भार से मुक्त करने और साथ ही अपने आपको सम्मेलन के साथ अधिक न उलझाने के लिए इतना आतुर था कि मैंने आपको सुझाव दिया था कि मेरी इच्छा है कि मेरे भाषण को अध्यक्षीय भाषण के रूप में नहीं, बल्कि उद्घाटन भाषण के रूप में माना जाए और मंडल की अध्यक्षता के लिए किसी और व्यक्ति की तलाश कर लें तथा प्रस्तावों से निबट लें। 14 तारीख को आपकी समिति के अलावा और कोई भी व्यक्ति निर्णय लेने की बेहतर स्थिति में नहीं था। किंतु समिति ऐसा नहीं कर सकी और इस दौरान मुझे छपाई की लागत उठानी पड़ गई, जिसे मुझे विश्वास है कि आपकी समिति की थोड़ी अधिक दृढ़ता से बचाया जा सकता था।

मेरा विश्वास है कि मेरे भाषण में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, उनका आपकी समिति से कोई लेना-देना नहीं है। अनेक कारणों से मुझे विश्वास करना पड़ रहा है कि अमृतसर में आयोजित सिख प्रचार कांग्रेस में मेरी मौजूदगी, स्वागत समिति द्वारा किए गए निर्णय का एक बड़ा कारण थी। समिति ने 14 और 22 अप्रैल के बीच अपने रुख में जो अचानक परिवर्तन किया, उसका और कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। फिर भी, मैं अब इस विवाद को अधिक लंबा नहीं खींचना चाहता और आपसे अनुराध करता हूं कि आप तत्काल घोषणा कर दें कि मेरी अध्यक्षता में होने वाले सम्मेलन का अधिवेशन रद्द हो गया है। अब सारी गरिमा समाप्त हो चुकी है और यदि आपकी समिति मेरे भाषण को इसके वर्तमान संपूर्ण रूप में स्वीकार करने के लिए सहमत भी हो जाए, तब भी मैं इसकी अध्यक्षता नहीं करूंगा। भाषण तैयार करने में उठाए गए मेरे कष्टों के लिए आपने जो सराहना की है, उसके लिए मैं धन्यवाद देता हूं। अगर किसी को नहीं तो मुझे इस श्रम से निश्चय ही लाभ मिला है। मुझे खेद केवल इसलिए है कि मुझे ऐसे समय पर इतना कठोर परिश्रम करना पड़ा, जिसे मेरा स्वास्थ्य सहन नहीं कर सकता था।

आपका

भीमराव अम्बेडकर

इस पत्राचार से उन कारणों का पता चल जाएगा, जिनकी वजह से मंडल द्वारा अध्यक्ष के रूप में मेरी नियुक्ति रद्द की गई थी और पाठक यह जानने की स्थिति में होंगे कि इसका दोष किसको दिया जाना उचित है। मैं समझता हूं कि यह पहला अवसर है जब कि स्वागत समिति द्वारा किसी अध्यक्ष की नियुक्ति को इसलिए रद्द किया गया है, क्योंकि वह अध्यक्ष के विचारों का अनुमोदन नहीं करती। चाहे ऐसा हो या न हो, किंतु निश्चय ही मेरे जीवन में यह पहला अवसर है, जब कि सवर्ण हिन्दुओं के किसी सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। मुझे अफसोस है कि एक त्रासदी में इसका अंत हुआ। किंतु ऐसे कठोर संबंधों से कोई भी क्या आशा कर सकता है, जहां सवर्ण हिन्दुओं के सुधारवादी और अछूतों के आत्म-सम्मानी वर्ग के बीच संबंध इतने कठोर हों कि सवर्ण हिन्दुओं को अपने कट्टरपंथी साथियों से अलग होने की कोई इच्छा न हो और आत्म-सम्मानी अछूत वर्ग के पास सुधारों पर जोर देने के अलावा कोई विकल्प न हो।

राजगृह, दादर, बंबई-14,
15 मई 1936.

भीमराव अम्बेडकर

लाहौर जातपांत तोड़क मंडल 1936 के वार्षिक सम्मेलन

के लिए

डा. भीमराव अम्बेडकर

द्वारा

तैयार किया गया भाषण

यह भाषण स्वागत समिति द्वारा सम्मेलन को इस आधार पर रद्द कर दिए जाने के परिणामस्वरूप नहीं पढ़ा जा सका कि भाषण में व्यक्त विचार सम्मेलन के लिए असहनीय होंगे

मित्रो

मुझे जातपांत तोड़क मंडल के सदस्यों की स्थिति पर निश्चय ही खेद है, जिन्होंने इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित करने की महती कृपा की है। मुझे यकीन है कि अध्यक्ष के रूप में मेरा चुनाव करने पर उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाएंगे। मंडल को इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने लाहौर में हो रहे समारोह की अध्यक्षता करने के लिए बंबई से किसी व्यक्ति को क्यों बुलाया है। मुझे विश्वास है कि मंडल को इस समारोह की अध्यक्षता करने के लिए मुझसे कहीं अधिक योग्य व्यक्ति आसानी से मिल सकता था। मैंने हिन्दुओं की आलोचना की है। मैंने महात्मा के प्रभुत्व पर संदेह प्रकट किया है, जिन्हें वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे मुझसे घृणा करते हैं। उनके लिए मैं उनके बाग में एक सांप के समान हूं। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक मनोवृत्ति के हिन्दू इस मंडल से इस बात का स्पष्टीकरण मांगेंगे कि इस सम्मानजनक पद के लिए मुझे क्यों बुलाया गया है। यह एक बड़े साहस का काम है। अगर कुछ राजनीतिक हिन्दू इसे अपमान समझते हैं तो मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इस पद पर मेरे चुनाव से निश्चय ही धार्मिक प्रवृत्ति के सामान्य हिन्दुओं को प्रसन्नता नहीं होगी। मंडल से इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने अध्यक्ष के चुनने में शास्त्रीय निषेधादेश की अवज्ञा क्यों की। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण को ही तीनों वर्गों का गुरु नियुक्त किया जाता है। 'वर्णानाम ब्राह्मणों गुरु', यही शास्त्रों का निर्देश है। इसलिए मंडल जानता है कि एक हिन्दू को किससे शिक्षा लेनी चाहिए और किससे नहीं। शास्त्र किसी हिन्दू को गुरु रूप में किसी भी ऐसे व्यक्ति को मात्र इसलिए कि वह ज्ञानी है, स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते। यह बात महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण संत रामदास ने काफी स्पष्ट कर दी थी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने शिवाजी को हिन्दू राज की स्थापना के लिए प्रेरित किया था। रामदास 'दासबोध' नाम की अपनी मराठी काव्य रचना में जो एक सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक प्रबंध है, हिन्दुओं को संबोधित करते हुए पूछते हैं कि क्या हम किसी अन्त्यज को इस कारण से अपना गुरु मान सकते हैं कि वह एक पंडित (अर्थात् विद्वान) है। वह उत्तर देते हैं, नहीं। इन प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाए, इस मामले को मैं मंडल पर छोड़ देता हूं। मंडल उन कारणों को बहुत अच्छी तरह जानता है कि क्यों उन्हें अध्यक्ष के लिए बंबई की यात्रा करनी पड़ी और ऐसे व्यक्ति को इसके लिए निर्धारित करना पड़ा जो हिन्दुओं का इतना विरोधी हो तथा अपने स्तर को इतना नीचे गिराकर एक अन्त्यज, अर्थात् अछूत को सवर्णों की सभा में भाषण देने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं कहना चाहूंगा कि मैंने इस निमंत्रण को अपनी तथा अपने अनेक अछूत साथियों की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार किया है। मैं जानता हूं कि हिन्दू मुझसे उखड़े हुए हैं? मैं जानता हूं कि मैं उनके लिए स्वीकार्य व्यक्ति नहीं हूं। यह सब कुछ जानते हुए मैंने जानबूझकर अपने आपको उनसे दूर रखा है। मेरी उन्हें कष्ट पहुंचाने की कोई इंच्छा नहीं है। मैं अपने ही मंच से अपने ये विचार रख रहा हूं। इससे पहले

ही काफी ईर्ष्या और उत्तेजना फैल चुकी है। मेरी जिस बात को हिन्दू सुन रहे हैं, उसे उनके मंच से उनके सामने कहने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। मैं अपनी नहीं, बल्कि आपकी इच्छा से यहां आया हूं। आप समाज सुधार के काम में लगे हैं। इस कार्य ने हमेशा ही मुझे प्रेरणा दी है और इसी कारण से मैंने महसूस किया है कि मुझे इस कार्य में सहायता देने के अवसर को नहीं छोड़ देना चाहिए, विशेषकर ऐसे समय जब कि आप समझते हैं कि मैं इसमें सहायता कर सकता हूं। मैं आज जो कुछ कहने जा रहा हूं, क्या उससे आपको उस समस्या को सुलझाने में जिससे आप जूझ रहे हैं, किसी प्रकार से कोई सहायता मिलेगी, इसका निर्णय आप करें। मैं जो कुछ करने की आशा करता हूं, वह यही है कि मैं इस समस्या पर अपने विचार आपके सामने रखूं।

2

भारत में समाज सुधार का मार्ग स्वर्ग के मार्ग के समान है और इस कार्य में अनेक कठिनाइयां हैं। भारत में समाज सुधार कार्य में सहायक मित्र कम और आलोचक अधिक हैं। आलोचकों के दो स्पष्ट वर्ग हैं। एक वर्ग में राजनीतिक सुधारक हैं और दूसरे में समाजवादी।

एक समय था, जब यह माना जाता था कि सामाजिक कुशलता के बिना अन्य कार्य क्षेत्रों में प्रगति असंभव है। कुप्रथाओं से फैली बुराइयों के कारण हिन्दू समाज की कार्य-कुशलता समाप्त हो चुकी थी। अब इन बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए अथक प्रयास करने होंगे। इस तथ्य को समझ कर ही राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के साथ ही सामाजिक सम्मेलन की भी स्थापना हुई थी। जहां कांग्रेस का संबंध देश के राजनीतिक संगठन में कमजोर तथ्यों को परिभाषित करना था, वहां सामाजिक सम्मेलन हिन्दू समाज के सामाजिक संगठन में कमजोर बातों को दूर करने में लगा हुआ था। कुछ समय तक कांग्रेस और सम्मेलन ने एक सामान्य क्रियाकलाप के दो अंगों के रूप में कार्य किया और उनके वार्षिक अधिवेशन भी एक ही पंडाल में होते थे। किंतु शीध्र ही ये दो अंग दो दलों में बदल गए – एक राजनीतिक सुधार दल और दूसरा सामाजिक सुधार दल। इनके बीच उग्र विवाद उठ खड़े हुए। राजनीतिक सुधार दल, राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन करता था और सामाजिक सुधार दल सामाजिक सम्मेलन का। इस प्रकार दो संस्थाएं दो विरोधी कैम्प बन गए। मुद्दा यह था कि क्या सामजिक सुधार राजनीतिक सुधारों से पहले होने चाहिएं। एक दशक तक दोनों शक्तियों का संतुलन समान रूप से बना रहा और उनमें किसी भी पक्ष की विजय के बिना लड़ाई चलती रही। किंतु यह स्पष्ट था कि सामाजिक सम्मेलन का भाग्य तेजी से अस्त हो रहा था। जिन सज्जनों ने सामाजिक सम्मेलन के अधिवेशनों की अध्यक्षता के थी, वे इस बात से दुखी थे कि बहुसंख्यक शिक्षित हिन्दू राजनीतिक उत्थान के पक्षधर हैं और सामाजिक सुधारों के प्रति उदासीन हैं। कांग्रेस में उपस्थित होने वाले लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी। जो लोग उसमें उपस्थित नहीं हुए, उनकी सहानुभूति इसके साथ थी तथा उनकी संख्या और भी बड़ी थी। जो लोग सामाजिक सम्मेलन में उपस्थित हुए, उनकी संख्या बहुत कम थी। इस उदासीनता

और कार्यकर्ताओं में हुई कमी के शीघ्र बाद राजनीतिज्ञों की ओर से इसका सक्रिय विरोध आरंभ हो गया। कांग्रेस ने शिष्टता के नाते सामाजिक सम्मेलन को अपने पंडाल का प्रयोग करने की जो अनुमति दे रखी थी, स्वर्गीय श्री तिलक के नेतृत्व में उसे वापस ले लिया गया और शत्रुता की भावना इतनी गहरी हो गई कि जब सामाजिक सम्मेलन ने अपना पंडाल खड़ा करने की इच्छा की तो इसके विरोधियों ने पंडाल को जला डालने की धमकी दी। इस प्रकार समय के साथ-साथ राजनीतिक सुधार के पक्ष वाले दल की जीत हुई और सामाजिक सम्मेलन गायब हो गया और लोग उसे भूल गए। इलाहाबाद में हुए कांग्रेस के आठवें अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में श्री डब्ल्यू.सी. बनर्जी ने जो भाषण दिया था, वह सामाजिक सम्मेलन की मृत्यु पर पढ़े गए शोक संदेश जैसा लगता है। वह कांग्रेस की प्रवृत्ति का इतना द्योतक है कि मैं उससे यहां एक उद्धरण दे रहा हूं। श्री बनर्जी ने कहा था :

मैं ऐसे लोगों की बात सुनने को बिल्कुल तैयार नहीं हूं, जो यह कहते हैं कि हम अपनी सामाजिक प्रणाली में सुधार नहीं करेंगे, जब तक हम राजनीतिक सुधारों के योग्य नहीं हो सकेंगे। मुझे दोनों के बीच कोई संबंध नहीं दिखाई देता। . . . . क्या हम (राजनीतिक सुधार के लिए) इसलिए उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि हमारी विधवाएं अविवाहित रह जाती हैं और हमारी लड़कियां अन्य देशों की तुलना में बहुत पहले ही विवाह-सूत्र में बांध दी जाती हैं। क्योंकि पत्नी और पुत्रियां हमारे मित्रों से मिलने जाने के लिए हमारे साथ कारों में नही चलतीं? क्योंकि हम अपनी पुत्रियों को ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज नहीं भेजते?

मैंने जैसा कि श्री बनर्जी ने प्रस्तुत किया था, राजनीतिक सुधार का मामला आपके सामने रखा है। अनेक लोग ऐसे थे, जो यह जानकर प्रसन्न थे कि कांग्रेस की जीत हुई। किंतु जो लोग समाज सुधार के महत्व में विश्वास रखते हैं वे पूछ सकते हैं कि क्या श्री बनर्जी की दलील अंतिम है? क्या इससे यह सिद्ध होता है कि जीत उन्हीं की हुई, जो न्याय-संगत थे? क्या निष्कर्ष रूप में इससे यह सिद्ध होता है कि समाज सुधार का राजनीतिक सुधार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? यदि मैं मामले के दूसरे पहलू पर विचार करूं तो इससे मामले को समझने में सहायता मिलेगी। मैं अपने तथ्यों के लिए अछूतों के साथ व्यवहार का उल्लेख करूंगा।

मराठा राज्य में पेशवाओं के शासन में यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए उस सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूत के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बांधे, जिससे कि हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र हो जाने से बच जाए। पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाडू बांधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने से पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते से चलने वाला कोई हिन्दू उससे अपवित्र हो जाए। पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहा कहीं भी वे जाएं, अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं

जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहां से गुजरने वाला कोई हिन्दू अपवित्र हो जाए। मैं हाल ही के कुछ और तथ्यों का भी यहां उल्लेख करना चाहता हूं। मध्य भारत की बलाई नाम की एक अछूत जाति पर हिन्दुओं द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का जिक्र करना काफी होगा। चार जनवरी 1928 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की एक रिपोर्ट आप देखें। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने समाचार दिया है कि कनरिया, बिचोली-हाफसी, बिचोली-मर्दाना गांवों तथा इंदौर जिले (इंदौर रियासत के) के 15 अन्य गांवों की ऊंची जाति के हिन्दुओं ने, अर्थात् कालोटो, राजपूतों और ब्राह्मणों, जिनमें पटेल और पटवारी भी शामिल हैं, अपने-अपने गांवों के बलाइयों को सूचित किया है कि यदि वे उनमें रहना चाहते हैं तो उन्हें नियमों का अवश्य पालन करना होगा :

(क) बलाई, सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियां नहीं बांधेंगे।
(ख) वे रंगीन या फैन्सी किनारी की धोतियां नहीं पहनेंगे।
(ग) वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर मृतक के संबंधियों को चाहे वे कितनी भी दूर क्यों न रहते हों, मरने की सूचना देंगे।
(घ) सभी हिन्दुओं के विवाहों में बलाई लोग बारात के आगे और विवाह के दौरान बाजा बजाएंगे।
(च) बलाई स्त्रियां सोने या चांदी के आभूषण नहीं पहनेंगी। वे फैन्सी गाउन या जाकेट भी नहीं पहनेंगी।
(छ) बलाई स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी।
(ज) बलाई लोगों को बिना कोई पारिश्रमिक मांगे सेवा करनी होगी और हिन्दू उन्हें जो कुछ खुश होकर देंगे, लेना होगा।
(त) अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गांव को छोड़ना होगा।

बलाई लोगों ने उन्हें मानने से इन्कार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरुद्ध कार्रवाई की। बलाइयों को गांवों के कुओं से पानी नहीं भरने दिया गया। उन्हें अपने पशुओं को चराने के लिए नहीं ले जाने दिया गया। बलाई लोगों को हिन्दुओं की भूमि से गुजरने की मनाही कर दी, ताकि यदि किसी बलाई का खेत हिन्दुओं के खेतों से घिरा हो तो बलाई अपने ही खेत तक न पहुंच सकें। हिन्दुओं ने अपने पशुओं को भी बलाइयों के खेतों में चरने के लिए छोड़ दिया। बलाइयों ने इन अत्याचारों के विरुद्ध दरबार में याचिकाएं दायर कीं, किंतु चूंकि उन्हें समय पर कोई राहत नहीं मिली और अत्याचार जारी रहा तो सैकड़ों बलाई लोग अपने बाल-बच्चों सहित अपने घरों को जहां वे पीढ़ियों से रहते आ रहे थे, छोड़कर समीपवर्ती रियासतों, अर्थात् धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर तथा अन्य रियासतों के गांवों में जाकर बसने के लिए मजबूर हो गए। अपने नए घरों में उनकी क्या स्थिति रही, उस पर फिलहाल हम विचार नहीं करेंगे। गुजरात में कविठा की घटना तो पिछले ही वर्ष घटी है।

कविठा के हिन्दुओं ने अछूतों को आदेश दिया कि वे अपने बच्चों को सरकार द्वारा चलाए जा रहे गांव के आम स्कूल में न भेजें। हिन्दुओं की इच्छाओं के विरुद्ध नागरिक अधिकार का प्रयोग करने का साहस करने के लिए कविठा के अछूतों को कितने कष्टों का सामना करना पड़ा सभी जानते हैं, इसे विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है। एक अन्य घटना गुजरात में अहमदाबाद जिले के जानू गांव में हुई। नवम्बर 1935 में संपन्न परिवारों की कुछ अछूत महिलाओं ने धातु के बर्तनों में पानी लाना आरंभ कर दिया। हिन्दुओं ने अछूतों द्वारा धातु के बर्तनों के प्रयोग को अपने सम्मान के विरुद्ध समझा और अछूत महिलाओं पर इस गुस्ताखी के लिए हमला किया। एक बहुत ही नई घटना की सूचना जयपुर रियासत में चकवारा से मिली है। समाचार-पत्रों में छपी सूचना से पता चलता है कि चकवारा के एक अछूत ने जो तीर्थ-यात्रा के बाद घर लौटा था, अपने धार्मिक अनुष्ठान को पूरा करने के लिए गांव के अपने अछूत भाइयों को भोज देने की व्यवस्था की थी। मेजबान की इच्छा थी कि मेहमानों को बहुमूल्य भोजन खिलाया जाए और उसमें घी से युक्त व्यंजन भी परोसे जाएं। किंतु जिस समय अछूत लोग भोजन कर रहे थे तो सैकड़ों की संख्या में हिन्दू लाठियां लेकर वहां दौड़े और भोजन को खराब कर दिया तथा अछूतों को बुरी तरह पीटा। परोसे गए भोजन को छोड़, मेहमान अपनी जान बचाने के लिए भाग गए। नि:सहाय अछूतों पर ऐसा प्राणघातक आक्रमण क्यों किया गया? इसका जो कारण बताया गया है, वह यह था कि अछूत मेजबान इतना धृष्ट था कि उसने घी का प्रयोग किया और उसके अछूत मेहमान इतने मूर्ख थे कि वे उसे खा रहे थे। घी नि:संदेह अमीरों के लिए एक विलास की वस्तु है। किंतु कोई भी यह नहीं सोचेगा कि घी ऊंचे सामाजिक स्तर का प्रतीक है। चकवारा के हिन्दुओं ने इसका दूसरा अर्थ लिया और उन अछूतों द्वारा उनके साथ की गई गलती के लिए हिन्दुओं के धार्मिक क्रोध में उनसे बदला लिया, जिन्होंने अपने भोजन में घी परोसकर उनका अपमान किया था। उन्हें यह जानना चाहिए था कि वे हिन्दुओं के सम्मान की बराबरी नहीं कर सकते। इसका यह अर्थ है कि किसी अछूत को घी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करना हिन्दुओं के प्रति उद्दंडता है। यह घटना पहली अप्रैल 1936 या उसके आसपास की है।

इन तथ्यों को बताने के बाद अब मैं सामाजिक सुधार के बारे में बात करूंगा। ऐसा करने में मैं जहां तक हो सकता है, श्री बैनर्जी का अनुसरण करूंगा। मैं राजनीतिक प्रवृत्ति के हिन्दुओं से पूछता हूं, "जब आप अपने ही देश के अछूतों जैसे एक बहुत बड़े वर्ग को सार्वजनिक स्कूल का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें सार्वजनिक कुओं का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें आम सड़कों का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें अपनी पसंद के आभूषण और वेशभूषा धारण नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें उनकी पसंद का भोजन नहीं करने देते

तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं?'' मैं इस प्रकार के अनेक प्रश्न पूछ सकता हूं, किंतु ये ही प्रश्न काफी होंगे। मैं व्यग्र हूं यह जानने के लिए कि श्री बैनर्जी क्या उत्तर देते। मुझे यकीन है कि कोई भी समझदार व्यक्ति इसका 'हां' में उत्तर देने का साहस नहीं करेगा। प्रत्येक कांग्रेसी को, जो श्री मिल के इस सिद्धांत को मानता है कि एक देश दूसरे देश पर शासन करने योग्य नहीं है, यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर भी शासन करने के योग्य नहीं है।

तब यह कैसे हुआ कि सामाजिक सुधार दल लड़ाई हार गया। इसे सही-सही रूप में समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि समाज सुधारक किस प्रकार के समाज सुधार के लिए आंदोलन कर रहे हैं। इस संबंध में यह आवश्यक है कि हिन्दू परिवार के सुधार के अर्थ में समाज सुधार और हिन्दू समाज के पुनर्गठन तथा पुनर्निर्माण के अर्थ में समाज सुधार, इन दोनों में अंतर किया जाए। पहले प्रकार के समाज सुधार का संबंध विधवा विवाह, बाल विवाह, आदि से है, जब कि दूसरे प्रकार के समाज सुधार का संबंध जातिप्रथा के उन्मूलन से है। सामाजिक सम्मेलन एक ऐसी संस्था थी, जिसका संबंध मुख्य रूप से ऊंची जाति के प्रबुद्ध हिन्दुओं से था जो जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए आंदोलन करना आवश्यक नहीं समझते थे, या उनमें इसके लिए आंदोलन करने का साहस नहीं था। उन्होंने जबरन विधवापन, बाल विवाह जैसी बुराइयों को जो उनमें फैली हुई थीं और जिन्हें वे खुद महसूस करते थे, दूर करने की भारी आवश्यकता को महसूस किया। वे हिन्दू समाज में सुधार करने के लिए खड़े नहीं हुए थे। वह जो लड़ाई लड़ रहे थे, वह परिवार के सुधार के प्रश्न पर ही केन्द्रित थी। इसका संबंध जातिप्रथा को तोड़ने के अर्थ में समाज सुधार से नहीं था। समाज सुधारकों ने इस मुद्दे को कभी नहीं उठाया। यही कारण है कि सामाजिक सुधार दल समाप्त हो गया।

मैं जानता हूं कि यह दलील इस तथ्य को नहीं बदल सकती कि राजनीतिक सुधार को वास्तव में सामाजिक सुधार से वरीयता मिली। किंतु तर्क का अगर अधिक नहीं तो इतना मूल्य तो है ही। इससे स्पष्ट होता है कि समाज सुधारक क्यों सफल नहीं हुए। इससे हमें यह भी समझने में सहायता मिलती है कि राजनीतिक सुधार दल ने सामाजिक सुधार दल के ऊपर जो विजय प्राप्त की, वह कितनी सीमित थी और यह विचार कि सामाजिक सुधार के राजनीतिक सुधार से पहले होने की आवश्यकता नही है, ऐसा विचार केवल तभी उत्पन्न होता है जब कि समाज सुधार का अर्थ परिवार का सुधार हो। यह तथ्य कि राजनीतिक सुधार समाज के पुनर्गठन के अर्थ में सामाजिक सुधार के ऊपर वरीयता प्राप्त नहीं कर सकता, एक ऐसा शोध-प्रबंध है जिस पर मैं समझता हूं मतभेद नहीं हो सकता। राजनीतिक संविधानों के निर्माताओं को सामाजिक शक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए। इस तथ्य को फर्डिनेंड लेजले जैसे महान व्यक्ति ने स्वीकार किया है जो कार्ल मार्क्स का मित्र और सहकर्मी था। 1862 में प्रशिया की एक सभा में लेजले ने कहा था :

"संवैधानिक प्रश्न सर्वप्रथम अधिकार के प्रश्न नहीं, बल्कि शक्ति के प्रश्न होते हैं। किसी देश के वास्तविक संविधान का अस्तित्व उस देश में विद्यमान शक्ति की वास्तविक स्थिति में ही होता है। अतः राजनीतिक संविधानों का मूल्य और स्थायित्व केवल तभी होता है, जब कि वे शक्ति की उन शर्तों को सही-सही ढंग से प्रकट करते हैं जो किसी समाज में विद्यमान होती हैं।"

किंतु प्रशिया जाने की जरूरत नहीं है। घर में ही उसके प्रमाण हैं। उस सांप्रदायिक अधिनिर्णय का क्या महत्व है, जिसमें विविध जातियों और समुदायों के परिभाषित अनुपातों में राजनीतिक सत्ता का आवंटन हो? मेरे विचार से इसका महत्व इस बात में है कि राजनीतिक संविधान को सामाजिक संगठन को ध्यान में रखना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि ऐसे राजनीतिज्ञ जिन्होंने यह नहीं माना कि भारत की सामाजिक समस्या का राजनीतिक समस्या पर भी कोई प्रभाव है, वे संविधान तैयार करने में सामाजिक समस्या को मानने के लिए बाध्य हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि सांप्रदायिक अधिनिर्णय सामाजिक सुधार की उपेक्षा से उत्पन्न प्रतिशोध है। यह सामाजिक सुधार दल के लिए विजय है जो यह दिखाता है कि चाहे वे हार गए, किंतु उनका सामाजिक सुधार के महत्व पर बल देना ठीक था। मैं जानता हूं कि बहुत से लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे। इस प्रकार का विचार अभी मौजूद है और इस बात पर विश्वास करना अच्छा लगता है कि सांप्रदायिक अधिनिर्णय अस्वाभाविक है और यह नौकरशाही तथा अल्पसंख्यकों के बीच अपवित्र गठबंधन का परिणाम है। अगर यह कहा जाए कि सांप्रदायिक अधिनिर्णय एक अच्छा साक्ष्य नहीं है तो मैं अपने मत के समर्थन में इस पर एक साक्ष्य के रूप में भरोसा नहीं करना चाहता। आयरलैंड को लीजिए। आयरिश होम रूल का इतिहास क्या बताता है? सब जानते हैं कि अल्स्टर और दक्षिणी आयरलैंड के प्रतिनिधियों के बीच बातचीत के दौरान दक्षिणी आयरलैंड के प्रतिनिधि श्री रेडमंड ने अल्स्टर को समस्त आयरलैंड के लिए समान होम रूल संविधान के अंतर्गत लाने के लिए अल्स्टर के प्रतिनिधियों से कहा था, "आप जिस राजनीतिक सुरक्षा को पसंद करते हैं, उसकी मांग करें, आपको वह मिलेगी।" पता है, अल्स्टर के लोगों ने क्या जवाब दिया? उनका उत्तर था, "धिक्कार है, आपकी सुरक्षा को हम किसी भी शर्त पर अपने ऊपर आपका शासन नहीं चाहते।" जो लोग भारत में अल्पसंख्यकों पर दोषारोपण करते हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए कि यदि अल्पसंख्यक वह रवैया अपना लेते, जो अल्स्टर ने अपनाया था तो बहुसंख्यकों की राजनीतिक आकांक्षाओं का क्या होता? आयरिश होम रुल के प्रति अल्स्टर के रवैए को देखते हुए क्या यह कुछ भी नहीं है कि अल्पसंख्यक उस बहुसंख्यक के शासन में रहने को सहमत हो गए, जिसने राजनीतिज्ञता की कोई अधिक भावना नहीं दिखाई और क्यों उनके लिए कुछ सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था की ? किंतु यह केवल आकस्मिक है। मुख्य प्रश्न यह है कि अल्स्टर ने ऐसा रवैया क्यों अपनाया ? मैं इसका केवल

एक उत्तर दे सकता हूं कि अल्स्टर और दक्षिणी आयरलैंड के बीच एक सामाजिक समस्या थी। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच एक समस्या निश्चय ही जाति की समस्या थी। आयरलैंड में होम रूल एक प्रकार से रोम का शासन रूल होगा। अल्स्टरवासियों ने इसी रूप में अपना उत्तर तैयार किया था। किंतु इस बात को बताने का यही एक अन्य तरीका है कि कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच जाति की सामाजिक समस्या थी, जिसने वहां राजनीतिक समस्या का हल नहीं होने दिया। इस साक्ष्य को फिर से चुनौती दिया जाना निश्चित है। यहां भी साम्राज्यवादी हाथ काम कर रहा था। किंतु मेरे साधन समाप्त नहीं हुए हैं। मैं रोम के इतिहास से साक्ष्य दूंगा। यहां कोई भी यह नहीं कह सकता कि कोई दुष्ट आत्मा काम कर रही थी। जिस किसी ने भी रोम के इतिहास का अध्ययन किया है, उसे पता होगा कि रोम के गणतंत्रवादी संविधान में सांप्रदायिक अधिनिर्णय से बहुत अधिक मिलते-जुलते तत्व थे। जब रोम में राजशाही का उन्मूलन हुआ तो राजसी सत्ता या परसत्ता (इम्पीरियम) कांसुलों और पोंटिफेक्स मेक्सिमस के बीच विभक्त हो गई थी। कांसुलों में राजा का धर्मनिरपेक्ष प्राधिकार निहित था, जब कि पोंटिफेक्स मेक्सिमस ने राजा का धार्मिक प्राधिकार ग्रहण किया था। इस गणतंत्रवादी संविधान ने दो कांसुलों का प्रावधान किया था। एक था पेट्रिशियन और दूसरा था प्लेबियन। उसी संविधान में पोंटिफेक्स मेक्सिमस के अधीन पादरियों की भी व्यवस्था थी, जिनमें से आधे प्लेबियन और आधे पेट्रिशियन होते थे। इसका क्या कारण है कि रोम के गणतंत्रवादी संविधान में ये प्रावधान थे जो कि, जैसा कि मैंने बताया था, सांप्रदायिक अधिनिर्णय के प्रावधानों से इतने अधिक मिलते हैं? इसका एक ही उत्तर मिल सकता है कि रोम गणतंत्र के संविधान को पेट्रिशियनों तथा प्लेबियनों के बीच सामाजिक विभाजन को ध्यान में रखना पड़ा था। पेट्रिशियन और प्लेबियन, ये दो स्पष्ट जातियां थीं। सार रूप में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक सुधारकों को जिस दिशा में वे जाना चाहें, जाने दें। इससे उन्हें पता चलेगा कि संविधान तैयार करने में वे प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस प्रस्ताव के समर्थन में कि सामाजिक और धार्मिक समस्याओं का राजनीतिक संविधानों पर प्रभाव पड़ता है, मैंने जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, वे अधिक विस्तृत प्रतीत होते हैं। मैं समझता हूं कि ऐसा ही है। किंतु यह नहीं मानना चाहिए एक का दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव सीमित होता है। दूसरी ओर, यह कहा ज़ा सकता है कि इतिहास सामान्यत: इस प्रस्ताव को बल देता है कि राजनीतिक क्रांतियां हमेश सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों के बाद हुई हैं। लूथर द्वारा आरंभ किया गया धार्मिक सुधार यूरोप के लोगों की राजनीतिक मुक्ति का अग्रदूत था। इंग्लैंड में प्यूरिटनवाद के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना हुई। प्यूरिटनवाद ने नए विश्व की स्थापन की।

प्यूरिटनवाद ही ने अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम को जीता। प्यूरिटनवाद एक धार्मिक

आंदोलन था। यही बात मुस्लिम साम्राज्य के संबंध में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिक सत्ता बनने से पहले वे पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा आरंभ संपूर्ण धार्मिक क्रांति से गुजरे थे। यहां तक कि भारतीय इतिहास भी उसी निष्कर्ष का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त द्वारा संचालित राजनीतिक क्रांति से पहले भगवान बुद्ध की धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी। शिवाजी के नेतृत्व में राजनीतिक क्रांति भी महाराष्ट्र के संतों द्वारा किए गए धार्मिक और सामाजिक सुधारों के बाद हुई थी। सिखों की राजनीतिक क्रांति से पहले गुरु नानक द्वारा की गई धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी। यहां और अधिक दृष्टांत देना अनावश्यक है। इन दृष्टांतों से यह बात प्रकट हो जाएगी कि मन और आत्मा की मुक्ति जनता के राजनीतिक विस्तार के लिए पहली आवश्यकता है।

3

अब मैं समाजवादियों की ओर आता हूं। क्या समाजवादी लोग सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न समस्या की उपेक्षा कर सकते हैं ? भारत के समाजवादी यूरोप में अपने साथियों का अनुसरण करते हुए इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भारत के तथ्यों पर लागू करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य एक आर्थिक प्राणी है। उसके कार्यकलाप और आकांक्षाएं आर्थिक तथ्यों से परिबद्ध और संपत्ति सत्ता का एकमात्र स्रोत है। इसलिए वे इस बात का प्रचार करते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक सुधार केवल भारी भ्रम है और संपत्ति के समानीकरण द्वारा आर्थिक सुधारों को अन्य हर प्रकार के सुधारों से वरीयता दी जानी चाहिए। ऐसे विषयों में से प्रत्येक विषय पर कोई भी चर्चा कर सकता है कि समाजवादियों का यह सिद्धांत आर्थिक सुधार पर आधारित है और प्रत्येक प्रकार के सुधार पर वरीयता दी जानी चाहिए। किसी की भी यह धारणा हो सकती है कि आर्थिक प्रेरणा ही मात्र ऐसी प्रेरणा नहीं है, जिससे व्यक्ति प्रेरित होता है। मानव समाज का कोई भी विद्यार्थी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि आर्थिक शक्ति ही एकमात्र शक्ति है। किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर ही अक्सर शक्ति का स्रोत बन जाता है और उसके प्रभाव से उसका प्राधिकार प्रदर्शित होता है, जैसा कि महात्माओं का सामान्य व्यक्ति के ऊपर प्रभाव रहा है। भारत में लखपति लोग अकिंचन, साधुओं और फकीरों की आज्ञा क्यों मानते हैं ? भारत में लाखों दरिद्र अपनी मामूली चीजों को भी जो उनकी एकमात्र संपत्ति होती है, बेचकर बनारस और मक्का क्यों जाते हैं ? भारत के इतिहास में इस बात का चित्रण है कि धर्म सत्ता का स्रोत है, जहां पुजारी को सामान्य व्यक्ति से अधिक महत्व प्राप्त है और कभी-कभी तो यह प्रथम मजिस्ट्रेट से भी अधिक होता है। भारत में हर चीज, यहां तक कि हड़ताल और चुनाव पर भी आसानी से धर्म का प्रभाव पड़ता है और वह ऐसी घटनाओं को धार्मिक मोड़ दे देता है। व्यक्ति के ऊपर धर्म की शक्ति का एक और उदाहरण देने के लिए हम रोम के प्लेबियन का मामला लेते हैं। यह मामला इस मुद्दे पर व्यापक प्रकाश डालता है। प्लेब लोगों ने रोमन गणराज्य के अधीन सर्वोच्च

कार्यकारी सत्ता में भागीदार होने के लिए लड़ाई लड़ी थी और उन्होंने प्लेबियनों की असेम्बली कोमिटिया सेंचूरियाटा द्वारा गठित पृथक निर्वाचन मंडल द्वारा निर्वाचित एक प्लेबियन वाणिज्य दूत की नियुक्ति कराने में सफलता प्राप्त की थी। वे अपना ही एक कांसुल (वाणिज्य दूत) चाहते थे, क्योंकि वे महसूस करते थे कि पेट्रिशियन वाणिज्य दूत प्रशासन के मामले में प्लेबियनों के साथ भेदभाव करते हैं। उन्होंने स्पष्टतः एक बड़ा लाभ प्राप्त किया था, क्योंकि रोम के गणराज्यीय संविधान के अधीन एक वाणिज्य दूत (कांसुल) को दूसरे वाणिज्य दूत के कार्य को वीटो करने की शक्ति प्राप्त थी। किंतु क्या वास्तव में उन्हें कोई लाभ हुआ ? उत्तर है, नहीं ? प्लेबियनों को ऐसा कोई भी प्लेबियन वाणिज्य दूत नहीं मिल सका, जिसे शक्तिशाली व्यक्ति कहा जा सके और जो पेट्रिशियन वाणिज्य दूत से स्वतंत्र काम कर सके। साधारणतया इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि प्लेबियनों को एक शक्तिशाली प्लेबियन वाणिज्य दूत मिल सकता था, यदि उसका चुनाव पृथक प्लेबियन निर्वाचन मंडल द्वारा किया जाता। प्रश्न यह है कि वे अपना एक मजबूत प्लेबियन वाणिज्य दूत क्यों प्राप्त नहीं कर सके ? इस प्रश्न के उत्तर से पता चलता है कि लोगों के दिमाग पर धर्म का कितना प्रभाव पड़ता है। सारी रोम की जनता में यह एक मान्य प्रथा थी कि कोई भी अधिकारी तब तक अपने कार्यालय की ड्यूटी नहीं संभाल सकता, जब तक कि डेल्फी का ओरेकल यह घोषित न कर दे कि वह देवी को स्वीकार्य है। डेल्फी की देवी के मंदिर के प्रभारी पुजारी सभी पेट्रिशियन थे। इसलिए जब कभी प्लेबियन किसी ऐसे वाणिज्य दूत को चुनते जो पेट्रिशियनों के विरोधी दल का माना जाता था, या यदि भारत में प्रचलित शब्द का प्रयोग करें तो कहेंगे सांप्रदायिक माना जाता था, ऐसी स्थिति में ओरेकल सदा ही यह घोषणा कर देता था कि वह देवी को स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार प्लेबियन को अपने अधिकारों के लिए धोखा दिया जाता था। लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि प्लेबियनों ने स्वयं को इस प्रकार धोखा खाने दिया, क्योंकि पेट्रिशियनों की भांति उनका भी दृढ़ विश्वास था कि किसी अधिकारी द्वारा अपने कर्तव्य का भार ग्रहण करने के लिए देवी का अनुमोदन पहली शर्त है और जनता द्वारा निर्वाचन ही काफी नहीं है। यदि प्लेबियन इस बात का दावा करते कि निर्वाचन ही पर्याप्त है और देवी का अनुमोदन आवश्यक नहीं है तो वे उस राजनीतिक अधिकार का पूरा लाभ उठा सकते थे, जो उन्हें प्राप्त था। किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे एक ऐसा अन्य व्यक्ति चुनने पर सहमत हो गए, जो उनके लिए कम उपयुक्त था, किंतु देवी के लिए अधिक उपयुक्त था, अर्थात् पेट्रिशियनों के लिए अधिक अनुकूल था। धर्म त्यागने की अपेक्षा प्लेबियनों ने उस भौतिक लाभ को त्याग दिया, जिसके लिए उन्होंने इतना कड़ा संघर्ष किया था। क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि धर्म यदि धन से अधिक नहीं, तो उसके बराबर शक्ति का स्रोत हो सकता है ? भारत के समाजवादियों का भ्रम इस कल्पना में निहित है कि चूंकि आज यूरोपीय समाज में संपत्ति सत्ता के स्रोत के रूप में अभिभावी है, इसलिए

यही बात भारत के संबंध में भी सही है और यही बात भूतकाल में यूरोप के संबंध में भी सत्य थी। धर्म, सामाजिक प्रतिष्ठा और संपत्ति, ये सभी सत्ता और प्राधिकार के स्रोत हैं जो एक आदमी के पास दूसरे की आजादी पर नियंत्रण करने के लिए होते हैं। एक स्थिति में एक बात अभिभावी होती है, तो दूसरी स्थिति में अन्य बात अभिभावी होती है। यही एकमात्र अंतर है। यदि स्वतंत्रता आदर्श है, यदि स्वतंत्रता का अर्थ इस प्रभुत्व का विनाश है जो किसी एक व्यक्ति को किसी दूसरे के ऊपर प्राप्त है, तो स्पष्ट है कि इस बात पर बल नहीं दिया जा सकता कि आर्थिक सुधार ही एक इस प्रकार का सुधार है, जिसे हासिल किया जाना चाहिए। यदि शक्ति और प्रभुत्व का स्रोत किसी विशेष समय अथवा किसी विशेष सामाजिक तथा धार्मिक समाज में मौजूद है, तो सामाजिक सुधार और धार्मिक सुधार को आवश्यक सुधार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार कोई भी व्यक्ति भारत के समाजवादियों द्वारा अपनाई गई इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धांत पर प्रहार कर सकता है। किंतु मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या इस समाजवादी दावे की वैधता के लिए आवश्यक नहीं है कि संपत्ति का समानीकरण ही एकमात्र वास्तविक सुधार है और इसे अन्य सभी बातों से वरीयता दी जानी चाहिए। फिर भी, मैं समाजवादियों से पूछना चाहता हूं कि क्या आप पहले सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बिना आर्थिक सुधार कर सकते हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के समाजवादियों ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है। मैं उनके साथ अन्याय नहीं करना चाहता। मैं एक पत्र का उद्धरण देता हूं, जो एक प्रमुख समाजवादी ने मेरे एक मित्र को कुछ दिन पहले लिखा था। इसमें उसने कहा था, ''मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता कि जब तक एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन और इस प्रकार का दुर्व्यवहार रहेगा, तब तक हम भारत में एक मुक्त समाज का निर्माण कर सकेंगे । जैसा कि मैं एक समाजवादी आदर्श में विश्वास करता हूं, तो मैं अवश्य ही विभिन्न वर्गों और समूहों के बीच संपूर्ण समानता के व्यवहार में विश्वास करता हूं। मैं समझता हूं कि समाजवाद इसका तथा अन्य समस्याओं का एकमात्र सही समाधान है।'' अब मैं यह प्रश्न पूछता हूं कि क्या किसी समाजवादी के लिए यह कहना काफी है कि ''मैं विभिन्न वर्गों के साथ व्यवहार में पूर्ण समानता में विश्वास करता हूं।'' यह कहना कि ऐसा विश्वास पर्याप्त है, समाजवाद में जो कुछ निहित है, उसके संबंध में कोई जानकारी नहीं है। यदि समाजवाद एक व्यावहारिक कार्यक्रम है और केवल एक दूर का आदर्श नहीं है, तो किसी समाजवादी के लिए यह प्रश्न नहीं है कि क्या आप समानता में विश्वास करते हो? उसके लिए प्रश्न यह है कि क्या वह इस बात को नापसंद करता है कि एक वर्ग एक व्यवस्था या एक सिद्धांत के रूप में दूसरे वर्ग के साथ दुर्व्यवहार करता रहे और उसका दमन करता रहे और इस तरह अत्याचार और दमन को चलते रहते देखता रहे और इस प्रकार एक वर्ग दूसरे से अलग हो जाए। अब मैं अपनी बात को पूरी

तरह स्पष्ट करने के लिए उन कारणों का विश्लेषण करूंगा जो समाजवाद की प्राप्ति में निहित हैं। अब यह स्पष्ट है कि समाजवादियों द्वारा अपेक्षित आर्थिक सुधार तब तक नहीं हो सकते, जब तक कि सत्ता को हथियाने के लिए क्रांति नहीं होती। सत्ता को सर्वहारा वर्ग द्वारा हथियाना जाना चाहिए। मेरा पहला प्रश्न है कि क्या भारत का सर्वहारा वर्ग यह क्रांति लाने के लिए संगठित हो जाएगा? ऐसे कार्य के लिए व्यक्तियों को कौन प्रेरित करेगा? मुझे लगता है कि अन्य बातें समान रहने पर, केवल एक बात जो किसी व्यक्ति को इस बात की कार्यवाही करने के लिए प्रेरित करेगी, वह यह भावना है कि दूसरा आदमी जिसके साथ वह काम कर रहा है, वह समानता, भाईचारा और इनसे भी बढ़कर न्याय की भावना से प्रेरित है। लोग जब तक यह नहीं जानेंगे कि क्रांति के बाद उनके साथ समानता का व्यवहार होगा और जाति और नस्ल का कोई भेदभाव नहीं होगा, तब तक वे संपत्ति के समानीकरण हेतु क्रांति में शामिल नहीं होंगे। क्रांति का नेतृत्व करने वाले किसी समाजवादी का यह आश्वासन कि मैं जातिप्रथा में विश्वास नहीं करता, मेरे विचार में काफी नहीं है। आश्वासन ऐसा होना चाहिए जिसकी गहरी बुनियाद हो, अर्थात एक देशवासी का मानसिक व्यवहार दूसरे के प्रति व्यक्तिगत समानता और भाईचारे की भावना से भरा हो। क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का सर्वहारा वर्ग गरीब होने के नाते गरीब होते हुए भी गरीब और अमीर के अंतर के अलावा कोई दूसरा अंतर नहीं मानता? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत के गरीब लोग जातियां, नस्ल, ऊंच या नीच के ऐसे भेदों को नहीं मानते? यदि सच्चाई यह है कि वे मानते हैं, तो इस प्रकार के सर्वहारा से अमीरों के विरुद्ध कार्यवाही करने में किस एकता की अपेक्षा की जा सकती है? यदि सर्वहारा वर्ग संगठित रूप में मोर्चा नहीं लगाता तो क्रांति कैसे हो सकती है? तर्क के लिए मान लिया जाए कि सौभाग्य से क्रांति हो जाती है और समाजवादी सत्ता में आ जाते हैं, तो क्या उन्हें उन समस्याओं से नहीं निपटना होगा, जो भारत में प्रचलित विशेष सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं? मैं नहीं समझता कि उन पक्षपातों द्वारा उत्पन्न समस्याओं का सामना किए बिना, जो भारतीय लोगों में ऊंच-नीच, स्वच्छ-अस्वच्छ के भेदभाव पैदा करती हैं, भारत में कोई सामाजिक राज्य एक सैकंड भी कार्य कर सकता है। यदि समाजवादी अच्छी सूक्तियां बोलने से ही संतुष्ट नहीं हैं, और यदि समाजवादी समाजवाद को एक निश्चित वास्तविकता में बदलने के इच्छुक हैं, तो उन्हें स्वीकार करना होगा कि सामाजिक सुधार की समस्या मूलभूत समस्या है और वे इससे बचकर नहीं भाग सकते। भारत में फैली सामाजिक व्यवस्था एक ऐसा मामला है, जिससे समाजवादी को निपटना होगा। जब तक वह ऐसा नहीं करेगा, तब तक वह अपनी क्रांति नहीं ला सकता और यदि सौभाग्य से वह क्रांति लाता भी है तो उसे अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए इस समस्या से जूझना होगा। मेरे विचार से यह एक ऐसा तथ्य है, जो निर्विवाद है। यदि वह क्रांति से पहले जाति की समस्या पर ध्यान नहीं देता है, तो उसे क्रांति के बाद

उस पर ध्यान देना पड़ेगा। इसे हम दूसरी प्रकार यूं कह सकते हैं कि चाहे आप किसी भी दिशा में देखें, जाति एक ऐसा दैत्य है, जो आपके मार्ग में खड़ा है। आप जब तक इस दैत्य को नहीं मारोगे, आप न कोई राजनीतिक सुधार कर सकते हैं, न कोई आर्थिक सुधार।

4

खेद है कि आज भी जातिप्रथा के समर्थक मौजूद हैं। इसके समर्थक अनेक हैं। इसका समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि जातिप्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का एक अनिवार्य लक्षण है, तो यह दलील दी जाती है कि जातिप्रथा में कोई बुराई नहीं है। इस विचार के विरुद्ध पहली बात यह है कि जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है यह श्रमिकों का विभाजन भी है। इसमें संदेह नहीं है कि सभ्य समाज को श्रम का विभाजन करने की आवश्यकता है। किंतु किसी भी सभ्य समाज में श्रम के विभाजन के साथ इस प्रकार के पूर्णत: अलग वर्गों में श्रमिकों का अप्राकृतिक विभाजन नही होता। जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम में होता है। किसी भी अन्य देश में श्रम के विभाजन के साथ श्रमिकों का इस प्रकार का क्रम नहीं होता। जातिप्रथा के इस विचार के विरुद्ध एक तीसरा तथ्य भी है। श्रम का यह विभाजन स्वत: नहीं होता। यह स्वाभाविक अभिरुचि पर आधारित नहीं है। सामाजिक और वैयक्तिक कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता को इस बिंदु तक विकास किया जाए कि वह अपनी जीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जातिप्रथा में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों को पहले से ही कार्य सौंपने का प्रयास किया जाता है, जिसका चुनाव प्रशिक्षित मूल क्षमताओं के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि माता-पिता के सामाजिक स्तर पर होता है। एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो व्यवसायों का यह स्तरण जो जातिप्रथा का परिणाम है, निश्चय ही घातक है। उद्योग कभी भी स्थिर नहीं होता। इसमें तेजी से और अचानक परिवर्तन होते हैं। ऐसे परिवर्तनों से व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने की छूट होनी चाहिए। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को अपने आपको ढालने की ऐसी स्वतंत्रता के बिना, उसके लिए अमनी आजीविका कमाना असंभव हो जाएगा। जातिप्रथा हिन्दुओं को ऐसे व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं देगी, जहां उनकी जरूरत है, यदि वे आनुवंशिक रूप से उनसे संबंधित नहीं हैं। यदि कोई हिन्दू अपनी जाति के लिए निर्धारित पेशे के अलावा नए पेशे को अपनाने की बजाय भूखा मरता दिखाई देता है, तो उसका कारण जातिप्रथा की कठोरता ही है। पेशों के पुनर्समायोजन की छूट न देकर अधिकतर बेरोजगारी फैलती है, जिसका सीधा कारण जातिप्रथा है, जो हमारे देश में मौजूद है। श्रम के विभाजन के रूप में जातिप्रथा में एक और गंभीर दोष है। जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न श्रम का विभाजन छांट पर आधारित विभाजन नहीं है। इसमें वैयक्तिक भावना और वैयक्तिक वरीयता का कोई स्थान नहीं है। इसका आधार

पूर्व-नियति का सिद्धांत है। सामाजिक कार्यकुशलता का विचार हमें इस बात को स्वीकार करने पर विवश करता है कि औद्योगिक प्रणाली में सबसे बड़ा दोष केवल निर्धनता नहीं है। इस प्रणाली में जो बड़ा कष्ट है, वह यह है कि बहुत ज्यादा लोग ऐसे व्यवसायों में लगे हैं, जिनके प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी ऐसे को व्यवसाय से निरंतर लगा रहना पड़े तो उस व्यक्ति को उससे पीछा छुड़ाने, उसके प्रति सद्भावना न होने और उससे बचने की इच्छा होती है। भारत में अनेक ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें हिन्दू निकृष्ट मानते हैं, इसलिए जो लोग उनमें लगे हैं, वे उनसे पीछा छुड़ाने को आतुर रहते हैं। ऐसे व्यवसायों से बचने और उन्हें त्यागने की निरंतर इच्छा बनी रहती है। इसका एकमात्र कारण वह निराशाजनक प्रभाव है, जो उन पर हिन्दू धर्म द्वारा उनके ऊपर आरोपित कलंक के कारण पड़ता है। ऐसी व्यवस्था में क्या कार्यकुशलता हो सकती है, जिसमें न तो लोगों के दिल और न दिमाग अपने काम में होते हैं? इसलिए एक आर्थिक संगठन के रूप में जातिप्रथा एक हानिकारक व्यवस्था है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वाभाविक शक्तियों का दमन रहता है और सामाजिक नियमों की तत्कालीन आवश्यकताओं की प्रवृत्ति होती है।

5

कुछ लोगों ने जातिप्रथा के समर्थन में जैविक दलील दी है। कहा जाता है कि जाति का उद्देश्य प्रजाति की शुद्धता और रक्त की शुद्धता को परिरक्षित रखना है। अब नृजाति वैज्ञानिकों का मत है कि विशुद्ध प्रजाति के लोग कहीं नहीं हैं और संसार के सब भागों में सभी जातियों का मिश्रण है, विशेषकर भारत के लोगों के मामले में तो यह स्थिति आवश्यक है। श्री डी.आर. भंडारकर ने 'हिन्दू जनसख्या में विदेशी तत्व' (फारेन एलीमेंट्स इन द हिन्दू पॉपूलेशन) विषय पर अपने प्रलेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी, जिसमें विदेशी वंश का मिश्रण न हो। न केवल राजपूत और मराठा जैसी योद्धा जातियों में विदेशी रक्त का मिश्रण है, बल्कि ब्राह्मणों में भी है, जो इस सुखद भ्रांति में हैं कि वे सभी विदेशी तत्वों से मुक्त हैं।" जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में, जातिप्रथा का जन्म भारत की विभिन्न प्रजातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिलने के बहुत बाद में हुआ। यह मानना कि जातियों की विभिन्नताएं अथवा प्रजाति की वास्तविक विभिन्नताएं और विभिन्न जातियों के संबंध में यह मानना कि वे इतनी ही अधिक विभिन्न प्रजातियां थीं, तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना है।

पंजाब के ब्राह्मणों और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या जातीय संबंध है ? बंगाल के अछूतों और मद्रास के अछूतों में क्या जातीय संबंध है ? पंजाब के ब्राह्मणों और पंजाब के चमारों में क्या जातीय अंतर है ? मद्रास के ब्राह्मणों और मद्रास के पेरिया में क्या जातीय अंतर है ? जाति की दृष्टि से पंजाब का ब्राह्मण उसी प्रजाति का है, जिसका पंजाब का चमार है, और मद्रास के ब्राह्मण की वही जाति है जो मद्रास के पेरिया की। जातिप्रथा मानव-वंश या प्रजाति

के विभाजन का निर्धारण नहीं करती। जातिप्रथा तो एक ही प्रजाति के लोगों का सामाजिक विभाजन है। यदि यह मान लिया जाए कि जातिप्रथा मानव प्रजाति को विभाजित कर देती है तो यह भी सवाल किया जा सकता है कि अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अंतर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे में समागम से क्या हानि होगी? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है, उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग जीव-रूपों की मान्यता देता है, लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण-हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ यह नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजाति के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक-दूसरे की उप-जातियों में विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं-ऐसी संतानें, जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगी, और जो बंध्या न होंगी। जातिप्रथा के पक्ष में आनुवंशिकता और सुजननिकी की तर्कहीन बातें बताई जाती हैं। अगर जातिप्रथा सुजननिकी (यूरनिक्स) के मूलभूत सिद्धांत के अनुकूल होती तो इसमें किसी को आपत्ति न होती, क्योंकि किसी को भी उत्तम व्यक्तियों द्वारा समागम से जाति की किस्म में सुधार लाने में आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि जातिप्रथा के कारण उत्तम स्त्रियों और पुरुषों में सही समागम किस प्रकार सुनिश्चित होता है। जातिप्रथा नकारात्मक तथ्य है। यह केवल अलग-अलग जातियों के लोगों को आपस में अंतर्विवाह का निषेध करती है। यह ऐसा सकारात्मक उपाय नहीं है, जिससे एक ही जाति के दो उत्तम नर-नारी आपस में विवाह कर सकें। यदि जाति का उद्‌गम सुजननिकी के सिद्धांत पर आधारित है, तो उप-जातियों का प्रादुर्भाव भी सुजननिकी के आधार पर ही होना चाहिए। लेकिन क्या कोई गंभीरतापूर्वक यह कह सकता है कि उप-जातियों का उद्‌गम सुजननिकी के कारण हुआ है ? मैं समझता हूं कि स्पष्ट कारणों से ऐसा मानना बहुत ही असंगत है। अगर जाति का आशय प्रजाति या नस्ल से है, तो उप जातियों में पाए जाने वाले अंतर को प्रजातीय अंतर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तब उप-जातियां भी उसी परिकल्पना के आधार पर उसी एक मूल नस्ल की उप-खंड होंगी। इससे स्पष्ट है कि उप-जातियों में आपस में रोटी-बेटी के व्यवहार पर रोक लगाने का उद्देश्य प्रजाति या रक्त की शुद्धता बनाए रखना नहीं हो सकता। फिर यदि उप-जातियों का उद्‌गम सुजननिकी ही हो सकता, तो इस कथन में कोई दम नहीं है कि प्रजाति का उद्‌गम सुजननिकी है। फिर अगर यह मान भी लिया जाए कि जाति का उद्‌गम सुजननिकी के प्रयोजन से है, तो अंतर्विवाह संबंधी निषेध समझ में आ जाता है। लेकिन विभिन्न जातियों के बीच और विभिन्न उप-जातियों के बीच खान-पान पर भी निषेधाज्ञा लगाने का क्या प्रयोजन है ? आपस में खान-पान से तो रक्त पर असर नहीं पड़ता और इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि इससे प्रजाति या नस्ल सुधरेगी या खराब होगी। इससे सिद्ध है कि जाति का कोई भी वैज्ञानिक उद्‌गम कारण नहीं है और जो

इसे सुजननिकी के आधार पर सही बताना चाहते हैं, वे विज्ञान का नाम लेकर घोर अवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। सुजननिकी को व्यावहारिक संभावना के रूप में तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक हमें आनुवंशिकता के नियमों का पक्का ज्ञान न हो जाए। प्रो.बेटसन अपनी पुस्तक 'मेंडेल्स प्रिंसिपल्स ऑफ हैरिडिटी' में कहते हैं, ''यदि संतान में बेहतर मानसिक गुण आए तो उसी के आधार पर यह कहना संभव नहीं है कि वे केवल किसी विशेष वंश-परंपरा के गुण के कारण ही आए हैं। हो सकता है कि जो गुण संतान में आए हैं, या जो शारीरिक शक्ति उसमें अधिक मात्रा में है, वह अनेक कारणों के होने से घटित है, न कि केवल एक आनुवंशिक तत्व के उसके शरीर में होने के कारण।'' यदि यह तर्क दिया जाए कि जातिप्रथा सुजननिकी की परिकल्पना का परिणाम था, तो उसका आशय वह होगा कि आज के हिन्दुओं के पूर्वज आनुवंशिकता के विषय में उस ज्ञान से संपन्न थे, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के पास भी नहीं है। पेड़ की जांच उसके फलों से की जानी चाहिए। अगर जाति सुजननिकी के आधार पर होती, तो उससे किस नस्ल के आदमी पैदा होने चाहिए थे ? जहां तक शारीरिक क्षमता का संबंध है, उसमें हिन्दू प्रजाति सबसे घटिया किस्म (सी-3) की है। वह छोटे आकार के बोनों की जाति है, जिनका शारीरिक विकास अवरुद्ध है और जिनमें 'दम' नहीं है। भारत ऐसा राष्ट्र है, जिसकी नब्बे प्रतिशत जनता सैनिक सेवा के लिए अयोग्य है। इससे स्पष्ट है कि जाति प्रथा आधुनिक वैज्ञानिकों की सुजननिकी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जातिप्रथा एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शान और स्वार्थ की प्रतीक है, जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इस जातिप्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जोर-जबरदस्ती के बल पर अपने से निचले तबके के लोगों पर लागू किया।

6

जातिप्रथा से आर्थिक उन्नति नहीं होती। जातिप्रथा से न तो नस्ल या प्रजाति में सुधार हुआ है और न ही होगा। लेकिन इससे एक बात अवश्य सिद्ध हुई है कि इससे हिन्दू समाज पूरी तरह छिन्न-भिन्न और हताश हो गया है।

सबसे पहले हमें यह महत्वपूर्ण तथ्य समझना होगा कि हिन्दू समाज एक मिथक मात्र है। हिन्दू नाम स्वयं विदेशी नाम है। यह नाम मुसलमानों ने भारतवासियों को दिया था, ताकि वे उन्हें अपने से अलग कर सकें। मुसलमानों के भारत पर आक्रमण से पहले लिखे गए किसी भी संस्कृत ग्रंथ में इस नाम का उल्लेख नहीं मिलता। उन्हें अपने लिए किसी समान नाम की जरूरत महसूस नहीं हुई थी, क्योंकि उन्हें ऐसा नहीं लगता था कि वे किसी विशेष समुदाय के हैं। वस्तुत: हिन्दू समाज नामक कोई वस्तु है ही नहीं। यह अनेक जातियों का समवेत रूप है। प्रत्येक जाति अपने अस्तित्व से परिचित है। वह अपने सभी समुदायों में व्याप्त है और सबको स्वयं में समाविष्ट किए हुए है और इसी में उसका अस्तित्व है। जातियों का कोई

मिला-जुला संघ भी नहीं है। किसी भी जाति को यह महसूस नहीं होता कि वह अन्य जातियों से जुड़ी हुई है - सिर्फ उस समय को छोड़कर, जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं। अन्य सभी अवसरों पर तो प्रत्येक जाति यह कोशिश करती है कि वह अपनी अलग सत्ता को ठीक से बनाए रखे और दूसरों से स्पष्ट रूप से अलग रहे। प्रत्येक जाति अपनों में ही खान-पान और शादी ब्याह का संबंध रखती है, यहां तक कि हर जाति अपना एक अलग पहनावा तक निश्चित करती है। इस बात से अलग दूसरा कारण क्या हो सकता है कि भारत के नर-नारी असंख्य किस्मों के परिधान पहनते हैं, जो कि पर्यटकों के लिए हैरानी का कारण है। दरअसल, हर आदर्श हिन्दू उस चूहे की तरह है जो अपने ही बिल में घुसा रहता है और दूसरों के संपर्क में नहीं आना चाहता। हिन्दुओं में उस चेतना का सर्वथा अभाव है, जिसे समाजविज्ञानी- 'समग्र वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना समग्र वर्ग से संबंधित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी ही जाति के बारे में होती है। किसी कारण यह कहा जाता है कि हिन्दू लोग अपना समाज या राष्ट्र नहीं बना सकते। लेकिन अनेक भारतीयों की देशभक्ति की भावना उन्हें यह मानने की अनुमति नहीं देती कि वे एक राष्ट्र नहीं है अथवा वह विभिन्न समुदायों का मात्र एक अव्यवस्थित समूह है। वे इस पर आग्रह करते हैं कि ऊपर से अलग-अलग दिखने वाली हमारी जनता में एक मूलभूत एकता है, जो हिन्दुओं के जीवन की विशेषता है, क्योंकि उनकी आदतों, प्रथाओं, विश्वासों और विचारों में एकरूपता है, जो भारत में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके स्वभाव, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना स्वीकार्य नहीं होगा कि हिंन्दू जनता को हिन्दू समाज की स्थिति प्राप्त है, ऐसा मान लेने का अर्थ है - समाज-रचना के अपरिहार्य तत्त्वों को सही रूप में न समझना। केवल भौतिक दृष्टि से पास-पास रहने के कारण लोगों को उस व्यक्ति से अधिक समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती जो अपने समाज से मीलों दूर रहने पर अपने समाज का सदस्य नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि केवल आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों की समानता होने से ही व्यक्तियों को 'समाज' नहीं कहा जा सकता। चीजें भौतिक रूप से एक से दूसरे व्यक्ति के पास पहुंच सकती हैं - जैसे ईंटें। इसी तरह एक समुदाय की आदतें, रीति-रिवाज, धारणाएं और विचार भी दूसरे समुदाय द्वारा अपनाए जा सकते हैं और इस तरह दोनों समुदायों में समानता प्रतीत हो।

संस्कृति विकीर्ण होकर फैलती है और इसी कारण पास-पास न रहते हुए भी अनेक आदिम जातियों की आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता दिखाई देती है। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता क्योंकि इन आदिम जातियों में समानता है, इसलिए उनका एक समाज है। कुछ बातों में समानता एक समाज के निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है। लोग एक समाज का निर्माण करते हैं, क्योंकि वे समान रूप से व्यवहार करते हैं। व्यवहार में समभाव का होना समानुरूप से व्यवहार करने से सर्वथा भिन्न है। चीजों को समभाव रूप

में अपनाने का एकमात्र उपाय यही है कि सभी का एक-दूसरे से पूरा-पूरा संपर्क रहे। इसी बात को दूसरे ढंग से कह सकते हैं कि समाज आपसी संपर्क और आपसी संवाद को सतत जारी रखकर ही अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। मूर्तरूप से कहा जाए तो सिर्फ यही काफी नहीं है कि सभी लोग वैसे ही आचरण करें, जैसे अन्य लोग कर रहे हैं। अगर अलग-अलग लोग एक जैसा ही सब कुछ कर रहे हैं, तो भी उन्हें उसी समाज का अंग नहीं माना जा सकता। यह इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के लोग एक से ही त्यौहार मनाते हैं। लेकिन अलग-अलग जातियों द्वारा उन्हीं त्यौहारों के मनाए जाते रहने के बावजूद वे एक समाज में नहीं बंध पाए हैं। इसके लिए यह अनिवार्य है कि सभी लोग किसी सामूहिक कार्य में इस प्रकार मिल-जुलकर बराबरी से हिस्सा लें या भागीदारी करें कि उन सभी में भी वे ही भाव हों जिनसे शेष अन्य लोग अनुप्राणित होते हैं। लोगों को जो चीज आपस में एक सूत्र में बांधती है और उन्हें एक समाज में पूरी तरह शामिल करती है, वह यह है कि हरेक व्यक्ति को सामाजिक गतिविधियों में इस तरह हिस्सेदार या भागीदार बनाया जाए, ताकि उसकी सफलता में उसे स्वयं अपनी सफलता और उसकी विफलता में अपनी विफलता दिखाई दे। जातिप्रथा इस प्रकार की सामूहिक गतिविधियों का आयोजन नहीं होने देती और सामूहिक गतिविधियों को इस प्रकार वर्जित करके ही उसने हिन्दुओं को एक ऐसे समाज के रूप में उभरने से रोका है, जिसमें सभी समुदाय एक होकर जिएं और उनमें एक ही चेतना व्याप्त हो जाए।

7

हिन्दू लोग प्राय: यह शिकायत करते हैं कि समाज में अलग से असामाजिक तत्त्वों का कोई दल है जो असामाजिक बुराइयों या भावना का कारण है, लेकिन वे अपनी सुविधा के लिए यह भूल जाते हैं कि यह असामाजिक भावना उनकी अपनी जातिप्रथा का ही एक सबसे घृणित पक्ष है। एक जाति के लोग आनंद लेकर ऐसे गीत गाते हैं, जिनमें दूसरी जाति के प्रति नफरत छिपी रहती है। पिछले विश्व युद्ध में जर्मन लोगों ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध ऐसे ही अपमान भरे गीत गाए थे। हिन्दुओं के साहित्य में जाति विशेषों के उद्गम के संबंध में ऐसे अनेक गीत आदि हैं, जिनमें एक जाति को सर्वोच्च और दूसरी को निंदा का पात्र बनाने का प्रयास किया गया है। ऐसे साहित्य का एक घृणित नमूना 'सहयाद्रिखंड' है। यह असामाजिक भावना जाति तक ही सीमित नहीं है। इसकी जड़ें और भी गहरी हैं और इसने उप-जातियों के आपसी संबंधों को भी विकृत कर दिया है। मेरे अपने प्रांत में स्वयं ब्राह्मणों की ही अनेक उप-शाखाएं हैं, जैसे गोलक ब्राह्मण, देवरुख ब्राह्मण, कराड ब्राह्मण, पाल्श ब्राह्मण और चितपावन ब्राह्मण। लेकिन इनमें परस्पर जो असामाजिकता की भावना है, वह उतनी ही अधिक एवं उतनी ही उग्र है, जैसे कि ब्राह्मणों और अन्य गैर-ब्राह्मण जातियों के बीच में है। लेकिन इसमें कोई विचित्रता नहीं है। जब भी कोई समुदाय अपने स्वार्थ से प्रेरित हो जाता है तो उसमें असामाजिकता की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण वह

समुदाय अन्य समुदायों से पूरा संवाद और संपर्क करना बंद कर देता है, क्योंकि वह अपने स्वार्थ की सुरक्षा करना ही अपना उद्देश्य मान बैठता है। यह असामाजिक भावना, अर्थात् अपने स्वार्थ की रक्षा की भावना ही विभिन्न जातियों के एक-दूसरे से अलग होने का एक वैसा ही विशिष्ट लक्षण है, जैसा कि अलग-अलग राष्ट्रों का। ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर-ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें और गैर-ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थ की रक्षा करें। इसलिए हिन्दू समुदाय विभिन्न जातियों का एक संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। उसका हर विरोधी वर्ग स्वयं अपने लिए और अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही जीवित रहना चाहता है। इस जातिप्रथा का एक और निंदनीय पक्ष भी है। अंग्रेजों के पूर्वजों ने 'वार ऑफ द रोजेज' और 'क्रॉमवेलियन वार' से एक पक्ष की ओर से या दूसरे पक्ष की ओर से (युद्ध में) भाग लिया था। लेकिन जिन लोगों ने इनमें से किसी एक के पक्ष में युद्ध में भाग लिया, उनके आज के वंशज दूसरे पक्ष की ओर से भाग लेने वालों के वंशजों के विरुद्ध किसी प्रकार की बदले की भावना नहीं रखते। वे इस आपसी लड़ाई को भूल चुके हैं। लेकिन आजकल के गैर-ब्राह्मण आजकल के ब्राह्मणों को इसलिए क्षमा नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि उनके पूर्वजों ने शिवाजी का अपमान किया था। इसी तरह आजकल के कायस्थ भी आजकल के ब्राह्मणों को इसीलिए माफ नहीं कर रहे हैं, क्योंकि ब्राह्मणों के पूर्वजों के पूर्वजों ने उनके पूर्वजों के पूर्वजों का अपमान किया था। अंग्रेजों और भारतीयों में ऐसा अंतर क्यों ? स्पष्ट है कि यह जातिप्रथा के कारण ही है। विभिन्न जातियों के होने के कारण और जातिगत चेतना के कारण ही विभिन्न जातियों के आपस के अतीत के विरोध भुलाए नहीं जा सके हैं। और इसी कारण जातियों में एकात्मता नहीं आ पाई है।

8

देश के विभिन्न असम्मिलित क्षेत्रों और अंशत: सम्मिलित क्षेत्रों के बारे में आजकल जो चर्चा चल रही है, उससे भारत में मूल जन-जातियों की स्थिति पर लोगों का ध्यान गया है। इन जातियों के लोगों की संख्या कम से कम लगभग एक करोड़ तीस लाख होगी। यदि हम इस प्रश्न को छोड़ दें कि नए संविधान में उन्हें सम्मिलित न करना सही है या गलत, सच यह है कि हालांकि हमारा देश इस बात पर गर्व करता है कि हमारी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है, ये मूल आदिम जातियां इसी पुरानी असभ्य स्थिति में रह रही हैं। न केवल वे असभ्य स्थिति में हैं, बल्कि कुछ जातियों के काम-धंधे भी इसी प्रकार के हैं कि उन सबको आपराधिक जातियों में वर्गीकृत कर दिया गया है। इसी तरह हमारी आज की भरी-पूरी सभ्यता की अवस्था में भी एक करोड़ तीस लाख आदमी अभी भी जंगलियों की तरह रह रहे हैं। और वंश-परंपरागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं ! लेकिन हिन्दुओं को इसमें कभी कोई शर्म महसूस नहीं हुई। मैं समझता हूं कि यह एक ऐसी घटना है, जो अन्यत्र कहीं नहीं है। इस शर्मनाक स्थिति का क्या कारण है ? इन आदिम जातियों को सभ्य बनाने का

और उन्हें सम्मानजनक ढंग से जीविका दिलाने का प्रयास क्यों नहीं किया गया ? हिन्दू लोग उनकी इस बर्बर अवस्था का यह कारण बताएंगे कि वे जन्म से ही जंगली हैं। वे यह कभी नहीं मानेंगे कि ये आदिम जातियां इस कारण जंगली की जंगली रह गई हैं, क्योंकि हिन्दू लोगों ने उन्हें सभ्य बनाने, उन्हें चिकित्सीय सहायता देने, उन्हें सुधारने और उन्हें अच्छा नागरिक बनाने का कोई प्रयास ही नहीं किया। अब मान लें कि कोई हिन्दू भी इन मूल निवासियों के लिए वह सब कुछ करना चाहता है, जो ईसाई प्रचारक कर रहा है तो क्या वह वैसा कर पाता ? मैं कहता हूं, नहीं। मूल निवासियों को सभ्य बनाने का आशय होगा, अपने ही लोगों की तरह उन्हें अपना बनाना, उनके बीच जाकर रहना और उनके बीच बंधुता की भावना विकसित करने की कोशिश करते रहना। किसी हिन्दू के लिए ऐसा करना कैसे संभव है ? उसकी पूरी जिंदगी अपनी जाति को बनाए रखने की भरसक कोशिश तक ही सीमित है। जाति ही उसकी वह अमूल्य निधि है, जिसकी उसे हर कीमत पर रक्षा करनी है। उसे यह कभी सहन नहीं हो सकता कि वह उस निधि को उन मूल आदिम जातियों से संपर्क करने में गंवा दे, जिन्हें वैदिक-काल से ही नीच अनार्यों का अंश माना जाता रहा है। ऐसा नहीं है कि हिन्दुओं को पतित मानवता के उत्थान की कर्तव्य-भावना सिखाई ही नहीं जा सकती। लेकिन कठिनाई यह है कि चाहे उनमें कितनी ही कर्तव्य-भावना क्यों न भर दी जाए, उनकी अपनी जाति की रक्षा की उनकी कर्तव्य-भावना उन पर हमेशा विजय पा लेगी। इसलिए जाति ही वह मुख्य स्पष्टीकरण है, जिसके कारण हिन्दुओं ने स्वयं सभ्य हो जाने के बावजूद जंगली जातियों को जंगली ही बने रहने दिया है और इसमें उन्हें न तो लज्जा का अनुभव होता है, न ही बुरा लगता है और न कोई पश्चात्ताप होता है। हिन्दू यह नहीं समझ पाए हैं कि इन मूल निवासियों से उन्हें कभी भी खतरा हो सकता है। अगर ये जंगली लोग जंगली ही बने रहे, तो शायद उनसे हिन्दुओं को कोई खतरा न हो। लेकिन अगर गैर-हिन्दू उन्हें अपना लें और अपने धर्म में उनका धर्म-परिवर्तन कर लें, तो हिन्दुओं के शत्रुओं की संख्या बढ़ जाएगी। अगर ऐसा हुआ तो उसका कारण स्वयं हिन्दू लोग और उनकी जातिप्रथा होगी।

9

हिन्दुओं ने न केवल.वन्य जातियों को सभ्य बनाने का मानवतावादी कार्य करने का कोई प्रयास नहीं किया, बल्कि ऊंची जाति वाले हिन्दुओं ने जान-बूझकर हिन्दू समाज की निचली जातियों को ऊंची जाति के सांस्कृतिक स्तर तक ऊपर उठने की मोहलत नहीं दी। मैं उसके दो उदाहरण देता हूं : एक है सुनार समुदाय जाति और दूसरा पाठारे प्रभु समुदाय। ये दोनों ही समुदाय महाराष्ट्र में काफी मशहूर हैं। ये दोनों ही समुदाय ब्राह्मणों के तौर-तरीकों और आदतों को अपनाने की कोशिश करते हुए अपनी सामाजिक हैसियत बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। शेष अन्य समुदाय भी ऐसा ही करते थे। सुनार लोग अपने को दैवज्ञ ब्राह्मण बताते थे और धोती को दोहरी करके पहनते थे तथा 'नमस्कार' कहकर अभिवादन करते थे। धोती

को पहनने का यह ढंग और नमस्कार करना, ये दोनों ही ब्राह्मणों के खास रिवाज थे। ब्राह्मणों ने उनकी इस नकल को पसंद नहीं किया और न ही सुनारों के इस प्रयास को पसंद किया कि लोग उन्हें भी ब्राह्मण समझें। उन्होंने पेशवा के प्राधिकार से सुनारों के ब्राह्मणों वाले तौर-तरीके अपनाने के प्रयास को बंद कराने में सफलता प्राप्त कर ली। उन्होंने बंबई स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी परिषद् के अध्यक्ष से सुनारों के विरुद्ध निषेधाज्ञा भी जारी करवा दी। पाठारे प्रभु संप्रदाय में किसी समय विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा थी। लेकिन उस जाति के कुछ लोग विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा को कुछ समय के बाद सामाजिक पिछड़ेपन का प्रतीक मानने लगे, जिसका खास कारण यह था कि यह ब्राह्मणों में प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल थी। इसलिए पाठारे प्रभु समुदाय के कुछ लोगों ने अपने समुदाय का स्तर ऊंचा करने के लिए अपनी जाति में प्रचलित विधवा विवाह प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया। पूरा समुदाय दो खेमों में बंट गया। एक पुनर्विवाह के पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। पेशवा ने उन लोगों का पक्ष लिया, जो विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे और इस तरह उन्होंने पाठारे प्रभु समुदाय को ब्राह्मणों के तौर-तरीके अपनाने से रोक दिया। हिन्दू लोग मुसलमानों की इसलिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने तलवार के बल पर अपना धर्म फैलाया। वे ईसाई धर्म का भी इसलिए उपहास करते हैं कि वे धर्म न्यायाधिकरण के आदेश से काम करते हैं। लेकिन यदि सच पूछा जाए तो हमारे आदर का अधिक पात्र कौन है ? वे मुसलमान या ईसाई जो बलपूर्वक अनिच्छुक व्यक्तियों को वह सब करने के लिए विवश कर देते हैं जिसे वे उनकी मुक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं, अथवा वे हिन्दू जो ज्ञान का प्रकाश फैलाने नहीं देते, जो दूसरों को अंधेरे में रखने की कोशिश करते रहते हैं, जो अपने बौद्धिक और सामाजिक दाय को उन लोगों के साथ मिल-बांटना नहीं चाहते, जो उस दाय को अंगीकृत करने के लिए पूरी तरह तैयार और इच्छुक हैं ? मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि अगर मुसलमानों को क्रूर माना जाए तो हिन्दुओं को भी निकृष्ट माना जाना चाहिए और निकृष्टता क्रूरता से भी अधिक निंदनीय है।

10

हिन्दू धर्म प्रचारमूलक धर्म था या नहीं, यह विवादास्पद है। कुछ लोगों का विचार है कि यह प्रचारमूलक धर्म कभी नहीं रहा। दूसरों की यह मान्यता है कि यह प्रचारमूलक था तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि किसी समय यह प्रचारमूलक अवश्य रहा होगा, क्योंकि यह अगर ऐसा न होता तो इसका प्रसार पूरे भारत में सर्वत्र न हो पाता। यह तथ्य भी अवश्य स्वीकार करना होगा कि आज यह प्रचारमूलक नहीं रह पाया है। इसलिए सवाल यह नहीं है कि हिन्दू धर्म प्रचारमूलक धर्म था या नहीं। असली सवाल यह कि हिन्दू धर्म प्रचारमूलक क्यों नहीं रह पाया ? मेरे पास इसका यह जवाब है कि हिन्दू धर्म तब से प्रचारमूलक धर्म नहीं रह गया, जब से हिन्दुओं में जातिप्रथा का उद्गम हुआ। जातिप्रथा धर्म-परिवर्तन नहीं होने देती। धर्म-परिवर्तन में सिर्फ यही समस्या नहीं होती कि नई धारणाएं

और नए सिद्धांत अपना लिए जाएं बल्कि दूसरी और सबसे बड़ी समस्या इसमें यह पैदा होती है कि धर्म-परिवर्तित व्यक्ति को किस जाति में स्वीकार किया जाए ? जो भी हिन्दू अन्य धर्मियों को अपने धर्म में शामिल करना चाहता है, उसे यह समस्या अनिवार्य रूप से झेलनी पड़ती है। किसी क्लब की सदस्यता तो सबके लिए समान रूप से खुली रहती है, किंतु किसी जाति विशेष की सदस्यता हर ऐरे-गैरे के लिए नहीं खुली रहती। जाति का नियम ही यह है कि उसकी सदस्यता उसी जाति में उत्पन्न व्यक्ति को प्राप्त होती है। जातियां स्व-शासित होती हैं। किसी को कहीं भी यह अधिकार नहीं है कि किसी जाति को किसी बात के लिए विवश करे कि वह अपने सामाजिक जीवन में किसी नव-आगन्तुक को स्वीकार कर ले। हिन्दू समाज अनेक जातियों का समूह है, और क्योंकि हर-एक जाति एक बंद निगमित संस्था की तरह है, इसलिए धर्म-परिवर्तित व्यक्ति के लिए (किसी भी जाति में) कहीं कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार इस जातिप्रथा ने ही हिन्दुओं को हिन्दू धर्म फैलाने से रोका और अन्य धार्मिक समुदायों को इसमें लीन होने से रोका। अत: जब तक जातिप्रथा रहेगी, हिन्दू धर्म को प्रचारात्मक धर्म नहीं बनाया जा सकता और शुद्धि न केवल मूर्खता होगी, बल्कि निरर्थक भी होगी।

11

हिन्दू समुदाय जिन कारणों से शुद्धि करने में असमर्थ है, उन्हीं कारणों से उनका संगठन भी असंभव है। संगठन का मूल आधार यह है कि हिन्दुओं के मन से उस कायरता और बुजदिली को हटा दिया जाए, जिसके कारण वह मुसलमानों और सिखों से अलग हो जाते हैं तथा अपनी रक्षा के लिए वीरता के स्थान पर चालाकी और धोखेबाजी के घटिया तरीके अपनाते हैं। एक स्वाभाविक प्रश्न यह है कि सिख या मुसलमान को वह शक्ति कहां से प्राप्त होती है, जिससे वह बहादुर और निडर बन जाता है। मेरा विश्वास है कि यह इसलिए नहीं है कि उनके शरीर में अपेक्षाकृत अधिक शक्ति होती है, या उनकी खुराक अधिक अच्छी है, या वे अधिक व्यायाम करते हैं। यह शक्ति उनके मन में उत्पन्न इस भावना के कारण है कि अगर किसी सिख पर खतरा होगा तो सारे सिख उसके बचाव के लिए दौड़े आएंगे और यदि मुसलमान पर हमला हुआ, सारे मुसलमान उसकी मदद को आएंगे। हिन्दुओं के पास ऐसी शक्ति नहीं है। उसके मन में यह विश्वास नहीं है कि शेष हिन्दू उसके बचाव के लिए आएंगे। अकेले होने और भाग्य से अकेले रहने के इस अहसास के कारण वह शक्तिहीन रहता है। उसके मन में बुजदिली और कायरता घर कर जाती है और लड़ाई होने पर या तो वह आत्म-समर्पण कर देता है, या भाग जाता है। दूसरी ओर सिख या मुसलमान निडर होकर लड़ता रहता, क्योंकि उसे पता है कि अकेला होने के बावजूद वह अकेला नहीं रहेगा। उसके मन में इस विश्वास का होना उसे लड़ते रहने में सहायक होता है और दूसरे में इस विश्वास का अभाव पराजय स्वीकार करने की स्थिति पैदा कर देता है। यदि इस विषय का और आगे अध्ययन किया जाए और यह पता लगाया जाए कि सिखों और मुसलमानों में इस आत्म-

विश्वास का क्या कारण है और हिन्दुओं में मदद और बचाव के विषय में इतनी निराशा क्यों भरी हुई है, तो आपको ज्ञात होगा कि इसका कारण उनके अपने रहन-सहन के तौर-तरीकों में अंतर है। एक ओर सिखों और मुसलमानों के आपसी रहन-सहन का तरीका, उनमें भाईचारे की भावना पैदा करता है। दूसरी ओर हिन्दुओं के आपसी रहन-सहन के तौर-तरीके इस भावना को पैदा होने नहीं देते। सिखों और मुसलमानों में एकता का वह सामाजिक तत्व है, जो उन्हें भाई-भाई बनाता है। हिन्दुओं में एकता का ऐसा कोई तत्व नहीं है और कोई भी हिन्दू दूसरे हिन्दू को अपना भाई नहीं मानता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सिख लोग ऐसा क्यों कहते और सोचते हैं कि एक सिख या एक खालसा सवा लाख आदमियों के बराबर होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि एक मुसलमान हिन्दुओं की भीड़ के बराबर क्यों है। नि:संदेह यह अंतर हिन्दुओं की जातिप्रथा के कारण है। जब तक जातिप्रथा रहेगी, हिन्दुओं में संगठन नाम की कोई बात नहीं रहेगी और जब तक उनमें संगठन नहीं होगा हिन्दू कमजोर और डरपोक रहेंगे। हिन्दू कहते हैं कि उनकी कौम बड़ी सहनशील है। मेरे मत से यह बात सही नहीं है। अनेक अवसरों पर यदि उनका असहनीय रूप देखा जा सकता है और कुछ अवसरों पर उनमें सहनशीलता देखी जाती है, तो उसका कारण यह है कि या तो वे विरोध करने में अत्यधिक अशक्त हैं, या पूरी तरह उदासीन हैं। हिन्दुओं की यह उदासीनता इस कदर उनकी आदत का हिस्सा बन चुकी है कि हिन्दू किसी अपमान या अन्याय को बुजदिल बनकर सहता रहेगा। मौरिस के शब्दों में उनमें यह दिखाई देता है कि "बड़े लोग छोटे लोगों को कुचल रहे हैं, ताकतवर लोग कमजोरों को मार रहे हैं, क्रूर लोग निडर होकर विचरण कर रहे हैं, दयालु लोग साहस न होने के कारण चुप हैं और श्रीमान लोग लापरवाह हैं।" हिन्दू देवता भी धैर्यवान और सहिष्णु हैं इसलिए अन्याय और उत्पीड़न के शिकार हुए हिन्दुओं की दयनीय स्थिति की कल्पना करना असंभव नहीं है। उदासीनता किसी समुदाय को लगने वाली सबसे घातक बीमारी है। हिन्दू परस्पर इतने उदासीन क्यों हैं ? मेरे विचार से यह उदासीनता जातिप्रथा के कारण है और इसके कारण किसी अच्छे काम के लिए भी उनमें संगठन और सहयोग होना असंभव हो गया है।

12

कोई भी सुधार तब शुरू होता है, जब कोई व्यक्ति अपने समुदाय के मानकों, समुदाय की सत्ता और समुदाय के हित से ऊपर और उससे अलग अपने विचारों, अपनी धारणाओं और स्वयं की स्वतंत्रता और हित पर अधिक बल देता है। लेकिन यह सुधार आगे लगातार संपन्न होगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि उस व्यक्ति का समुदाय उसके दृढ़ विचारों को किस सीमा तक समर्थन देता है। अगर समुदाय में सहनशीलता की भावना है और वह अपने लोगों से न्यायोचित व्यवहार करता है, तो ऐसे व्यक्ति अपने विचारों पर दृढ़ रहेंगे और अंततः अन्य लोगों को भी नए विचारों से सहमत कराने में सफल हो जाएंगे। किंतु दूसरी ओर, अगर समुदाय सहनशील नहीं है और वह सही या गलत, किसी भी उपाय से ऐसे

व्यक्तियों की आवाज को दबा देता है, तो ऐसे व्यक्ति समाप्त हो जाएंगे और सुधार की आशा भी समाप्त हो जाएगी। आजकल किसी भी जाति के पास किसी भी ऐसे व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत करने का पूरा अधिकार रहता है, जिसने उस जाति के नियम को तोड़ने का अपराध किया हो। अगर इस बात को समझ लिया जाए कि जाति से बहिष्कृत होने का अर्थ है, उसे समाज के किसी भी कार्य में भाग न लेने देना, तो वस्तुतः यह कहना कठिन है कि जाति-बहिष्कार अधिक कठोर दंड है या मृत्यु। इसलिए आश्चर्य नहीं कि किसी हिन्दू में यह साहस नहीं है कि वह जाति की सीमा को तोड़कर अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति कर सके। यह सही है कि आदमी अपने सहयोगियों से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकता, लेकिन यह भी सही है कि वह उनके बिना रह भी नहीं सकता। वह चाहता यह है कि उसके सभी साथी उसकी अपनी शर्तों पर उसके साथ रहें। लेकिन अगर वे लोग उसकी शर्तें नहीं मानते तो वह किसी भी शर्त पर उनका साथ लेने के लिए तैयार हो जाएगा - भले ही उसे इसके लिए पूर्णत : आत्म-समर्पण करना पड़े। कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति समाज के बिना नहीं रह सकता। मनुष्य की असहायता का लाभ उसकी जाति हर समय उठाने के लिए तैयार रहती है और वह इस पर भी बल देती है कि सभी व्यक्ति उस जाति की संहिता का अक्षरशः और तत्वतः पूरा पालन करें। कोई भी जाति किसी भी सुधारवादी व्यक्ति के जीवन को नरकतुल्य बना देने के लिए षड्‌यंत्र करके बड़ी आसानी से अपने को संगठित कर सकती है। अगर षड्‌यंत्र अपराध है तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि अगर कोई आदमी अपनी जाति के नियमों के विरुद्ध कुछ करने का साहस करता है, तो उसे जाति-बहिष्कृत करने के जघन्य अपराध को कानून में दंडनीय अपराध क्यों नहीं बनाया जाता। लेकिन आजकल जो स्थिति है, उसके अनुसार कानून ने भी हर जाति को इस बात का पूरा अधिकार दे रखा है कि वह अपने सदस्यों के लिए नियम बनाए, उन्हें उनके अनुसार चलाए और विरोधियों को जाति-बहिष्कृत करके दंडित करे। इस प्रकार रूढ़िवादियों ने सुधारकों को उत्पीड़ित करने और सुधारों को समाप्त करने के लिए जाति को सशक्त माध्यम के रूप में अपनाया है।

13

हिन्दुओं की नीति और आचार पर जातिप्रथा का प्रभाव अत्यधिक शोचनीय है। जातिप्रथा ने जन-चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जातिप्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित है। गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमंद के लिए सहायता नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। अगर सहायता दें तो

वह केवल जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं। क्या हिन्दू किसी भी महान और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उसका अनुसरण कर सकते हैं ? यदि कोई महात्मा हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा, जब वह उसकी जाति का हो। ब्राह्मण, ब्राह्मण नेता को ही मानेगा, कायस्थ, कायस्थ नेता का ही अनुसरण करेगा, आदि आदि। हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी ज़ाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों-स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है ?

14

अगर आप लोगों में से कुछ जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न दुष्प्रभावों की इस ऊबने वाली चर्चा सुनते-सुनते थक गए हैं, तो मुझे आश्चर्य न होगा। इसमें कोई नई बात नहीं है। इसलिए अब मैं इस समस्या के र नात्मक पहलू के बारे में कहना आरंभ करता हूं। आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि अगर आप जाति के विरुद्ध हैं, तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है ? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो। और ऐसा क्यों न हो ? भाईचारे के विषय में क्या आपत्ति हो सकती है ? मेरे विचार से तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए। उसमें ऐसी भरपूर सरणियां होनी चाहिएं कि वह समाज के एक हिस्से में हुए परिवर्तन की सूचना अन्य हिस्सों को दे दें। आदर्श समाज में अनेक प्रकार के हित होने चाहिए, जिन पर लोग सोच-समझकर विचार-विमर्श करें और उनके बारे में एक-दूसरे को बताएं और सब उसमें हिस्सा लें। समाज में विभिन्न लोगों के बीच संपर्क के ऐसे बहुविध और निर्विवाद बिंदु होने चाहिएं, जहां साहचर्य या संगठन के अन्य रूपों से भी संवाद हो सके। दूसरे शब्दों में, समाज के भीतर संपर्क का सर्वत्र प्रसार होना चाहिए। इसी को भाईचारा कहा जाता है और यह प्रजातंत्र का दूसरा नाम है। प्रजातंत्र, सरकार का एक स्वरूप मात्र नहीं है। यह वस्तुत: साहचर्य की स्थिति में रहने का एक तरीका है, जिसमें सार्वजनिक अनुभव का समवेत रूप से संप्रेषण होता है। प्रजातंत्र का मूल है, अपने साथियों के प्रति आदर और मान की भावना। क्या स्वाधीनता पर किसी को भी कोई आपत्ति हो सकती है ? अगर स्वाधीनता का अर्थ निर्बाध रूप से कहीं भी आने-जाने का अधिकार है, या जीवित रहने तथा शरीर की रक्षा का अधिकार है, तो इसमें कुछ लोगों को ही आपत्ति होगी। अगर स्वाधीनता का अर्थ अपने शरीर को पूर्णत: स्वस्थ रखने के लिए जीविका-उपार्जन के लिए

संपत्ति, उपकरणों और सामग्री पर अधिकार है, तो इस पर भी कोई आपत्ति नहीं है। स्वाधीनता को वह लाभ क्यों न दिया जाए, जो किसी व्यक्ति की शक्तियों के प्रभावपूर्ण और सक्षम उपयोग से प्राप्त हो सकता है ? जातिप्रथा के जो समर्थक जीवन, शरीर और संपत्ति के अधिकार को हीं स्वाधीनता मानते हैं, वे स्वाधीनता के इस स्वरूप को एकदम स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि इसमें अपनी जीविका को स्वयं चुनने का अधिकार निहित है, किंतु इस स्वाधीनता पर आपत्ति करने का अर्थ है, दासता को शाश्वत बनाना, क्योंकि दासता का अर्थ केवल कानूनी अधीनीकरण या परतंत्रता नहीं है। इसका अर्थ है, समाज में व्याप्त वह स्थिति, जिसमें कुछ लोगों को विवश होकर अन्य लोगों से उन प्रयोजनों को भी स्वीकार करना होता है, जिनके अनुसार उन्हें आचरण करना है। यह स्थिति तब भी रह सकती है, जब कानूनी अर्थ में दासता का अस्तित्व न हो। यह स्थिति जातिप्रथा की तरह ऐसी दशाओं में पाई जाती है, जहां कुछ व्यक्ति अपनी पसंद का धंधा छोड़कर स्वयं पर थोपे गए अन्य धंधे करने पर विवश हो जाते हैं। क्या समानता पर कोई आपत्ति हो सकती है ? फ्रांस की क्रांति के नारे का यह सबसे विवादास्पद अंश रहा है। समानता के विरुद्ध आपत्तियां ठीक हो सकती हैं और यही मानना होगा कि सभी लोग एक समान नहीं होते। लेकिन उससे क्या होता है। समानता भले ही काल्पनिक वस्तु हो। किंतु फिर भी उसे निर्देशक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करना ही होगा। मनुष्य की शक्ति तीन बातों पर निर्भर है (1) शारीरिक आनुवंशिकता, (2) सामाजिक विरासत या दाय, जो उसे माता-पिता द्वारा देखभाल, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान का संचय और उसे बर्बर की अपेक्षा अधिक सक्षम मनुष्य बनाने वाले सभी साधन के रूप में प्राप्त होते हैं, और (3) उसकी अपनी कोशिशें। इन तीनों पहलुओं की दृष्टि से निःसंदेह मनुष्य असमान है। किंतु प्रश्न यह है कि क्या उनके असमान होने के कारण हम भी उन्हें असमान मानकर व्यवहार करें। इस प्रश्न का जवाब समानता के विरोधियों को अवश्य देना होगा। जहां तक व्यक्तिवादियों का दृष्टिकोण है, लोगों को इसलिए असमान माना जाना चाहिए, क्योंकि उनके प्रयत्न भी असमान होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की शक्ति के पूर्ण विकास के लिए उसे अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना वांछनीय है। लेकिन अगर मनुष्य को उल्लिखित दो कारणों से असमान मानकर उसके साथ व्यवहार किया जाए तो उसका क्या परिणाम होगा ? स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जन्म, शिक्षा, परिवार का नाम, व्यावसायिक संबंध और विरासत में मिली संपत्ति की दृष्टि से बेहतर है, वह अधिक अच्छा माना जाता है। किंतु ऐसी स्थितियों में जो चयन होगा, उसे योग्य व्यक्ति का चयन नहीं कहा जाएगा। चयन विशेषाधिकार-प्राप्त व्यक्ति का होगा। इसलिए यदि हम तीसरे कारण से लोगों को असमान मानने पर बाध्य होते हैं, तो यह भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि पहले दो कारणों से हम लोगों को यथासंभव एक समान समझें। दूसरी ओर, यह भी तर्क दिया जा सकता है कि यदि समाज के लिए अपने सदस्यों का अधिकतम सहयोग लेना अच्छा है, ऐसा तभी संभव हो सकता है, जब कि प्रत्येक कार्य के आरंभ में उन्हें यथासंभव एक समान मानकर उनसे व्यवहार किया जाए। यह एक

कारण है, जिसके फलस्वरूप हम एक समानता को अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन समानता को स्वीकार करने का एक अन्य कारण भी है। एक राजनीतिज्ञ को असंख्य लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। उसके पास न तो समय है और न यह जानकारी कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग पहचाने और तदनुसार यथोचित व्यवहार करे, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता या उसकी सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार करे। मनुष्यों के प्रति न्यायोचित व्यवहार कितना ही वांछनीय या तर्कसंगत हो, तथापि विशाल जनसंख्या को वर्गीकृत करना या उन्हें अलग-अलग करना संभव नहीं है। इसलिए राजनीतिज्ञ को एक सरल और व्यापक नियम का पालन करना चाहिए और वह सरल और व्यापक नियम यह है कि सभी लोगों को एक समान माना जाए, इसलिए नहीं कि सब समान हैं, बल्कि इसलिए कि उनका वर्गीकरण या उन्हें अलग-अलग करना असंभव है। समानता का सिद्धांत पूर्णत: भ्रांतिपूर्ण है, लेकिन कुल मिलाकर यही तरीका है, जिससे कोई राजनीतिज्ञ राजनीति कर सकता है, क्योंकि राजनीति पूर्णत: व्यावहारिक विषय है, जिसकी कसौटी भी पूर्णत: व्यावहारिक होती है।

15

लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है, जिसका आदर्श कुछ और ही है। ये स्वयं को आर्यसमाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्ण्य, अर्थात् पूरे समाज का चार वर्गों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसा कि भारत में है। अपने इस सिद्धांत को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हतप्रभ करने के लिए चातुर्वर्ण्य के ये प्रचारक बहुत सोच-समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्ण्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूं कि भले ही यह चातुर्वर्ण्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने गुण के अनुसार हिन्दू समाज में स्थान मिलता हैं, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं। यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण न भी कहा जाए, तो भी उसे आदर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो, तो क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा। आर्यसमाजी लोगों का ध्यान अभी तक इस बात पर नहीं जा सका है कि अगर यूरोपीय समाज अपने सिपाहियों और सेवकों को कोई स्थायी नाम दिए बिना उनका सम्मान कर सकता है तो हिन्दू समाज को ऐसा करने में क्या कठिनाई है। इन नामों को जारी रखने में एक और भी आपत्ति है। सभी सुधारों के मूल में यह तथ्य होता है कि मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति लोगों की धारणाओं, भावनाओं और मानसिक प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वे नाम हैं, जिनकी हर हिन्दू के मस्तिष्क में एक निश्चित और रूढ़ धारणा बनी हुई है। वह धारणा यह है कि ये सभी जातियां जन्म के आधार पर एक सोपानिक क्रम में हैं। जब तक ये नाम बने रहेंगे,

तब तक हिन्दू जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ऊंची से लेकर निम्नतम जाति के सोपानिक क्रम में मानते रहेंगे और तदनुसार व्यवहार करेंगे। हिन्दुओं को यह सब कुछ भूल जाना होगा। लेकिन जब तक ये पुराने नाम बने रहेंगे, तब तक वह इन्हें कैसे भुला सकेंगे - ये तो उनके दिमाग में उनकी पुरानी धारणाओं को पुनःजागृत करते रहेंगे। अगर लोगों के मन में नई धारणाओं को स्थापित करना है तो उन्हें नया नाम देना भी जरूरी है। पुराने नाम को बनाए रखने का अर्थ किसी भी सुधार को निरर्थक बना देना होगा। गुण के आधार पर इस चातुर्वर्ण्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अनर्थकारी नामों से रखना - जिनसे जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन का संकेत मिलता है, समाज के लिए एक फन्दे की तरह है।

16

मेरे लिए यह चातुर्वर्ण्य जिसमें पुराने नाम जारी रखे गए हैं, घिनौनी वस्तु है, जिससे मेरा पूरा व्यक्तित्व विद्रोह करता है। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि मैं केवल भावनाओं के आधार पर चातुर्वर्ण्य के प्रति आपत्ति प्रकट करूं।इसका विरोध करने के लिए मेरे पास अधिक ठोस कारण हैं। इस आदर्श की अच्छी जांच-परख के बाद मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि यह चातुर्वर्ण्य सामाजिक संगठन प्रणाली के रूप में अव्यावहारिक, घातक और अत्यंत असफल रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से भी चातुर्वर्ण्य से ऐसी अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, जिन पर इसके समर्थकों ने ध्यान नहीं दिया। जाति का आधारभूत सिद्धांत वर्ण के आधारभूत सिद्धांत से मूल रूप में भिन्न है, न केवल मूल रूप से भिन्न है, बल्कि मूल रूप से परस्पर-विरोधी है। पहला सिद्धांत गुण पर आधारित है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि जन्म के आधार पर ऊंची हैसियत पा जाए तो आप उसे कैसे उस जगह से हटने के लिए बाध्य करेंगे ? आप लोगों को इस बात के लिए कैसे बाध्य करेंगे कि वे उस व्यक्ति को जिसकी भले ही जन्म के आधार पर हैसियत निम्न स्तर की रही हो उसे उसके गुण के आधार पर प्रतिष्ठा प्रदान करें। उसके उद्देश्य से 'वर्ण व्यवस्था' की स्थापना के लिए पहले जातिप्रथा को समाप्त करना होगा ? लेकिन ऐसा कैसे किया जाए ? जन्म के आधार पर बनी चार हजार जातियों को मात्र चार वर्गों में किस तरह परिवर्तित किया जा सकता है ? चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को सबसे पहले इस कठिनाई का समाधान ढूंढना होगा। साथ ही, यदि चातुर्वर्ण्य के समर्थक चातुर्वर्ण्य की स्थापना की सफलता चाहते हैं तो उन्हें एक अन्य कठिनाई का भी समाधान ढूंढना होगा।

चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत में यह पूर्व-कल्पना है कि लोगों को चार निश्चित वर्गों में बांटा जा सकता है। क्या यह संभव है ? इस दृष्टि से चातुर्वर्ण्य प्लेटो के आदर्श की तरह ही दिखाई देता है - जैसा कि आगे बताया गया है। प्लेटो के अनुसार लोगों को उनकी प्रकृति के अनुसार तीन भागों में रखा गया था। उसका मानना था कि कुछ लोगों का विशिष्ट लक्षण है, बहुत भूख लगना। प्लेटो ने उन्हें श्रमिक और कामधंधा करने वालों के वर्ग में रखा। अन्य लोगों

को उसने भूख शांत करने में लगे रहने के साथ-साथ बहादुर प्रवृत्ति का भी पाया। इन्हें उसने युद्ध के समय रक्षक वर्ग में और आंतरिक शांति बनाए रखने वालों के वर्ग में रखा। अन्य लोगों में उसने यह देखा कि उनके पास वस्तुओं और तथ्यों के आधारभूत सार्वभौम कारण को समझने की क्षमता थी। ऐसे लोगों को उसने शेष लोगों के लिए कानून बनाने वालों के वर्ग में रखा। लेकिन प्लेटो के उक्त गणराज्य (रिपब्लिक) की जिस बात के लिए आलोचना की जाती है, वही आलोचना चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के संबंध में भी की जा सकती है, क्योंकि इसका आधार यह संभावना है कि सभी लोगों को बिल्कुल सही ढंग से चार अलग-अलग वर्ग में रखा जा सकता है। प्लेटो के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना यह थी कि उसका सभी लोगों को तीन बिल्कुल अलग-अलग विशिष्ट वर्गों में निर्जीव व्यक्तियों की तरह डाल देना, मनुष्य और उसकी शक्तियों के प्रति बहुत ही सतही दृष्टिकोण प्रदर्शित करता है। प्लेटो को इस बात का सम्यक् ज्ञान नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्टता होती है, वह शत-प्रतिशत औरों की तरह नहीं होता, और प्रत्येक व्यक्ति का अपना वर्ग अलग ही होता है। वह इस तथ्य को पहचान नहीं पाया कि एक ही व्यक्ति की सक्रिय प्रवृत्तियों मे अनंत विविधता हो सकती है, या उसमें प्रवृत्तियों के असंख्य योग हो सकते हैं। उसके विचार से व्यक्ति के गठन में कई प्रकार की क्षमताएं या शक्तियां होती हैं। उसके कथन की असत्यता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। आधुनिक विज्ञान से यह सिद्ध हो गया है कि व्यक्तियों को कुछेक विशिष्ट वर्गों में निर्जीवों की तरह विभाजित कर देना, उनके प्रति बहुत ही सतही दृष्टिकोण को प्रदर्शित करना है - वस्तुत: यह विचार इस योग्य ही नहीं है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जाए। इस कारण अगर हमें व्यक्तियों के गुणों का उपयोग करना है, तो उनका वर्गों में विभाजन पूर्णत: असंगत होगा, क्योंकि व्यक्तियों के गुण या विशेषताएं अति विविध प्रकार की होती हैं। इसलिए जिस कारण से प्लेटो के गणराज्य की कल्पना असफल सिद्ध हुई, उसी कारण चातुर्वर्ण्य भी असफल होगा, अर्थात् व्यक्तियों को एक वर्ग या दूसरे वर्ग का मानकर उन्हें अलग-अलग खानों में बांटना संभव नहीं है। लोगों को बिल्कुल सही तौर पर चार निश्चित वर्गों में बांटना इसलिए भी असंभव है कि यह सिद्ध है कि पहले जो चार वर्ग थे, वे अब स्वयं चार हजार जातियों में बंट गए हैं।

चातुर्वर्ण्य की स्थापना के मार्ग में एक तीसरी कठिनाई भी है। अगर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हो भी जाए तो उसे किस तरह बनाए रखा जाएगा ? चातुर्वर्ण्य की सफलता की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि एक दंड पद्धति भी रहे, जो दंड-विधान के जरिए इस व्यवस्था को जारी रखे। चातुर्वर्ण्य को तोड़ने वालों से निपटने की समस्या इसमें लगातार आती रहेगी। अगर इस व्यवस्था को तोड़ने पर दंड का विधान न हो तो लोगों को उनके अपने-अपने वर्ग में बांधे रखना संभव नहीं होगा। पूरी पद्धति छिन्न-भिन्न हो जाएगी, क्योंकि यह वर्गीकरण मानव प्रकृति के अनुकूल नहीं है। चातुर्वर्ण्य अपनी अंतर्निहित अच्छाई के आधार पर ही बना नहीं रह सकता। इसे कानून द्वारा ही लागू कराना होगा। दांडिक अनुशास्ति

के बिना चातुर्वर्ण्य के विचार को चरितार्थ नहीं किया जा सकता। इसका प्रमाण 'रामायण' की कथा में मिलता है, जिसमें राम ने शम्बूक का वध किया था। कुछ लोग राम को दोषी मानते हैं कि उन्होंने खिलवाड़स्वरूप या किसी कारण के बिना शम्बूक का वध किया था। परंतु यदि राम पर शम्बूक की हत्या करने का दोष लगाया जाता है, तो संपूर्ण स्थिति को गलत समझना होगा। रामराज चातुर्वर्ण्य पर आधारित राज था। राजा के रूप में राम चातुर्वर्ण्य को अक्षुण्ण रखने के लिए बाध्य थे, अतः शम्बूक की हत्या करना उनका कर्तव्य था, क्योंकि शम्बूक शूद्र था और उसने अपने वर्ग का अतिक्रमण किया था तथा वह ब्राह्मण बनना चाहता था। यही कारण है कि राम ने शम्बूक को मार डाला। लेकिन इससे यह प्रकट होता है कि चातुर्वर्ण्य को बनाए रखने के लिए दांडिक अनुशास्ति आवश्यक है। इसके लिए न केवल दांडिक अनुशास्ति, बल्कि मृत्यु-दंड भी आवश्यक है। यही कारण है, राम ने शम्बूक को मृत्यु-दंड से कम दंड नहीं दिया। यही कारण है कि 'मनुस्मृति' में इतना भारी दंडादेश विहित किया गया है कि यदि कोई शूद्र वेद पाठ करता है या वेद पाठ सुन लेता है तो उसकी जिहवा काट ली जाए या उसके कानों में पिघला हुआ सीसा डाल दिया जाए। चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को यह आश्वासन देना होगा कि वे मनुष्यों का वास्तविक वर्गीकरण करेंगे और बीसवीं शताब्दी के आधुनिक समाज को इस बात के लिए प्रेरित करेंगे कि वह 'मनुस्मृति' की दांडिक अनुशास्तियों में संशोधन करे।

ऐसा प्रतीत होता है कि चातुर्वर्ण्य के समर्थकों ने यह नहीं सोचा है कि उनकी इस वर्ग-व्यवस्था में स्त्रियों का क्या होगा ? क्या उन्हें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - चार वर्गों में विभाजित किया जाएगा, या उन्हें अपने पतियों का दर्जा प्राप्त कर लेने दिया जाएगा ? यदि स्त्री का दर्जा शादी के बाद बदल जाएगा तो चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत का क्या होगा, अर्थात् क्या किसी व्यक्ति का दर्जा उसके गुण पर आधारित होना चाहिए ? यदि उनका वर्गीकरण उनके गुण के आधार पर किया जाता है, तो क्या उनका ऐसा वर्गीकरण नाममात्र का होगा या वास्तविक। यदि वह नाममात्र का है, तो बेकार है। इस स्थिति में तो चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को यह स्वीकार करना होगा कि उनकी वर्ण-व्यवस्था स्त्रियों पर लागू नहीं होती। यदि यह वास्तविक है, तो क्या चातुर्वर्ण्य के समर्थक स्त्रियों पर इस व्यवस्था को लागू करने के तर्कसंगत परिणामों का अनुसरण करने के लिए तैयार हैं ? उन्हें महिला पुरोहित तथा महिला सैनिक रखने के लिए तैयार रहना होगा। हिन्दू समाज महिला शिक्षकों तथा महिला बैरिस्टरों का अभ्यस्त हो गया है। वह महिला किण्वकों और महिला कसाइयों के लिए भी अभ्यस्त हो सकता है। लेकिन वह एक बहादुर आदमी होगा, जो यह कहेगा कि हिन्दू समाज महिला पुरोहितों और महिला सैनिकों के लिए अनुमति देगा। लेकिन यह स्त्रियों पर चातुर्वर्ण्य लागू करने का तर्कसंगत परिणाम होगा। इन कठिनाइयों के बावजूद मेरा विचार है कि एक जन्मजात मूर्ख को छोड़कर कोई भी व्यक्ति यह आशा और विश्वास नहीं कर सकता कि चातुर्वर्ण्य का फिर से सफल उद्भव होगा।

17

यह मान भी लिया जाए कि चातुर्वर्ण्य व्यावहारिक है, फिर भी मैं यह निश्चयपूर्वक कहूंगा कि यह एक बहुत ही दोषपूर्ण व्यवस्था है कि ब्राह्मणों द्वारा विद्या का संवर्धन किया जाना चाहिए, क्षत्रिय को अस्त्र-शस्त्र धारण करना चाहिए, वैश्यं को व्यापार करना चाहिए और शूद्र को सेवा करनी चाहिए, हालांकि यह एक श्रम विभाजन ही था। क्या इस सिद्धांत का उद्देश्य यह था कि शूद्र को धन-संपत्ति आदि अर्जित करने की आवश्यकता नहीं है, या यह था कि उसे धन संपत्ति आदि अर्जित करनी ही नहीं चाहिए। यह बहुत ही दिलचस्प प्रश्न है। चातुर्वर्ण्य सिद्धांत के समर्थक इसका पहला अर्थ यह निकालते हैं कि शूद्र को धन-संपत्ति आदि अर्जित करने का कष्ट क्यों उठाना चाहिए, जब कि तीनों वर्ग उसकी सहायता के लिए मौजूद हैं। शूद्र को शिक्षा प्राप्त करने की परवाह क्यों करनी चाहिए, जब कि एक ब्राह्मण मौजूद है। यदि शूद्र को लिखने-पढ़ने की जरूरत होगी तो वह ब्राह्मण के पास जा सकता है। शूद्र को शस्त्र धारण करने की चिंता क्यों करनी चाहिए, जब कि उसकी रक्षा के लिए क्षत्रिय मौजूद है। इस अर्थ में समझे गए चातुर्वर्ण्य -सिद्धांत के अनुसार यह कहा जा सकता है कि शूद्र एक आश्रित व्यक्ति है और तीनों वर्ण उसके संरक्षक। इस व्याख्या के अनुसार यह एक साधारण, समुन्नतकारी और आकर्षक सिद्धांत है। चातुर्वर्ण्य की संकल्पना पर जोर देने वाले दृष्टिकोण को सही मान लेने पर मुझे यह वर्ण-व्यवस्था न तो स्पष्ट दिखाई देती है और न ही सरल। उस स्थिति में क्या होगा, जब ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय विद्या प्राप्त करने, व्यापार करने तथा वीर सैनिक बनने के अपने-अपने कर्तव्यों को छोड़ दें ? इसके विपरीत, मान लीजिए कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, किंतु शूद्र के प्रति या एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों का उल्लंघन करते हैं, तब शूद्र का क्या होगा जब तीनों वर्ण उसकी सहायता न करें, या तीनों मिलकर उनको दबा कर रखें। उस स्थिति में शूद्र या वैश्य तथा क्षत्रिय के हितों की रक्षा कौन करेगा, जब उसकी अज्ञानता का लाभ उठाने वाला ब्राह्मण हो? शूद्र तथा ऐसे मामले में ब्राह्मण और वैश्य की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाला कौन होगा, जब लुटेरा क्षत्रिय हो ? एक वर्ण का दूसरे पर निर्भर रहना अनिवार्य है। कभी-कभी एक वर्ण को दूसरे वर्ण पर निर्भर रहने दिया जाता है। लेकिन परमावश्यकताओं की स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे पर निर्भर क्यों बनाया जाए ? शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त करनी चाहिए। रक्षा के साधन सभी लोगों के पास होने चाहिएं। प्रत्येक व्यक्ति के आत्म-परीक्षण के लिए ये परम आवश्यकताएं हैं। किसी अशिक्षित और निरस्त्र व्यक्ति को इस बात से क्या सहायता मिल सकती है कि उसका पड़ोसी शिक्षित और सशस्त्र है ? अत: यह संपूर्ण सिद्धांत बेतुका है। ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे चातुर्वर्ण्य के समर्थक चिंतित प्रतीत नहीं होते। लेकिन ये अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि चातुर्वर्ण्य के समर्थकों की इस संकल्पना को मान लिया जाए कि विभिन्न वर्णों के बीच आश्रित और संरक्षक का जो संबंध है, चातुर्वर्ण्य की वही वास्तविक संकल्पना है तो यह स्वीकार करना होगा कि इसमें संरक्षक के दुष्कर्मों से 'आश्रित' के हितों

की रक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई है। संरक्षक और आश्रित का संबंध भले ही ऐसी वास्तविक संकल्पना हो, जिस पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था आधारित थी, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि व्यवहार में यह संबंध वस्तुत: मालिक और नौकर का था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के आपसी संबंध भी संतोषजनक नहीं थे, फिर भी वे मिलकर कार्य करने में सफल हुए। ब्राह्मण ने क्षत्रिय की खुशामद की और दोनों ने वैश्य को जीवित रहने दिया, ताकि वे उसके सहारे जीवित रह सकें। लेकिन तीनों शूद्र को पद-दलित करने के लिए सहमत हो गए। उसे धन-संपत्ति अर्जित करने की अनुमति नहीं दी गई, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वह तीनों वर्णों पर निर्भर ही न रहे। उसे विद्या प्राप्त करने से रोका गया कि कहीं ऐसा न हो कि वह अपने हितों के प्रति सजग हो जाए। उसके लिए शस्त्र धारण करना निषिद्ध था कि कहीं ऐसा न हो कि वह उनकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए साधन प्राप्त कर ले। तीनों वर्ण शूद्रों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करते थे, इसका प्रमाण मनु के कानून में मिलता है। सामाजिक अधिकारों के संबंध में मनु के कानून से ज्यादा बदनाम और कोई विधि संहिता नहीं है। सामाजिक अन्याय के संबंध में कहीं से भी लिया गया कोई भी उदाहरण मनु कानून के समक्ष फीका पड़ जाता है। अधिकांश जनता ने इन सामाजिक बुराइयों को क्यों सहन किया ? विश्व के अन्य देशों में सामाजिक क्रांतियां होती रही हैं। भारत में सामाजिक क्रांतियां क्यों नहीं हुईं, यह एक ऐसा प्रश्न है जो मुझे सदैव कष्ट देता रहा है। मैं इसका केवल एक ही उत्तर दे सकता हूं और वह यह है कि चातुर्वर्ण्य की इस अधम व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के निम्न वर्ग सीधी कार्रवाई करने में पूर्णत: असक्त बन गए हैं। वे हथियार धारण नहीं कर सकते, और हथियारों के बिना वे विद्रोह नहीं कर सकते थे। वे सभी हलवाहे थे या हलवाहे बना दिए गए थे। और उन्हें हलों को तलवारों में बदलने की कभी भी अनुमति नहीं दी गई। उनके पास संगीनें नहीं थीं इसलिए कोई भी व्यक्ति उन पर प्रभुत्व जमा लेता। चातुर्वर्ण्य के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सोच सके या ज्ञात कर सके। उन्हें सदैव दबाकर रखा गया। उन्हें अपने छुटकारे का न तो रास्ता ही मालूम था और न ही उनके पास साधन थे। उन्होंने अनंत दासता से समझौता कर लिया और ऐसी नियति पर संतोष कर लिया, जिससे उन्हें कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता था। यह ठीक है कि यूरोप में भी शक्तिशाली व्यक्ति कमजोर व्यक्ति का शोषण करने में पीछे नहीं रहा। लेकिन वहां इतने शर्मनाक ढंग से कमजोर व्यक्ति का शोषण नहीं किया गया, जितना कि भारत में हिन्दुओं ने किया था। यूरोप में शक्तिशाली और कमजोर के बीच भारत की अपेक्षा अधिक हिंसात्मक रूप में संग्राम चलता रहा। फिर भी, यूरोप में कमजोर व्यक्ति को सेना में अपने शारीरिक शस्त्र, दुख-दर्द में राजनीतिक शस्त्र और शिक्षा में नैतिक शस्त्र का प्रयोग करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। यूरोप में शक्तिशाली व्यक्ति ने स्वतंत्रता के उक्त तीन हथियारों को कमजोर व्यक्ति से कभी नहीं छीना। लेकिन भारत में चातुर्वर्ण्य के अनुसार जन-समुदाय को उक्त तीनों शस्त्र धारण करने से वंचित किया गया था। चातुर्वर्ण्य से बढ़कर

सामाजिक संगठन की और कोई अपमानजनक पद्धति नहीं हो सकती। यह वह व्यवस्था है, जिसमें लोगों की उपयोगी क्रिया समाप्त, ठप तथा अशक्त हो जाती है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इतिहास में इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है। भारतीय इतिहास में केवल एक काल ऐसा है, जिसे स्वतंत्रता, महानता तथा गौरवपूर्ण युग कहा जाता है। वह युग है, मौर्य साम्राज्य। सभी युगों में देश में पराभव और अंधकार छाया रहा है। लेकिन मौर्य-काल में चातुर्वर्ण्य को जड़-मूल से समाप्त कर दिया गया था। मौर्य-युग में शूद्र, जिनकी संख्या काफी थी, अपने असली रूप में आए और देश के शासक बन गए। भारतीय इतिहास में पराभव और अंधकार का युग वह था, जब घृणित चातुर्वर्ण्य देश के अधिकांश भाग में अभिशाप बनकर फैल गया।

18

चातुर्वर्ण्य नया नहीं है। यह उतना ही प्राचीन है, जितने कि वेद। इसीलिए आर्यसमाजियों ने हमसे अनुरोध किया है कि उनके दावों पर विचार किया जाए। यदि चातुर्वर्ण्य पर सामाजिक संगठन के रूप में भूतकाल से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि इसकी आजमाइश की गई है और यह असफल रहा है। कितनी बार ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का बीज मिटाया है ? कितनी बार क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का नाश किया है? 'महाभारत' और 'पुराण', 'ब्राह्मणों' और क्षत्रियों के बीच हुए संघर्षों से भरे पड़े हैं। यहां तक कि वे ऐसे तुच्छ मामलों में झगड़ बैठे थे कि पहले प्रणाम कौन करेगा? जब ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों एक ही गली में मिलें, पहले रास्ता कौन देगा, ब्राह्मण या क्षत्रिय। केवल ब्राह्मण क्षत्रिय या क्षत्रिय ब्राह्मण की आंखों का कांटा नहीं था, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रिय अत्याचारी बन गए थे और जनता चूंकि वह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अधीन निहत्थी थी, अत: उनके अत्याचार से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रही थी। 'भागवत' में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कृष्ण के अवतार लेने का केवल एक ही पवित्र उद्देश्य था और वह था क्षत्रियों का विध्वंस करना। जब विभिन्न वर्णों के बीच प्रतिद्वंद्विता और शत्रुता के इतने सारे उदाहरण मौजूद हैं, तब मैं यह नहीं समझता कि कोई व्यक्ति चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को ऐसे प्राप्य आदर्श या प्रतिमान के रूप कैसे मान सकता है, जिसके आधार पर हिन्दू समाज की पुन: रचना की जाए।

19

मैंने उन लोगों के बारे में विचार किया है, जो आपके साथ नहीं हैं और जिनका आपके विचारों से खुला विरोध है। अन्य लोग भी हैं जो ऐसे हैं, जिनके साथ आप नहीं हैं, या जो आपके साथ नहीं हैं। मैं यह संकोच कर रहा था कि क्या उनके दृष्टिकोण पर विचार किया जाए। लेकिन आगे और विचार करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मुझे उनके दृष्टिकोण पर विचार करना होगा। इसके दो कारण हैं। पहला, जाति संबंधी समस्या के प्रति उनका रुख मात्र एक तटस्थता वाला रुख नहीं है, बल्कि सशस्त्र तटस्थता वाला रुख है। दूसरा, शायद उनकी संख्या भी पर्याप्त है। इनमें एक वर्ग ऐसा है; जिसे हिन्दुओं की जाति-

व्यवस्था में कोई विचित्र या निंदनीय चीज नहीं मिली है। ऐसे हिन्दू, मुस्लिमों, सिखों तथा ईसाइयों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और इस बात से संतुष्ट हो जाते हैं कि उनमें भी जातियां हैं। ऐसे प्रश्न पर विचार करते समय प्रारंभ में ही यह ध्यान रखना होगा कि मानव समाज कहीं भी एक संपूर्ण इकाई नहीं है। समाज सदैव बहु इकाई वाला रहा है। इस क्रियाशील विश्व में एक सीमा व्यक्ति है, तो दूसरी सीमा समाज। इन दोनों के बीच छोटी-बड़ी समस्त सहचारी व्यवस्थाएं, परिवार, मित्रता, सहकारी संस्थाएं, व्यापार प्रतिष्ठान, राजनीतिक दल, चोर और लुटेरों के गिरोह विद्यमान हैं। छोटे वर्ग आमतौर पर एक-दूसरे से मजबूती से जुड़े होते हैं और प्राय: जातियों जैसे होते हैं। उनकी संहिता संकीर्ण तथा भाव प्रवण होती है, जिसे प्राय: समाज-विरोधी कहा जा सकता है। यह बात यूरोप तथा एशिया के प्रत्येक समाज पर लागू होती है। यह निर्धारित करते समय कि क्या संबंधित समाज एक आदर्श समाज है, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। क्या वह आदर्श समाज इसलिए नहीं है क्योंकि इसमें वर्ग हैं, लेकिन वर्ग तो सभी समाजों में होते हैं। यह निर्धारित करते समय कि आदर्श समाज कौन सा है, ये प्रश्न पूछे जा सकते हैं : ऐसे हितों की संख्या कितनी है और वे कितने प्रकार के हैं, जो वर्गों से संबंधित हैं ? अन्य समाजों के साथ उसका व्यवहार कितना पूर्ण एवं स्वतंत्र है ? क्या वर्गों और जातियों को पृथक करने वाली शक्तियों की संख्या उन शक्तियों की संख्या से अधिक है, जो उनको जोड़ती हैं ? वर्ग-जीवन को क्या सामाजिक महत्व दिया गया है ? क्या उसकी अनन्यता, रीति-रिवाज और सुविधा या धर्म का मामला है। इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए किसी व्यक्ति को यह निर्णय लेना होगा कि क्या गैर-हिन्दुओं में वैसी ही जाति-व्यवस्था है जैसी कि हिन्दुओं में है। यदि हम इन विचारों को एक ओर मुसलमानों, सिखों और ईसाइयों की जातियों, और दूसरी ओर हिन्दुओं की जातियों पर लागू करें, तो यह पता चलेगा कि गैर-हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था से मूलत: भिन्न है। इसके कई कारण हैं। पहला, ऐसा कोई बंधन नहीं है, जो हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बांधता हो, जब कि गैर-हिन्दुओं में ऐसे अनेक बंधन हैं, जो उन्हें एकता के सूत्र में बांधते हैं। किसी समाज की शक्ति उसके संपर्क स्थलों तथा उसके विभिन्न वर्गों के बीच अंतरक्रिया की संभावनाओं पर निर्भर है। कार्लाइल ने इन्हें 'सुव्यवस्थित तंतु', अर्थात लचीले तंतु कहा है, जो विखंडित तत्वों को जोड़ने और उनमें पुन: एकता स्थापित करने में मदद करते हैं। हिन्दुओं में ऐसी कोई संघटनकारी शक्ति नहीं है, जो जातिप्रथा द्वारा किए गए विखंडन को समाप्त कर सके। लेकिन गैर-हिन्दुओं में ऐसे अनेक सुव्यवस्थित तंतु हैं, जो उन्हें एकता के सूत्र में बांधते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना होगा कि हालांकि गैर-हिन्दुओं में भी वैसी ही जातियां हैं जैसी कि हिन्दुओं में हैं, लेकिन उनका गैर-हिन्दुओं के लिए सामाजिक महत्व उतना नहीं है, जितना कि हिन्दुओं के लिए है। किसी मुसलमान या सिख से पूछिए कि वह कौन है तो वह यही कहेगा कि वह मुसलमान या सिख है। वह

अपनी जाति नहीं बताएगा, हालांकि उसकी जाति है। आप उसके इस उत्तर से संतुष्ट हो जाएंगे। जब वह यह बताता है कि वह मुसलमान है तो उससे आगे यह नहीं पूछते कि वह शिया है या सुन्नी, शेख है या सैयद, खटीक है या पिंजारी। जब वह यह कहता है कि मैं सिख हूं तो आप उससे यह नहीं पूछते कि वह जाट है या रोडा, मजबी है या रामदासी। लेकिन आप इस बात से उस स्थिति में संतुष्ट नहीं होते, जब कोई अपने को हिन्दू बताता है। आप उसकी जाति अवश्य पूछेंगे। इसका कारण यह है कि हिन्दू के विषय में जाति का इतना महत्व है कि उसके जाने बिना आप यह निश्चित नहीं कर सकते कि वह किस तरह का व्यक्ति है। गैर-हिन्दुओं में जाति का उतना महत्व नहीं है, जितना कि हिन्दुओं में है। यह बात उस स्थिति में स्पष्ट हो जाती है, जब आप जाति-व्यवस्था भंग करने के परिणामों पर विचार करते हैं। सिखों और मुसलमानों में भी जातियां हो सकती हैं, लेकिन वे उस सिख और मुसलमान का जाति-बहिष्कार नहीं करेंगे, जो अपनी जाति तोड़ता है। वास्तव में, सिख और मुसलमान जाति-बहिष्कार के विचार से परिचित नहीं हैं। लेकिन हिन्दुओं के विषय में यह बात एकदम भिन्न है। हिन्दू को यह निश्चित रूप से पता होता है कि यदि वह जाति का बंधन तोड़ेगा तो उसे जाति से निकाल दिया जाएगा। इससे यह प्रकट होता है कि हिन्दुओं और गैर-हिन्दुओं के लिए जाति के सामाजिक महत्व में कितना अंतर है। यह उनके बीच अंतर का दूसरा संकेत है। तीसरा संकेत भी है, जो और अधिक महत्वपूर्ण है। गैर-हिन्दुओं में जाति की कोई धार्मिक पवित्रता नहीं होती, लेकिन हिन्दुओं में तो निश्चित रूप से होती है। गैर-हिन्दुओं में जाति मात्र एक व्यवहार है, न कि एक पवित्र प्रथा। उन्होंने जाति की उत्पत्ति नहीं की। उनके मामले में तो जाति का मात्र अस्तित्व बना हुआ है। वे जाति को धार्मिक सिद्धांत नहीं मानते। धर्म हिन्दुओं को जातियों के पृथक्करण और अलगाव को एक सद्गुण मानने के लिए बाध्य करता है। लेकिन धर्म गैर-हिन्दुओं को जाति के प्रति ऐसा रुख अपनाने के लिए बाध्य नहीं करता है। यदि हिन्दू लोग जाति को समाप्त करना चाहें तो धर्म आड़े आएगा। लेकिन गैर-हिन्दुओं के विषय में यह बात लागू नहीं होती। अत: गैर-हिन्दुओं में जाति के मात्र अस्तित्व से संतुष्ट होना तब तक एक खतरनाक भ्रम साबित होगा, जब तक यह जानकारी प्राप्त न कर ली जाए कि उनके जीवन में जाति का क्या महत्व है और क्या कोई अन्य ऐसे 'सुव्यवस्थित तंतु' हैं, जो सामाजिक-भावना को उनकी जाति-भावना से ऊपर ले आते हों। हिन्दुओं का यह भ्रम जितना शीघ्र दूर हो, उतना ही अच्छा है।

हिन्दुओं का एक अन्य वर्ग इस बात से इन्कार करता है कि हिन्दुओं के लिए जातिप्रथा से कोई समस्या उत्पन्न होती है। ऐसे हिन्दू इस दृष्टिकोण में संतोष व्यक्त करते हैं कि हिन्दू जाति जीवित रही है और वे इसे जीवित रहने की उपयुक्तता का प्रमाण मानते हैं। प्रो. एस. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' में इस दृष्टिकोण की अच्छी व्याख्या की है। हिन्दू धर्म का संदर्भ देते हुए वे कहते हैं', ''सभ्यता कोई अल्पकालिक वस्तु नहीं रही है। इसका इतिहास चार हजार वर्ष से भी पुराना है, फिर भी वह एक ऐसी सभ्यता बन

गई है जिसकी अविछिन्न धारा आज तक प्रवाहित है, यद्यपि कभी-कभी इसकी गति मंद और स्थिर भी रही है। इसने चार या पांच सहस्राब्दियों से भी अधिक समय से आध्यात्मिक विचारधारा एवं अनुभवों से प्रभावित होकर भी इसका मूलतत्व अक्षुण्ण रहा है। यद्यपि इतिहास के आदिकाल से भिन्न-भिन्न जातियों एवं संस्कृति के लोग भारत में आते रहे हैं, फिर भी हिन्दू धर्म ने अपनी सर्वोच्चता अक्षुण्ण रखी है, यहां तक कि राजनीतिक शक्ति द्वारा संपोषित धर्म-परिवर्तनकारी जातियां भी अधिसंख्य हिन्दुओं को अपने विचार मनवा लेने के लिए बाध्य नहीं कर पाई हैं। हिन्दू संस्कृति में कुछ ऐसी जीवन शक्ति है जो अन्य शक्तिशाली धाराओं में नहीं मिल सकती। यह देखने के लिए हिन्दू धर्म के वृक्ष को काटना आवश्यक नहीं है कि क्या उसमें आज भी रस निकल रहा है।'' इस विषय में तो राधाकृष्णन का नाम ही काफी है कि वे जो कुछ कहते हैं उसमें गंभीरता होती है, और पाठकों को प्रभावित करते हैं। पर मुझे अपना विचार प्रकट करने में संकोच नहीं करना चाहिए, क्योंकि मुझे इस बात की आशंका है कि कहीं उनका कथन इस गलत तर्क का आधार न बन जाए कि अस्तित्व जीवित रहने की उपयुक्तता का प्रमाण है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सवाल यह नहीं है कि कोई समुदाय जीवित रहता है या समाप्त हो जाता है, बल्कि यह है कि वह कैसे सम्मान के साथ जीवित रहता है। जीवित रहने के विभिन्न प्रकार हैं। लेकिन वे सबके सब सम्मानजनक नहीं हैं। किसी व्यक्ति और समाज के लिए मात्र जीवनयापन करने और सम्मानपूर्वक जीवनयापन करने में पर्याप्त अंतर है। युद्ध में लड़ना और गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत करना, जीवित रहने का एक प्रकार है। पराजित होना, आत्म-समर्पण करना और एक बंदी के रूप में जीवन व्यतीत करना भी अस्तित्व का एक प्रकार है। किसी हिन्दू के लिए इस बात से संतुष्ट होना व्यर्थ है कि वह और अन्य जीवित रहे हैं। मुझे यह सोचना होगा कि उसके जीवन की गुणवत्ता क्या है। यदि वह ऐसा सोचेगा तो मुझे विश्वास है, वह मात्र अस्तित्व का दंभ छोड़ देगा। हिन्दू के जीवन में तो सतत पराजय ही रही है। उसे जो यह प्रतीत होता है कि उसका जीवन तो सतत प्रवाहमान रहा है, वह सतत प्रवाहमान नहीं रहा है, बल्कि वस्तुत: वह ऐसा जीवन रहा है, जिसका सतत ह्रास होता रहा है।

20

मेरी राय में इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे, तब तक कोई प्रगति नहीं होगी। आप समाज को रक्षा या अपराध के लिए प्रेरित कर सकते हैं। लेकिन जाति-व्यवस्था की नींव पर आप कोई निर्माण नहीं कर सकते : आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। जाति-व्यवस्था की नींव पर आप कोई भी निर्माण करेंगे, वह चटक जाएगा और कभी भी पूरा नहीं होगा।

अब केवल एक प्रश्न रहता है, जिस पर विचार करना है। वह यह है कि 'हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सुधार कैसे किया जाए ?' जातिप्रथा को कैसे समाप्त किया जाए ? यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। ऐसा विचार व्यक्त किया गया है कि जाति-व्यवस्था में सुधार करने के लिए

पहला कदम यह होना चाहिए कि उप-जातियों को समाप्त किया जाए। यह विचार इस उप-धारणा पर आधारित है कि जातियों के बीच तौर-तरीकों और स्तर के अपेक्षाकृत उप-जातियों के तौर-तरीकों तथा स्तर में अधिक समानता है। मेरे विचार से यह एक गलत धारणा है। डकन तथा दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की तुलना में उत्तर तथा मध्य भारत के ब्राह्मण सामाजिक रूप से निम्न श्रेणी के हैं। उत्तर तथा मध्य प्रांत के ब्राह्मण केवल रसोइया और पानी पिलाने वाले हैं, जब कि डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों का सामाजिक स्तर बहुत ऊंचा है। दूसरी ओर, उत्तरी भारत के वैश्य और कायस्थ बौद्धिक एवं सामाजिक रूप से डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के समकक्ष होते हैं। इसके अतिरिक्त, आहार के मामले में भी डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों और कश्मीरी और बंगाल के ब्राह्मण में कोई समानता नहीं है। दक्षिण के ब्राह्मण शाकाहारी होते है, जब कि कश्मीर और बंगाल के ब्राह्मण मांसाहारी। जहां तक आहार का संबंध है, डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतर गुजराती, मारवाड़ी, बनियों और जैन जैसी जातियों में काफी समानता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक से दूसरी जाति में संक्रमण को आसान बनाने के लिए उत्तरी भारत के कायस्थों और दक्षिण भारत की अन्य ब्राह्मणेतर जातियों को डकन तथा द्रविड़ प्रदेश की ब्राह्मणेतर जातियों में मिला देना दक्षिण भारत के ब्राह्मणों को उत्तर भारत के ब्राह्मणों में मिला देने के अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक होगा। लेकिन यदि यह मान लिया जाए कि उप-जातियों का विलय संभव है, तो इस बात की क्या गारंटी है कि उप-जातियों के समाप्त होने के परिणामस्वरूप जातियां निश्चित रूप से समाप्त हो जाएंगी। इस स्थिति में उप-जातियों के समाप्त होने से जातियों की जड़ें और मजबूत हो जाएंगी और वे शक्तिशाली बन जाएंगी। परिणामस्वरूप वे अधिक हानिकर सिद्ध होंगी। अत: यह उपाय न तो व्यवहार्य है और न ही कारगर। यह उपाय निश्चित रूप से गलत सिद्ध होगा। जाति-व्यवस्था समाप्त करने की एक और कार्य-योजना है कि अंतर्जातीय खान-पान का आयोजन किया जाए। मेरी राय में यह उपाय भी पर्याप्त नहीं है। ऐसी अनेक जातियां हैं, जो अंर्तजातीय खान-पान की अनुमति देती हैं। इस विषय में सामान्य अनुभव यह रहा है कि अंर्तजातीय खान-पान की व्यवस्था जाति-भावना या जाति-बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता, तब तक जाति-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना, अर्थात् पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी। हिन्दुओं में अंर्तजा्तीय विवाह सामाजिक जीवन में निश्चित रूप से महान शक्ति का एक कारक सिद्ध होगा। गैर-हिन्दुओं में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। जहां समाज संबंधों के ताने-बाने से सुगठित होगा, वहां विवाह जीवन की एक साधारण घटना होगी। लेकिन जहां समाज छिन्न-भिन्न है, वहां बाध्यकारी शक्ति के रूप में विवाह की परम आवश्यकता होती है। अत: जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अंतर्जातीय विवाह ही

है। जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिए जाति-विलय जैसे उपाय को छोड़कर और कोई उपाय कारगर सिद्ध नहीं होगा। आपके जातपांत तोड़क मंडल ने आक्रमण की यही नीति अपना रखी है। यह सीधा और सामने का आक्रमण है। मैं आपके सही निदान और हिन्दुओं से यह कहने का साहस दिखाने के लिए आपको बधाई देता हूं कि वास्तव में उनमें (हिन्दुओं) क्या दोष है। सामाजिक अत्याचार के मुकाबले राजनीतिक अत्याचार कुछ भी नहीं है और वह सुधारक जो समाज का विरोध करता है, उस राजनीतिज्ञ से अधिक साहसी होता है, जो सरकार का विरोध करता है। आपका यह कहना सही है कि जाति-व्यवस्था उसी स्थिति में समाप्त होगी। जब रोटी-बेटी का संबंध सामान्य व्यवहार में आ जाए। आपने बीमारी की जड़ का पता लगा लिया है। लेकिन क्या बीमारी के लिए आपका नुसखा ठीक है? यह प्रश्न अपने आपसे पूछिए। अधिसंख्य हिन्दू रोटी-बेटी का संबंध क्यों नहीं करते? आपका उद्देश्य लोकप्रिय क्यों नहीं है? उसका केवल एक ही उत्तर है और वह है कि रोटी-बेटी का संबंध उन आस्थाओं और धर्म-सिद्धांतों के प्रतिकूल है, जिन्हें हिन्दू पवित्र मानते हैं। जाति ईंटों की दीवार या कांटेदार तारों की लाइन जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है, जो हिन्दुओं को मेल-मिलाप से रोकती हो और जिसे तोड़ना आवश्यक हो। जाति तो एक धारणा है और यह एक मानसिक स्थिति है। अत: जाति-व्यवस्था को नष्ट करने का अर्थ भौतिक रुकावटों को दूर करना नहीं है। इसका अर्थ विचारात्मक परिवर्तन से है। जाति-व्यवस्था बुरी हो सकती है। जाति के आधार पर ऐसा घटिया आचरण किया जा सकता है, जिसे मानव के प्रति अमानुषिकता कहा जा सकता है। फिर भी, यह स्वीकार करना होगा कि हिन्दू समुदाय द्वारा जातिप्रथा मानने का कारण यह नहीं है कि उनका व्यवहार अमानुषिक और अन्यायपूर्ण है। वह जातपांत को इसलिए मानते हैं, क्योंकि वह अत्यधिक धार्मिक होते हैं। अत: जातपांत मानने में लोग दोषी नहीं हैं। मेरी राय में उनका धर्म दोषी है, जिसके कारण जाति-व्यवस्था की धारणा का जन्म हुआ है। यदि यह बात सही है तो यह स्पष्ट है कि वह शत्रु जिसके साथ आपको संघर्ष करना है, वे लोग नहीं है जो जातपांत मानते हैं, बल्कि वे शास्त्र हैं, जिन्होंने जाति-धर्म की शिक्षा दी है। रोटी-बेटी का संबंध न करने या समय-समय पर अंतर्जातीय खान-पान और अंतर्जातीय विवाहों का आयोजन न करने के लिए लोगों की आलोचना या उनका उपहास करना वांछित उद्देश्य को प्राप्त करने का एक निरर्थक तरीका है। वास्तविक उपचार यह है कि शास्त्रों से लोगों के विश्वास को समाप्त किया जाए। यदि शास्त्रों ने लोगों के धर्म, विश्वास और विचारों को ढालना जारी रखा तो आप कैसे सफल होंगे? शास्त्रों की सत्ता का विरोध किए बिना, लोगों को उनकी पवित्रता और दंड विधान में विश्वास करने के लिए अनुमति देना और फिर उनके अविवेकी और अमानवीय कार्यों के लिए उन्हें दोष लगाना और उनकी आलोचना करना सामाजिक सुधार करने का अनुपयुक्त तरीका है। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा गांधी समेत अस्पृश्यता को समाप्त करने वाले समाज सुधारक यह महसूस नहीं करते हैं कि लोगों के कार्य मात्र उन धर्म-विश्वासों के परिणाम हैं, जो शास्त्रों

द्वारा उनके मन में पैदा कर दिए गए हैं। लोग तब तक अपने आचरण में परिवर्तन नहीं करेंगे, जब तक वे शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना नहीं छोड़ देते, जिस पर उनका आचरण आधारित है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे प्रयासों का कोई सकारात्मक परिणाम न निकले। आप भी वही गलती कर रहे हैं, जो अस्पृश्यता को समाप्त करने के उद्देश्य से काम करने वाले समाज सुधारक कर रहे हैं। रोटी-बेटी के संबंध के लिए आंदोलन करना और उनका आयोजन करना कृत्रिम साधनोंसे किए जाने वाले, बलात् भोजन कराने के समान है। प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रों के बंधन से मुक्त कराइए, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क का पिंड छुड़ाइए, फिर देखिए, वह आपके कहे बिना अपने आप अंतर्जातीय खान-पान तथा अंतर्जातीय विवाह का आयोजन करेगा/करेगी।

वाद विवाद में फंसने से कोई लाभ नहीं है। लोगों से यह कहने में कोई लाभ नहीं है कि शास्त्रों में वैसा नहीं कहा गया है, जैसा कि वे विश्वास करते हैं, व्याकरण की दृष्टि से पढ़ते हैं या तार्किक ढंग से उनकी व्याख्या करते हैं। यह कोई बात नहीं है कि लोग शास्त्रों का ज्ञान किस प्रकार से ग्रहण करते हैं। आपको ऐसा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जैसा कि बुद्ध ने किया था। आपको वह मोर्चा लेना होगा जो गुरु नानक ने लिया था। आपको शास्त्रों की केवल उपेक्षा ही नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनकी सत्ता स्वीकार करने से इन्कार करना होगा, जैसा कि बुद्ध और नानक ने किया था। आपको हिन्दुओं से यह कहने का साहस रखना चाहिए कि दोष उनके धर्म का है - वह धर्म जिसने आपमें यह धारणा पैदा की है कि जाति-व्यवस्था पवित्र है। क्या आप ऐसा साहस दिखाएंगे?

21

आपको सफलता मिलने के अवसर क्या हैं? सुधार की विभिन्न किस्में हैं। एक किस्म वह है जो लोगों की धार्मिक धारणा से संबंधित नहीं है, लेकिन उसका स्वरूप विशुद्ध रूप से धर्म निरपेक्षता वाला है। सुधार की दूसरी किस्म का संबंध लोगों की धार्मिक भावना से है। सामाजिक सुधारों की इन किस्मों के दो प्रकार हैं। एक में, सुधार धर्म के सिद्धांतों के अनुरूप होता है और उन लोगों से जो इन सिद्धांतों से विचलित हो गए हैं, यह कहा जाता है कि वे उनको फिर से स्वीकार कर लें और उनका पालन करें। दूसरे प्रकार के सुधार में, न केवल धार्मिक सिद्धांतों में हस्तक्षेप किया जाता है, बल्कि उनका पूर्ण रूप से विरोध किया जाता है और लोगों से यह कहा जाता है कि वे इन सिद्धांतों का पालन न करें और उनकी सत्ता की अवज्ञा करें। जाति-व्यवस्था ऐसे कुछ धार्मिक विश्वासों का स्वाभाविक परिणाम हैं, जो शास्त्र-सम्मत हैं। शास्त्रों के बारे में यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर द्वारा प्रेरित उन ऋषियों का आदेश निहित है, जो अलौकिक प्रज्ञा से सम्पन्न थे। अतः ऋषियों की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यदि उल्लंघन किया जाएगा तो पाप लगेगा। सुधार का एक और प्रकार है-वह है, 'जाति-व्यवस्था को नष्ट करना'। यह सुधार तीसरे वर्ग के अंतर्गत आता है। लोगों से जातपांत त्यागने के लिए कहने का अर्थ, उनको मूल धार्मिक धारणाओं

के विपरीत चलने के लिए कहना है। यह स्पष्ट है कि सुधार का पहला और दूसरा मार्ग सरल है। लेकिन तीसरे मार्ग के सुधार में अत्यधिक कार्य करना होगा, जो प्राय: असंभव सा है। हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था को पवित्र मानते हैं। जाति-व्यवस्था का आधार ईश्वरीय है। अत: आपको उस पवित्रता और देवत्व को नष्ट करना होगा, जो जातिव्यवस्था में समाया हुआ है। अंतिम विश्लेषण के रूप में, इसका अर्थ यह है कि आपको शास्त्रों और वेदों की सत्ता समाप्त करनी होगी।

मैंने जाति-व्यवस्था समाप्त करने के उपाय और साधनों से संबंधित प्रश्न पर जोर इसलिए दिया है, क्योंकि मेरे लिए आदर्श से अवगत होने के अपेक्षाकृत उचित उपायों और साधनों की जानकारी प्राप्त कर लेना अधिक महत्वपूर्ण है। यदि आपको वास्तविक उपाय और साधनों की जानकारी नहीं है तो आपके सभी प्रयास निष्फल रहेंगे। यदि मेरा विश्लेषण सही है तो आपका कार्य भी भगीरथ प्रयत्न से कम नहीं होगा। केवल आप ही यह कह सकते हैं कि क्या आप इस कार्य को संपन्न कर सकेंगे।

मेरे विचार से यह कार्य प्राय: असंभव है। शायद आप यह जानना चाहेंगे कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूं। जिन कारणों से मैंने यह दृष्टिकोण अपनाया है, उनमें से ऐसे कुछ कारणों का उल्लेख करूंगा, जिन्हें मैं अत्यंत महत्वपूर्ण समझता हूं। उन कारणों में से एक है विद्वेषभाव, जो ब्राह्मणों ने इस समस्या के प्रति प्रदर्शित किया है। ब्राह्मण राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार के मामलों के आंदोलन में सदैव अग्रसर रहते हैं। लेकिन जात पांत के बंधन तोड़ने के लिए बनाई गई सेना में वे शिविर-अनुयायी (कैम्प फोलोअर्स) के रूप में भी नहीं पाए जाते। क्या ऐसी आशा की जा सकती है कि भविष्य में इस मामले में ब्राह्मण लोग नेतृत्व करेंगे? मैं कहता हूं, नहीं। आप पूछ सकते हैं, क्यों? आप दलील दे सकते हैं कि इसका कोई कारण नहीं है कि ब्राह्मणों को सामाजिक सुधार से क्यों दूर रहना चाहिए। आप तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि ब्राह्मण यह जानते हैं कि हिन्दू समाज का अभिशाप जाति व्यवस्था है और एक प्रबुद्ध वर्ग के रूप में उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे इसके परिणामों के प्रति उदासीन रहेंगे। आप यह भी तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि ब्राह्मण दो प्रकार के हैं एक तो धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण और दूसरे पुरोहित ब्राह्मण। यदि पुरोहित ब्राह्मण जातपांत समाप्त करने वाले लोगों की तरफ से हथियार नहीं उठाता है, तो धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण उठाएगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये सारी बातें ऊपर से बहुत ही विश्वसनीय लगती हैं। लेकिन इन सब बातों में हम यह भूल गए हैं कि यदि जाति-व्यवस्था समाप्त हो जाती है तो ब्राह्मण जाति पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए क्या यह आशा करना उचित है कि ब्राह्मण लोग ऐसे आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए सहमत होंगे, जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण जाति की शक्ति और सम्मान नष्ट हो जाएगा? क्या धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मणों से यह आशा करना उचित होगा कि वे पुरोहित ब्राह्मणों के विरुद्ध किए गए आंदोलन में भाग लेंगे? मेरे निर्णय के अनुसार धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मणों और पुरोहित ब्राह्मणों में भेद करना

व्यर्थ है। वे दोनों आपस में रिश्तेदार हैं। वे एक शरीर की दो भुजाएं हैं। एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण का अस्तित्व बनाए रखने हेतु लड़ने के लिए बाध्य है। इस संबंध में मुझे प्रो. डाइसी की सारगर्भित टिप्पणियां याद आती हैं, जो उन्होंने अपने 'इंगलिश कांस्टिट्यूशन' में दी हैं। संसद की विधायी सर्वोच्चता की वास्तविक परिसीमा के संबंध में डाइसी ने कहा है - ''किसी भी प्रभुतासंपन्न, विशेषत: संसद द्वारा सत्ता का वास्तविक प्रयोग दो परिसीमाओं से परिबद्ध या नियंत्रित है। इनमें एक बाह्य और दूसरी आंतरिक परिसीमा है। किसी प्रभुतासंपन्न की वास्तविक शक्ति की बाह्य सीमा ऐसी संभावना या निश्चितता को कहा जाता है कि उसकी प्रजा या अधिकांश प्रजा उसके कानूनों की अवज्ञा या विरोध करेगी। प्रभुसत्ता के प्रयोग की आंतरिक सीमा स्वयं प्रभुसत्ता के स्वरूप से उत्पन्न होती है। निरकुंश शासक भी अपने चरित्र के अनुसार अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है, जिसका निर्माण उसकी परिस्थिति, तत्समय प्रवृत्त नैतिक भावनाओं और उस समाज के आधार पर होता है, जिससे वह संबंधित है। सुल्तान अगर चाहता भी तो मुस्लिम विश्व के धर्म को परिवर्तित नहीं कर सका। लेकिन यदि वह ऐसा कर भी सकता था तो यह बिल्कुल असंभव था कि मुस्लिम धर्म का अध्यक्ष मुस्लिम धर्म को समाप्त करना चाहेगा। सुल्तान की शक्ति का प्रयोग करने से संबद्ध आंतरिक व्यवस्था भी इतनी ही मजबूत थी, जितनी कि बाह्य परिसीमा। लोग कभी-कभी व्यर्थ का प्रश्न पूछते हैं कि पोप ने अमुक सुधार लागू क्यों नहीं किया ? इसका सही उत्तर यह है कि एक क्रांतिकारी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो पोप बन जाए और जब कोई आदमी पोप बन जाएगा, तब वह एक क्रांतिकारी बनना नहीं चाहेगा।'' मेरे विचार से ये अभ्युतियां भारत के ब्राह्मणों पर भी समान रूप से लागू होती हैं और कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि यदि कोई व्यक्ति पोप बन जाता है तो एक क्रांतिकारी बनने की उसकी इच्छा नहीं होती। जो व्यक्ति ब्राह्मण पैदा हुआ है, वह एक क्रांतिकारी बनने की इच्छा बहुत कम करता है। वास्तव में, सामाजिक सुधार के मामले में किसी ब्राह्मण से एक क्रांतिकारी बनने की आशा करना उतना ही बेकार है जितना कि ब्रिटिश संसद से यह आशा करना, जैसा कि लेस्ली स्टीफन ने कहा था कि वह ऐसा अधिनियम पारित करेंगे, जिसके अनुसार सभी नीली आंखों वाले बच्चों की हत्या कर दी जाएगी।

आपमें से कुछ यह कहेंगे कि यह एक मामूली बात है कि जातिप्रथा समाप्त करने के आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए ब्राह्मण आगे आएं अथवा नहीं। मेरे विचार से इस दृष्टिकोण का अपनाया जाना समाज के बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा अदा की गई भूमिका की उपेक्षा करना होगा। चाहे आप इस सिद्धांत को मानें या न मानें कि एक महान पुरुष इतिहास का निर्माता होता है, लेकिन आपको इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग रहा है, वह भले ही शासक वर्ग न रहा हो। बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। किसी भी

देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्राय:बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण और अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का संपूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतंत्र और निष्पक्ष है तो उस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आपमें कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है, जिसे एक बुद्धिमान व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान व्यक्ति भला हो सकता है, लेकिन साथ ही वह दुष्ट भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्च विचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है, जो सहायता करने के लिए तैयार रहता है और पथभ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है। बुद्धिजीवी वर्ग धोखेबाजों का एक गिरोह या संकीर्ण गुट के वकीलों का निकाय हो सकता है, जहां से उसे सहायता मिलती है। आपको यह सोचकर खेद होगा कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण जाति का ही दूसरा नाम है। आप इस बात पर खेद व्यक्त करेंगे कि ये दोनों एक हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का अस्तित्व किसी एक जाति से आबद्ध होना चाहिए और इस बुद्धिजीवी वर्ग को ब्राह्मण जाति के हितों एवं आकांक्षाओं में साझेदारी करनी चाहिए, जिसने अपने आपको देश के हितों के बजाए उस जाति के हितों का अभिरक्षक समझ रखा है। सारी स्थिति अत्यंत खेदजनक हो सकती है। लेकिन सच्चाई यह है कि ब्राह्मण लोग ही हिन्दुओं का बुद्धिजीवी वर्ग है। यह केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं है, बल्कि यह वह वर्ग है जिसका कि शेष हिन्दू लोग बहुत आदर करते हैं। हिन्दुओं को यह पढ़ाया जाता है कि ब्राह्मण भूदेव हैं – 'वर्णानाम् ब्राह्मणों गुरु'। हिन्दुओं को यह पढ़ाया जाता है कि उनके शिक्षक केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं। मनु ने कहा है, "यदि यह पूछा जाए कि धर्म के उन विषयों में क्या किया जाएगा, जिनका कि विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया गया है, तो उत्तर यह है कि शिष्ट ब्राह्मण जो भी प्रस्तुत करेंगे, वह विधिमान्य होगा"

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मण ब्रूयुः सधर्मः स्यादशङ्कितः ॥

जब ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग जिसने शेष हिन्दू समाज पर नियंत्रण कर रखा है जाति-व्यवस्था में सुधार करने का विरोधी है, तभी मुझे जातिप्रथा समाप्त करने वाले आंदोलन का सफल होना नितांत असंभव दिखाई देता है।

मैं यह क्यों कहता हूं कि यह कार्य असंभव है, इसका दूसरा कारण तब स्पष्ट होगा, जब आप यह याद रखेंगे कि जाति-व्यवस्था के दो पक्ष हैं। पहले पक्ष के अनुसार मनुष्यों को अलग-अलग समुदायों में विभाजित किया जाता है। जाति-व्यवस्था के दूसरे पक्ष के अनुसार सामाजिक दर्जे में इन समुदायों का सोपानिक क्रम निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक

जाति को गर्व है और इस बात से संतुष्टि है कि वह जाति-क्रम में किसी अन्य जाति से ऊंची है। इस श्रेणीकरण के बाह्य लक्षण के रूप में सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का भी एक श्रेणीकरण है, जिन्हें शास्त्रीय रूप से 'अष्टाधिकार' और 'संस्कार' कहा जाता है। किसी जाति का दर्जा जितना ऊंचा होगा, उतने ही अधिक उसके अधिकार होंगे। जिस जाति का दर्जा जितना नीचा होगा, उतने ही कम उसके अधिकार होंगे। समुदायों के इस श्रेणीकरण तथा जातियों के इस सोपान ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध एक सामूहिक मोर्चा खोलना असंभव बना दिया है। यदि कोई जाति अपने से ऊंची जाति के साथ रोटी-बेटी का संबंध करने के अधिकार का दावा करती है तो उसका तत्काल निषेध कर दिया जाता है और शरारती लोग जिनमें अनेक ब्राह्मण भी शामिल हैं, यह कहते हैं कि यह रोटी-बेटी का संबंध अपने से नीची जाति तक ही अनुमत होगा। सभी लोग जाति-व्यवस्था के दास हैं। लेकिन सभी दासों का दर्जा बराबर नहीं है। आर्थिक क्रांति लाने हेतु सर्वहारा वर्ग को उत्तेजित करने के लिए कार्ल मार्क्स ने उनसे यह कहा था - "दासता को छोड़कर आपका और कुछ नहीं जाएगा।" जिस कलात्मक ढंग से विभिन्न जातियों में सामाजिक और धार्मिक अधिकार वितरित (किसी जाति को ज्यादा तो कुछ को कम) किए गए थे, कार्ल मार्क्स के नारे का वह कलात्मक ढंग जाति-व्यवस्था के विरुद्ध हिन्दुओं को उत्तेजित करने के लिए एकदम बेकार है। जातियां उच्च और अवर प्रभुसत्ताओं की श्रेणीकृत व्यवस्था होती हैं। वे अपने दर्जे के लिए सतर्क होती हैं और यह जानती हैं कि यदि जातियों का सामान्य विलय हुआ तो उनमें से कुछ की प्रतिष्ठा और शक्ति दूसरी जातियों के अपेक्षाकृत अधिक समाप्त हो जाएगी। इसे सैनिक भाषा में यों कहा जाएगा कि आप जाति-व्यवस्था पर आक्रमण करने के लिए हिन्दुओं की आम लामबंदी नहीं कर सकते।

22

क्या आप तर्क का प्रश्न उठा सकते हैं और हिन्दुओं से यह कह सकते हैं कि वे जाति-व्यवस्था को समाप्त करें, क्योंकि वह तर्क के विरुद्ध है? इससे यह प्रश्न उठता है : क्या हिन्दू अपने तर्क का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र हैं ? मनु ने तीन अनुशास्तियां विहित की हैं, जिनके अनुसार प्रत्येक हिन्दू को आचरण करना चाहिए :

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः

यहां तर्क का प्रयोग करने के लिए कोई स्थान नहीं है। हिन्दू को 'स्मृति' या 'सदाचार' का पालन करना होगा। वह किसी अन्य का पालन नहीं कर सकता। इस संबंध में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि यदि वेदों और स्मृतियों के अर्थों के संबंध में कोई संदेह उठता है तो उनके पाठ का निर्वचन कैसे किया जाएगा ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न के संबंध में मनु के निश्चित विचार हैं। वे कहते हैं :

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयात् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः ॥

इस नियम के अनुसार वेदों और स्मृतियों की व्याख्या करने वाले सिद्धांत के रूप में तर्कणावाद को पूर्णतः निराकृत किया गया है। इसे नास्तिकता के समान ही अनैतिक माना गया है और इसके लिए 'बहिष्कार' करने की दंड-व्यवस्था की गई है। इस प्रकार जहां कोई विषय वेद या स्मृति से संबंधित होगा, वहां हिन्दू तर्कपूर्ण विचार नहीं कर सकता। यहां तक कि जहां वेदों और स्मृतियों में उन विषयों पर विरोध है जिनमें उन्होंने स्पष्ट निषेधाज्ञा जारी कर रखी है, वहां भी तर्क का प्रयोग नहीं किया जाएगा। यदि दो श्रुतियों में विरोध है तो उनकी प्रामाणिकता समान मानी जाएगी। दोनों में से किसी एक का पालन किया जा सकता है। लेकिन यह ज्ञात करने का कोई प्रयास नहीं किया जाएगा कि तर्क के आधार पर कौन सी श्रुति प्रामाणिक है। इसे मनु ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतो।

"यदि 'श्रुति' और 'स्मृति' के बीच विरोध है तो 'श्रुति' को प्रामाणिक माना जाएगा।" इनके विषय में भी यह ज्ञात करने का प्रयास नहीं किया जाएगा कि तर्क के आधार पर दोनों में से कौन सी प्रामाणिक है। इसका उल्लेख मनु ने निम्नलिखित श्लोक में किया है:

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि तः स्मृताः ॥

इसके अतिरिक्त, यदि दो स्मृतियों में विरोध है तो 'मनु स्मृति' को प्रामाणिक माना जाएगा, लेकिन यह प्रयास नहीं किया जाएगा कि तर्क के आधार पर कौन सी स्मृति प्रामाणिक है। वृहस्पति द्वारा दी गई व्यवस्था इस प्रकार है :

वेदायत्वोपनिबंधृत्वत् प्रमाण्यं हि मनोः स्मृतं ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सान शस्यते ॥

अतः यह स्पष्ट है कि कोई भी हिन्दू उस किसी भी विषय में जिसमें श्रुतियों और स्मृतियों ने सुस्पष्ट निर्देश दे दिया है, अपनी तर्क शक्ति का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। 'महाभारत' में भी यही नियम विहित किया गया है :

पुराणं मानवो धर्मः सांगा वेदश्चिकित्सितं ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

हिन्दू को इन निर्देशों का पालन करना होगा। जाति तथा वर्ण ऐसे विषय हैं, जिन पर वेदों और स्मृतियों में विचार किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यदि किसी हिन्दू से तर्क करने का आग्रह किया जाए तो उस पर कोई असर नहीं होता। जहां तक जाति और वर्ण का संबंध है, शास्त्रों में केवल यही नहीं कहा गया है कि हिन्दू किसी प्रश्न पर निर्णय लेने में तर्क का आधार नहीं ले सकता, बल्कि यह भी कहा गया है कि जाति और वर्ण-व्यवस्था में उसके विश्वास के आधार की समीक्षा तार्किक ढंग से नहीं की जाएगी। अनेक गैर-हिन्दू लोगों के लिए यह मौन मनोरंजन का विषय साबित होगा, जब वे यह देखेंगे कि कुछ अवसरों जैसे रेल यात्रा तथा विदेश यात्रा में अनेक हिन्दू जाति का बंधन तोड़ देते हैं,

लेकिन फिर भी वे अपने शेष जीवन में जाति-व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास करते रहते हैं। यदि इस घटना की व्याख्या की जाए तो ज्ञात होगा कि हिन्दुओं की तर्क शक्ति पर एक और नियंत्रण है। मनुष्य का जीवन सामान्यतः आभ्यासिक तथा अचिंतनशील होता है। किसी धर्म, विश्वास या ज्ञान के कल्पित रूप के संबंध में सक्रिय, संगत एवं श्रमसाध्य विचार की दृष्टि से (उसके समर्थक आधार तथा संभावित निष्कर्षों के परिप्रेक्ष्य में) चिंतनशील विचार यदा-कदा और केवल धर्मसंकट में किया जाता है। किसी हिन्दू के जीवन में रेल यात्राएं और विदेश यात्राएं वास्तव में ऐसे ही धर्मसंकट होते हैं। ऐसे अवसरों पर किसी हिन्दू से यह आशा करना स्वाभाविक है कि वह अपने आपसे यह पूछे कि जब वह सदैव जाति-व्यवस्था का पालन नहीं कर सकता तो वह जाति-व्यवस्था को मानता ही क्यों है। लेकिन वह यह प्रश्न अपने आपसे नहीं करता है। वह एक कदम पर जातपांत को तोड़ देता है और दूसरे कदम पर कोई प्रश्न उठाए बिना उसका पालन करने लगता है। ऐसा आश्चर्यजनक आचरण करने का कारण शास्त्रों के नियम में मिलेगा जो उसे यह निर्देश देता है कि उसे यथासंभव जाति-व्यवस्था का पालन करना चाहिए और पालन न करने की स्थिति में उसे प्रायश्चित करना चाहिए। प्रायश्चित के इस सिद्धांत के अनुसार शास्त्रों ने समझौते वाली भावना का पालन करते हुए जाति-व्यवस्था को हमेशा के लिए जीवनदान दे दिया और चिंतनशील विचारों की अभिव्यक्ति को दबा दिया, क्योंकि ऐसा न करने पर जाति-व्यवस्था की धारणा नष्ट हो सकती थी।

ऐसे अनेक समाज सुधारक हुए हैं, जिन्होंने जातिप्रथा तथा अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के लिए कार्य किया है। उनमें रामानुज, कबीर आदि प्रमुख हैं। क्या आप इन समाज सुधारकों के कार्यों का समर्थन कर सकते हैं और हिन्दुओं को उपदेश दे सकते हैं कि वे उनका पालन करें ? यह सच है कि मनु ने श्रुति और स्मृति के साथ अनुशास्ति के रूप में सदाचार को भी शामिल कर दिया है। वास्तव में सदाचार को शास्त्रों के अपेक्षाकृत उच्च स्थान प्रदान किया गया है :

यद्यद्दाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा ।
देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धिकीर्तितम् ॥

सदाचार - भले ही शास्त्रों के अनुसार धर्म्य या अधर्म्य हो या शास्त्रों के प्रतिकूल हो, लेकिन उसका पालन करना होगा। सदाचार का अर्थ क्या है? यदि कोई व्यक्ति यह मानता है कि सदाचार का अर्थ किसी भले या धार्मिक व्यक्ति के उचित या नेक कार्यों से है तो यह उसकी सबसे बड़ी गलती होगी। सदाचार का अर्थ नेक कार्यों या नेक व्यक्ति के कार्यों से नहीं है। इसका अर्थ अच्छी या बुरी - प्राचीन प्रथा से है। यह बात निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट की गई है :

यस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां किल सर्वेषां स सदाचार उच्यते ॥

लोगों को इस विचार के विरुद्ध चेतावनी देने के लिए कि सदाचार का अर्थ नेक कार्यों या नेक व्यक्ति के कार्यों से नहीं है और इस बात की आशंका करते हुए कि लोग इसका अर्थ वैसा ही समझ सकते हैं और नेक व्यक्तियों के कार्यों का अनुसरण कर सकते हैं, स्मृतियों में हिन्दुओं को स्पष्ट आज्ञा दी गई है कि वे नेक कार्यों के लिए देवताओं का भी अनुसरण न करें, यदि वे श्रुति, स्मृति और सदाचार के प्रतिकूल हैं। इसे आप चाहे असाधारण या अत्यंत विकृत विचार कह सकते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि 'न देव चरितं चरेत्' एक निषेधाज्ञा है, जो हिन्दुओं को उनके शास्त्रों द्वारा दी गई है। किसी भी सुधारक के शास्त्रागार में तर्क और नैतिकता - दो ही शक्तिशाली हथियार होते हैं। यदि उससे ये दोनों हथियार छीन लिए जाएं तो वह कार्य करने में असशक्त हो जाएगा। आप जाति-व्यवस्था को कैसे समाप्त कर पाएंगे, जब लोगों को यह सोचने की स्वतंत्रता नहीं है कि क्या यह नैतिकता के अनुकूल है ? जाति-व्यवस्था के चारों तरफ बनाई गई दीवार अभेद्य है और जिस सामग्री से इसका निर्माण किया गया है, उसमें तर्क और नैतिकता जैसी कोई ज्वलनशील वस्तु नहीं है। इसी दीवार के पीछे ब्राह्मणों की फौज खड़ी है - उन ब्राह्मणों की जो एक बुद्धिजीवी वर्ग है, उन ब्राह्मणों की जो हिन्दुओं के प्राकृतिक नेता हैं, उन ब्राह्मणों की जो वहां मात्र भाड़े के सैनिकों के रूप नहीं हैं, बल्कि अपने देश के लिए लड़ती हुई सेना के रूप में हैं। अब आप समझ गए होंगे कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूं कि हिन्दुओं की जातिप्रथा को समाप्त करना प्राय: असंभव है। बहरहाल, इसे समाप्त करने से पहले कई युग बीत जाएंगे। चाहे कार्य करने में समय लगता है या चाहे उसे तुरंत किया जा सकता है, लेकिन आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आप जातिप्रथा में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिए आपको हर हालत में वेदों और शास्त्रों में डाइनामाइट लगाना होगा, क्योंकि वेद और शास्त्र किसी भी तर्क से अलग हटाते हैं और वेद तथा शास्त्र किसी भी नैतिकता से वंचित करते हैं। आपको 'श्रुति' और 'स्मृति' के धर्म को नष्ट करना ही चाहिए। इसके अलावा और कोई चारा नहीं है। यही मेरा सोचा-विचारा हुआ विचार है।

23

कुछ लोग नहीं समझ सकते कि धर्म के विनाश से मेरा आशय क्या है; कुछ को यह धारणा विद्रोही लग सकती है और कुछ को यह क्रांतिकारी विचार लग सकता है। इसलिए मैं अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूं। मैं नहीं जानता कि क्या आप सिद्धांतों और नियमों में भेद करते हैं या नहीं। लेकिन मैं इनके बीच भेद मानता हूं। मैं न केवल इनको अलग-अलग मानता हूं, बल्कि यह भी मानता हूं कि इनमें भेद वास्तविक और महत्वपूर्ण है। नियम व्यावहारिक होते हैं इनके निर्धारित मानदंड के अनुसार काम करने के प्रथागत रास्ते हैं। परन्तु सिद्धांत बौद्धिक होते हैं, ये चीजों को परखने के उपयोगी साधन हैं। ये नियमकर्ता को बताते हैं कि किसी कार्य को करने के लिए कौन सी कार्यविधि अपनाई जाए। सिद्धांत कोई निश्चित कार्यविधि निर्धारित नहीं करते। नियम खाना बनाने की विधि की तरह बताते हैं कि क्या

किया जाए और कैसे किया जाए। सिद्धांत, जैसे न्याय के सिद्धांत प्रमुख शीर्ष बताते हैं, जिसके संदर्भ में उसे अपनी इच्छाओं और लक्ष्यों के दिशाकोण पर विचार करना होता है, ये उसे सुझाव देकर उसका मार्गदर्शन करते हैं कि उसे किन महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना चाहिए। नियम और सिद्धांतों का भेद उसके किए गए कार्य के गुण और विषय-वस्तु से अंतर स्पष्ट हो जाता है। कोई अच्छा कार्य करना जिसे नियम अच्छा मानते हैं, तथा सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में अच्छा कर्म करना, दो अलग-अलग बातें हैं। सिद्धांत गलत भी हो सकता है, लेकिन इसके अंतर्गत किया गया कर्म सचेतन होता है और इसका एक उत्तरदायित्व होता है। नियम सही हो सकता है और इसके अंतर्गत किया गया कर्म मशीनी होता है। कोई धार्मिक कर्म सही कर्म न भी हो किंतु इस कर्म का एक उत्तरदायित्व होता है। इस उत्तरदायित्व के कारण धर्म केवल सिद्धांतों पर आधारित होता है। यह नियमों का विषय नहीं हो सकता जिस क्षण सिद्धांत विकृत होकर नियम में बदल जाता है, उसी समय यह धर्म नहीं रह जाता क्योंकि वह उत्तरदायित्व को समाप्त कर देता है जो वास्तविक धार्मिक कर्म का सार होता है। हिन्दू धर्म क्या है ? क्या ये सिद्धांतों का समूह है या नियम-संहिता ? वेदों और स्मृतियों में वर्णित हिन्दू धर्म कुछ भी नहीं है, यह केवल बलि, सामाजिक, राजनैतिक तथा स्वच्छता के नियम और विनियमन का मिलाजुला पुंज है। हिन्दू जिसे धर्म कहते हैं, वह और कुछ भी नहीं केवल आदेशों तथा निषेधाज्ञों का पुलिंदा है। आध्यात्मिक सिद्धांतों के रूप में धर्म यथार्थ में सार्वभौमिक होता है, जो सारी प्रजातियों और देशों पर हर काल में समान रूप से लागू होता है। ये तत्व हिन्दू धर्म में विद्यमान नहीं हैं और यदि हैं भी तो ये हिन्दू के जीवन को संचालित नहीं करते। हिन्दू के लिए 'धर्म' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से आदेशों और निषेधाज्ञों से है और धर्म शब्द वेदों और स्मृतियों में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा ऐसा ही टीकाकारों द्वारा समझा गया है। वेदों में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का तात्पर्य धार्मिक अध्यादेशों या अनुष्ठानों से है। यहां तक कि जेमिनी ने अपनी 'पूर्व मीमांसा' में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है, ''एक इच्छित लक्ष्य या परिणाम जो आदेशार्थ हैं, जिसे वैदिक परिच्छेदों में बताया गया है।'' सरल और सीधी भाषा में कहा जाए तो हिन्दू 'धर्म' को कानून या अधिक से अधिक कानूनी वर्ग-नीति मानते हैं। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो मैं इस अध्यादेशीय संहिता को 'धर्म' मानने से इन्कार करता हूं। गलत रूप से धर्म कही जाने वाली इस अध्यादेशीय संहिता की पहली बुराई यह है कि यह नैतिक जीवन की स्वतंत्रता और स्वेच्छा से वंचित करती है तथा बाहर से थोपे गए नियमों द्वारा चिंतित और चाटुकार बना देती है। इसके अंतर्गत आदर्शों के प्रति निष्ठा नहीं है, केवल आदेशों का पालन ही आवश्यक है। इस अध्यादेशीय संहिता की सबसे बड़ी बुराई यह है कि इसमें वर्णित कानून कल, आज और हमेशा के लिए एक ही हैं। ये कानून असमान हैं तथा सभी वर्गों पर समान रूप से लागू नहीं होते। इस असमानता को चिरस्थायी बना दिया गया है क्योंकि इसे सभी पीढ़ियों के लिए एक ही प्रकार से लागू किया गया है। आपत्तिजनक बात यह नहीं है कि इस संहिता को किसी पेगम्बर

या कानूनदाता कहे जाने वाले महान व्यक्ति ने बनाया है। आपत्तिजनक बात यह है कि इस संहिता को अंतिमता व स्थिरता प्रदान की गई है। मन की प्रसन्नता किसी व्यक्ति की अवस्थाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। मन की प्रसन्नता अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग काल में भी बदलती रहती है। इस स्थिति में मानवता कब तक शिकंजे में जकड़े और अपंग बने रहकर इस बाहरी कानून की संहिता को सहन कर सकती है ? इसलिए यह कहने में मुझे कोई झिझक नहीं है कि ऐसे धर्म को नष्ट किया जाना चाहिए तथा ऐसे धर्म को नष्ट करने का कार्य अधर्म नहीं कहलाएगा। वास्तव में, मैं कहता हूं कि आपका परम कर्तव्य यह है कि आप इस मुखौटे को उतार दो जो गलत रूप से कानून को धर्म बताता है। आपके लिए यह एक आवश्यक कार्य है। एक बार आप लोगों को साफ-साफ बता देते हैं कि यह धर्म, धर्म नहीं है, यह वस्तुत: एक कानून है। तब आप यह कहने की स्थिति में होंगे कि इसमें संशोधन किया जाए या इसे समाप्त किया जाए। जब तक लोग इसे धर्म मानते रहेंगे, तब तक वे इसमें संशोधन के लिए तैयार नहीं होंगे, क्योंकि यदि आमतौर पर कहा जाए तो धर्म को बदल डालने का विचार मान्य नहीं होता है। लेकिन कानून की धारणा बदलाव की धारणा से जुड़ी होती है और जब आप समझ जाते हैं कि यह धर्म एक पुराना तथा पुरातत्वीय है, तब तो इसे बदलने के लिए तैयार हो जाएंगे क्योंकि लोग जानते हैं कि कानून बदला जा सकता है।

24

यद्यपि मैं धर्म के नियमों की निंदा करता हूं, इसका अर्थ यह न लगाया जाए कि धर्म की आवश्यकता ही नहीं। इसके विपरीत मैं बर्क के कथन से सहमत हूं, जो कहता है : "सच्चा धर्म समाज की नींव है, जिस पर सब नागरिक सरकारें टिकी हुई हैं।"

परिणामत: जब मैं यह अनुरोध करता हूं कि जीवन के ऐसे पुराने नियम समाप्त कर दिए जाएं, तब मैं यह देखने का उत्सुक हूं कि इसका स्थान 'धर्म के सिद्धांत' ले लें, तभी हम दावा कर सकते हैं कि यही सच्चा धर्म है। वास्तव में, मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूं कि धर्म आवश्यक है। इसलिए मैं आपको कहना चाहता हूं कि धर्म में सुधार को मैं एक आवश्यक पहलू मानता हूं। मेरे विचार से धर्म में सुधार के मूलभूत मुद्दे इस प्रकार हैं : (1) हिन्दू धर्म की केवल एक और केवल एक ही मानक पुस्तक होनी चाहिए, जिसे सारे के सारे हिन्दू स्वीकार करें और मान्यता दें। इससे वस्तुत: मेरा तात्पर्य यह है कि वेदों, शास्त्रों और पुराणों को पवित्र और अधिकृत ग्रंथ मानने पर रोक लगे तथा इन ग्रंथों में निहित धार्मिक या सामाजिक मत का प्रवचन करने पर सजा का प्रावधान हो, (2) अच्छा होगा यदि हिन्दुओं में पुरोहिताई समाप्त की जाए। चूंकि ऐसा होना असंभव है, इसलिए पुरोहिताई पुश्तैनी नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने को हिन्दू मानता है, उसे राज्य के द्वारा परीक्षा पास कर सनद प्राप्त कर लेने पर पुजारी बनने का अधिकार होना चाहिए, (3) बिना सनद के धर्मानुष्ठान करने को कानूनन वैध नहीं माना जाना चाहिए। जिनके पास सनद नहीं है, उनके

द्वारा पुजारी का काम किए जाने पर सजा का प्रावधान हो, (4) पुजारी एक सरकारी नौकर होना चाहिए, जिसके ऊपर नैतिकता, आस्था तथा पूजा के मामलों में अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सके। इसके अलावा उस पर नागरिक कानून भी लागू होने चाहिएं, और (5) पुजारियों की संख्या को कानून द्वारा आवश्यकता के अनुरूप सीमित किया जाना चाहिए, जैसा कि आई.सी.एस. के पदों की संख्या के बारे में किया जाता है। कुछ लोगों के लिए यह सुझाव अति सुधारवादी लग सकता है। लेकिन इसे मैं क्रांतिकारी कदम नहीं मानता हूं। भारत में प्रत्येक व्यवसाय का नियमन किया गया है। जैसे इंजीनियर द्वारा योग्यता दर्शाई जानी चाहिए। डाक्टर द्वारा योग्यता दर्शाई जानी चाहिए। वकील द्वारा भी योग्यता दर्शाई जानी चाहिए, इससे पहले कि वे अपने पेशे को अपनाएं। अपने पेशे के संपूर्ण समय के दौरान वे न केवल नागरिक और आपराधिक कानून मानने के लिए बाध्य हैं, बल्कि संबंधित पेशे में नैतिकता की विशेष आचार-संहिता भी मानने को वे बाध्य हैं। केवल पुजारी का ही पेशा ऐसा है, जिसमें योग्यता दर्शाने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दू पुजारी का ही केवल ऐसा पेशा है, जिसके लिए कोई आचार-संहिता निर्धारित नहीं है। मानसिक रूप से पुजारी मूर्ख हो सकता है, शारीरिक रूप से वह किसी खराब बीमारी, जैसे सूजाक या सिफलिस से ग्रसित हो सकता है और नैतिक रूप से वह अधर्मी हो सकता है। इसके बावजूद वह पुण्य अनुष्ठान कर सकता है, हिन्दू मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश कर सकता है तथा हिन्दू देवताओं की पूजा कर सकता है। इसके लिए एक ही शर्त है कि वह पुरोहित की जाति में पैदा हुआ हो। यह सब घृणास्पद है और यह सब इस कारण है कि हिन्दू पुजारी पर न तो कोई कानून लागू है और न ही कोई नैतिकता की आचार-संहिता। इनके लिए कोई कर्तव्य निर्धारित नहीं है। केवल अधिकार और सुविधाएं इन्हें मिली हुई हैं। यह एक ऐसी बला है, जिसे देवतागणों ने समाज के मानसिक तथा नैतिक पतन के लिए लाद दिया है। जैसा कि मैंने उससे पूर्व उल्लेख किया है, पुरोहित वर्ग को विधेयक द्वारा नियंत्रण में लिया जाना चाहिए। इससे लोगों का अनिष्ट करने और उन्हें गुमराह करने पर रोक लगेगी। इसमें पुरोहिताई प्रजातांत्रिक संस्था बन जाएगी तथा पुरोहित बनने के अवसर सभी के लिए खुल जाएंगे। इस प्रकार ब्राह्मणवाद को मारने में मदद मिलेगी और जातियों की समाप्ति के लिए भी मदद मिलेगी, जो ब्राह्मणवाद की ही देन है। ब्राह्मणवाद ऐसा जहर है, जिससे हिन्दूवाद खराब हुआ है। ब्राह्मणवाद को मारने के बाद ही आप हिन्दूवाद को बचाने में सफल हो पाएंगे। किसी भी ओर से इन सुधारों का विरोध नहीं होना चाहिए। आर्य समाजियों द्वारा भी इन सुझावों का स्वागत किया जाना चाहिए, क्योंकि ये उनके द्वारा अपनाए गए सिद्धांत 'गुणकर्म' के अनुरूप हैं।

चाहे आप ऐसा करें या न करें, आपको अपने धर्म को एक नया सैद्धांतिक आधार देना होगा, जो स्वतंत्रता, समानता और भाई-चारे के, संक्षेप में, प्रजातंत्र के अनरूप हो। मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूं। लेकिन मुझे बताया गया है कि ऐसे धार्मिक सिद्धांत जो स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के अनुरूप हों, उन्हें विदेश से लाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

इस प्रकार के सिद्धांत उपनिषदों में वर्णित हैं। आप चाहें तो पूरा ढांचा बदले बिना कच्ची धातु की यथेष्ट कटाई-छटाई करके यह किया जा सकता है, जो मेरे कथन से अधिक है। इसका तात्पर्य है कि जीवन की मूलभूत धारणाओं को पूरी तरह बदला जाए। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य और चीजों के प्रति दृष्टिकोण तथा रवैऐ में पूरा बदलाव लाया जाए। इसका अर्थ है 'धर्म-परिवर्तन' परंतु यदि आप इस शब्द को पसंद नहीं करते तो मैं कहूंगा इसका अर्थ है - नया जीवन। लेकिन एक नया जीवन मृत शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। नया जीवन केवल नए शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। इससे पहले कि नया शरीर अस्तित्व में आए और उसमें नया जीवन प्रवेश कर सके, पुराने शरीर को हर हालत में मरना चाहिए। साधारण शब्दों में, इससे पहले कि नया जीवन डाला जाए और उसमें स्पंदन हो, पुराने ढर्रे को समाप्त होना चाहिए। यही मेरे कहने का अर्थ है, जब मैंने कहा था कि शास्त्रों की सत्ता को हटाओ और शास्त्रों का धर्म नष्ट कर दो।

25

मैंने आपको बहुत देर तक बिठाकर रखा है। अब समय आ गया है कि मैं अपना भाषण समाप्त करूं। यह एक सुविधाजनक बिंदु है, जहां मुझे रुक ज़ाना चाहिए। लेकिन संभवत: हिन्दू श्रोताओं के बीच में ऐसे विषय पर मेरा अंतिम भाषण है, जो विषय हिन्दुओं के लिए प्राणाधार है। इससे पहले कि मैं भाषण देना बंद करूं, मैं हिन्दुओं के सामने ऐसे प्रश्न रखना चाहता हूं, जिसको मैं अति महत्वपूर्ण समझता हूं और मैं उन्हें उन पर विचार करने के लिए आमंत्रित करता हूं।

सबसे पहले हिन्दुओं को विचार करना चाहिए कि क्या वे आस्था, आदतें, नैतिकता और जीवन के प्रति धारणा के बारे में नृजाति-विज्ञानियों के शांतिपूर्ण दृष्टिकोण को मानना काफी मानते हैं जो संसार के अलग-अलग लोगों में भिन्न-भिन्न रूप में पाए जाते हैं, या यह क्या आवश्यक नहीं है कि यह पता लगाने का प्रयास किया जाए कि संसार में किस प्रकार की नैतिकता, आस्था तथा दृष्टिकोण रखने वाले लोग पनपे हैं, मजबूत हुए हैं तथा उन्होंने इस पृथ्वी पर राज किया है। जैसा कि प्रोफेसर कारवर ने कहा है, ''नैतिकता और धर्म जो नैतिक स्वीकृति और अस्वीकृति की संगठित अभिव्यक्ति है, अस्तित्व के संदर्भ में महत्वपूर्ण तत्व हैं जो आक्रमण और रक्षा के सच्चे हथियार, दांत और पंजे, सींग और खुर, फर और पंख, अर्थात् सब कुछ हैं। सामाजिक समूह, समुदाय, आदिम निवासी या राष्ट्र जो नैतिकता की अव्यवहार्य योजनाएं विकसित कर लेते हैं या इनके अंतर्गत ऐसे सामाजिक कर्म विकसित कर लेते हैं जो उन्हें अस्तित्व के लिए कमजोर और अक्षम बनाते हैं, आदतन स्वीकृति की भावना पैदा करते हैं, जब कि वे सामाजिक कर्म जो उन्हें मजबूत और विस्तार के लिए समर्थ बनाते हैं, आदतन तिरस्कार की भावना पैदा करते हैं और अंतत: अस्तित्व के संघर्ष में मिट जाते हैं। इन आदतों की स्वीकृति या अस्वीकृति ही (ये धर्म और नैतिकता के परिणाम हैं) इन्हें उसी प्रकार पंगु बना देती है, जिस प्रकार मक्षिका के एक ओर दो पंख

हों तथा दूसरी ओर कोई पंख न हो तो मक्षिका उड़ ही नहीं पाएगी। इस बात पर बहस बेकार है कि एक व्यवस्था अच्छी है तो दूसरी व्यवस्था भी अच्छी होगी।" इसलिए नैतिकता और धर्म केवल पसंद और नापसंदगी के मुद्दे नहीं हैं। आप नैतिकता की व्यवस्था को अत्यधिक नापसंद कर सकते हैं, जिसे एक राष्ट्र में सार्वभौमिक रूप से लागू किया जाए तो वह राष्ट्र पृथ्वी पर एक सबसे मजबूत राष्ट्र बन जाएगा। आपकी नापसंदगी के बाद भी ऐसा राष्ट्र मजबूत हो जाएगा। आप किसी एक नैतिकता की व्यवस्था और न्याय के आदर्श को अत्यधिक पसंद कर सकते हैं, जो यदि किसी राष्ट्र में सार्वभौमिक रूप से लागू किया जाए तो वह राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ संघर्ष में खड़ा नहीं रह पाएगा। आपकी इस प्रशंसा के बावजूद ऐसा राष्ट्र अंततः लुप्त हो जाएगा। हिन्दुओं को अपने धर्म और नैतिकता को अस्तित्व के मूल्यों के संदर्भ में परखना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि हिन्दुओं को इस पर विचार करना चाहिए कि उन्हें अपनी संपूर्ण सामाजिक धरोहर को सुरक्षित रखना है या जो उपयोगी हो उसे चुनकर भावी पीढ़ियों को केवल उतना ही हस्तांतरित करना है और उससे अधिक बिल्कुल नहीं। प्रोफेसर जॉन डिवी, जो मेरे शिक्षक रहे हैं तथा जिनका मैं ऋणी हूं, ने कहा है, "प्रत्येक समाज छोटी सी बातों से, अतीत की सूखी लकड़ियों से तथा निश्चित रूप से विकृत चीजों से भार-ग्रस्त हो जाता है। चूंकि समाज अधिक प्रबुद्ध हो जाता है, इसलिए यह महसूस करता है कि वह संरक्षण के लिए उत्तरदायी नहीं है और अपनी वर्तमान समग्र उपलब्धियों के प्रेषणा के लिए भी उत्तरदायी नहीं है, परंतु वह केवल इस बात का उत्तरदायी है कि अधिक श्रेष्ठ भावी समाज का निर्माण किया जाए।" यहां तक कि बर्क फ्रांस की क्रांति में निहित सिद्धांतों के बदलाव का तीव्र विरोध करने के बावजूद यह मानने को बाध्य हुआ कि "ऐसा राज्य जो बदलाव के साधन से रहित है, वह राज्य के रक्षण के साधनों से भी रहित है। बदलाव के साधन के बिना ऐसे राज्य को संविधान के उस भाग का नुकसान होने का भी जोखिम उठाना पड़ेगा, जिस भाग की वह धर्मनिष्ठा से रक्षा करना चाहता है।" बर्क ने राज्य के बारे में जो कहा है, वही बात समाज के बारे में भी लागू होती है।

तीसरी बात यह है कि हिन्दुओं को अतीत की पूजा बंद करने पर विचार करना चाहिए। इस पूजा के गलत परिणामों के बारे में प्रोफेसर डिवी ने कहा है, "व्यक्ति केवल वर्तमान में जी सकता है। वर्तमान, भूतकाल के बाद नहीं आता या इसे भूतकाल का परिणाम ही नहीं मानेंगे। जीवन इसी में है कि अतीत को वर्तमान के पीछे छोड़ दिया जाए। अतीत के परिणामों के अध्ययन से ही वर्तमान को समझने में मदद नहीं मिलेगी। अतीत का तथा अतीत की धरोहर का वर्तमान में प्रवेश करने को ही महत्वपूर्ण समझना, अन्यथा नहीं। अतीत के रिकार्ड तथा अवशेष को बनाने में हुई गल्तियों को शिक्षा का प्रमुख साधन बना देने से अतीत को हम वर्तमान का विरोधी बना देते हैं तथा वर्तमान को हम बहुत कुछ अतीत की नकल बना देते हैं।" ऐसा सिद्धांत जो वर्तमान के जीने एवं आगे बढ़ने के कर्म को छोटा मानता है, वर्तमान

को रिक्त समझता है तथा भविष्य को बहुत दूर। ऐसा सिद्धांत प्रगति का दुश्मन है और जीवन के तेज व अनवरत प्रवाह में बाधा पैदा करता है।

चौथा, क्या हिन्दुओं को इस पर विचार कर मान नहीं लेना चाहिए कि कुछ भी स्थिर नहीं है, कुछ भी शाश्वत नहीं है और न ही कुछ सनातन है, हर चीज परिवर्तनशील है, व्यक्ति और समाज के लिए परिवर्तन जीवन का नियम है। एक बदलते हुए समाज में पुराने मूल्यों में सतत क्रांतिकारी बदलाव आना चाहिए तथा हिन्दुओं को यह महसूस करना चाहिए कि यदि कार्यों को मापने के कुछ मानक हैं तो उन मानकों को सुधारने के लिए तैयार रहना चाहिए।

26

मुझे यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह भाषण बहुत लंबा हो गया है। अब आपको निर्णय करना है कि अधिक सीमा तक इस गलती की क्षतिपूर्ति हुई है या नहीं। मैं यही दावा करता हूं कि मैंने अपने विचार स्पष्ट रूप से बता दिए हैं। मेरे पास इन विचारों की अनुशंसा के लिए कुछ अध्ययन और आपकी नियति के लिए गहन चिंता के सिवाय बहुत थोड़ा है। अगर आप मुझे अनुमति दें तो मैं कहूंगा कि ये विचार उस व्यक्ति के हैं, जो व्यक्ति न तो सत्ता का औजार है और न ही बड़ों का चाटुकार। ये विचार ऐसे व्यक्ति के हैं, जिसका सार्वजनिक जीवन गरीब और दबे-कुचले लोगों की स्वतंत्रता के लिए समर्पित है, लेकिन जिसकी राष्ट्रीय नेताओं और समाचार-पत्रों ने निंदा की। मैं बिना दांवपेंच खेले यह कहना चाहता हूं कि ऐसे नेताओं का साथ देने से मैं इन्कार करता हूं, जो निरकुंश के स्वर्ण से तथा रईस के धन से दबे-कुचले लोगों को स्वतंत्रता दिलाने का चमत्कार दिखाना चाहते हैं। मेरे विचारों की सिफारिश के लिए इतना सब काफी नहीं है। मैं सोचता हूं कि शायद ये विचार आपके विचारों को नहीं बदल पाएंगे। ये विचार ऐसा कर पाते हैं या नहीं, यह बात आप पर निर्भर है। आपको जातपांत को जड़ से उखाड़ फेंकने का काम अगर मेरे मार्गदर्शन से नहीं हुआ तो मैं आपका साथ नहीं दे पाऊंगा। मैंने भी बदलने का फैसला कर लिया है। यह उपयुक्त स्थान नहीं है, जहां इसके लिए मैं कारण बताऊं। लेकिन आपके दायरे से बाहर जाने के बाद भी मैं आपके आंदोलन को सक्रिय सहानुभूति से परखता रहूंगा तथा मैं यथाशक्ति आपकी सहायता करता रहूंगा। आपका यह एक राष्ट्रीय लक्ष्य है। इसमें संदेह नहीं है कि जातपांत हिन्दुओं की धड़कन है। पर हिन्दुओं ने वातावरण को प्रदूषित किया है, जिससे प्रत्येक संक्रमित है, जिसमें सिख, मुस्लिम और ईसाई भी शामिल हैं। आप, सिख, मुस्लिम और ईसाई सहित उन सबके समर्थन के पात्र हैं, जो इस संक्रमण से ग्रसित हैं। आपका राष्ट्रीय आंदोलन अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों से कठिन है, जैसे कि स्वराज। स्वराज के लिए संघर्ष में सारा राष्ट्र आपके साथ संघर्ष करता है। लेकिन आपके आंदोलन में आपको अपने ही राष्ट्र के साथ लड़ना पड़ता है। लेकिन यह आंदोलन स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण है। स्वराज का कोई मतलब नहीं रह जाएगा, अगर आप इसकी रक्षा न कर पाए। स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण,

प्रश्न स्वराज के अंतर्गत हिन्दुओं को बचाना है। मेरे विचार से हिन्दू समाज जब एक जातिहीन समाज बन जाएगा, तभी इसके पास स्वयं को बचाने के लिए काफी शक्ति होगी। इस आंतरिक ताकत के बिना हिन्दुओं के लिए स्वराज, गुलामी की ओर केवल एक कदम होगा। अलविदा तथा आपकी सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएं।

परिशिष्ट I

महात्मा गांधी द्वारा जातपांत का दोषनिवारण

'हरिजन' में छपे उनके लेख का पुनर्मुद्रण

डा. अम्बेडकर का अभ्यारोपण

1

पाठकों को याद होगा कि डा. अम्बेडकर ने लाहौर के जातपांत तोड़क मंडल के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता विगत मई माह में करनी थी। लेकिन स्वागत समिति ने डा. अम्बेडकर का भाषण अस्वीकार्य होने पर सम्मेलन का आयोजन ही स्थगित कर दिया था। अपनी पसंद के अध्यक्ष का भाषण आपत्तिजनक पाए जाने पर उसे स्वागत समिति द्वारा अस्वीकार करना कहां तक न्याय संगत है, जब कि उस भाषण पर प्रश्न उठाने के अवसर खुले थे। समिति जातपांत और हिन्दू धर्म-ग्रंथों के बारे में डा. अम्बेडकर के दृष्टिकोण से परिचित थी। उन्हें पता था कि डा. अम्बेडकर खुले शब्दों में हिन्दू धर्म छोड़ने का फैसला दे चुके थे। डा. अम्बेडकर से इस भाषण को कम करने की अपेक्षा ही नहीं करनी चाहिए थी। समिति ने जनता को एक ऐसे व्यक्ति के विचार सुनने से वंचित किया है, जिसने अपने लिए समाज में एक अद्वितीय स्थान बना लिया है। चाहे वह भविष्य में कोई भी आवरण ओढ़ ले, डा. अम्बेडकर अपने आपको भुलाने का अवसर नहीं देंगे।

स्वागत समिति डा. अम्बेडकर को पराजित नहीं कर पाई। उन्होंने यह भाषण अपने खर्चे पर प्रकाशित करके प्रत्युत्तर दे दिया है। उन्होंने प्रकाशित भाषण की कीमत आठ आना रखी। मेरा सुझाव है कि इसकी कीमत घटाकर दो आना नहीं तो कम से कम चार आना कर दी जाए।

कोई भी सुधारक इस भाषण की उपेक्षा नहीं कर सकता। रूढ़िवादी लोग इसे पढ़कर लाभान्वित होंगे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भाषण पर आपत्ति उठाने का अवसर खुला नहीं है। डा. अम्बेडकर हिन्दू धर्म के लिए एक चुनौती हैं। एक हिन्दू के रूप में उनका पालन-पोषण हुआ, एक हिन्दू राजा द्वारा पढ़ाए गए लेकिन वह तथाकथित सवर्णों से घृणा करते हैं, क्योंकि उन्होंने उनके साथ एवं उनके लोगों के साथ इतना दुर्व्यवहार किया है कि डा. अम्बेडकर ने उसी धर्म को छोड़ने का फैसला कर लिया है, जो सबकी सामूहिक धरोहर

है। उन्होंने अपनी घृणा को उस धर्म के मानने वालों के एक हिस्से के विरुद्ध मोड़ दिया है।

लेकिन इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आखिर, किसी व्यवस्था या संस्था की परख उसके प्रतिनिधियों के व्यवहार से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त डा. अम्बेडकर ने पाया कि सवर्ण हिन्दुओं के बहुमत ने अपने सह-धर्मावलंबियों के साथ उनको अछूत मानकर धर्मशास्त्रीय आधार पर अमानवीय व्यवहार किया है और जब उन्होंने खोज की, तो छुआछूत और उसके उपलक्षणों को मानने वालों के विरुद्ध बहुत अधिक प्रमाण उन्हें मिले। भाषण के लेखक ने अपने कथन के समर्थन में अध्याय और श्लोकों के प्रमाण देकर तीन आरोप लगाए हैं - पहला, अमानवीय व्यवहार करना, दूसरा, अत्याचार करने वालों ने निर्लज्जता से उसे सही बताया, और तीसरा, यह कहना कि धर्मशास्त्रों में ऐसे व्यवहार को उचित माना गया है।

कोई भी हिन्दू जो अपनी आस्था को जीवन से अधिक मानता है, वह दोषारोपण के महत्व को कम करके आंकलन नहीं कर सकता है। डा. अम्बेडकर (इस अमानवीय व्यवहार से) घृणा करने वाले अकेले व्यक्ति नहीं हैं। लेकिन वह इसके सबसे अधिक दृढ़ प्रतिज्ञ प्रतिवादक हैं तथा इसका प्रतिपादन करने वालों में सबसे योग्य व्यक्ति हैं। भगवान का धन्यवाद है कि अगली पंक्ति के नेता में वे सबसे अकेले हैं और तब भी वे थोड़े से अल्पसंख्यक लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन जो भी वे कहते हैं वह थोड़ा कम या ज्यादा ज़ोर से दलित वर्ग के नेताओं द्वारा दुहराया जाता है। उदाहरण के लिए, रायबहादुर एम.सी. राजा तथा दीवान बहादुर श्रीनिवासन न केवल हिन्दू धर्म छोड़ देने की धमकी देते हैं, बल्कि हरिजनों के बहुत बड़े वर्ग के शर्मनाक प्रतीड़न की क्षतिपूर्ति के लिए इसको ~ .साहजनक पाते हैं।

हम यह नहीं कह सकते है कि यह तथ्य ध्यान देने योग्य नहीं है, क्योंकि कई नेता डा. अम्बेडकर के कथन की अवहेलना कर हिन्दू बने रहेंगे। सवर्णों को अपनी मान्यता तथा व्यवहार को सही करना होगा। सवर्णों में जो विद्वान हैं तथा प्रभावशाली हैं, उन्हें धर्मशास्त्रों की अधिकृत तथा सही व्याख्या करनी होगी। डा. अम्बेडकर के अभियोग-पत्र ने जो प्रश्न उठाए हैं, वे इस प्रकार हैं :

(1) धर्मशास्त्र क्या हैं ?

(2) क्या छपे हुए मूलपाठ को धर्मशास्त्रों का अंगभूत हिस्सा माना जाए, या इसके किसी हिस्से को अनधिकृत रूप से अस्वीकृत माना जाए ?

(3) छुआछूत, जाति, प्रतिष्ठा की समानता, रोटी-बेटी के संबंध के प्रश्न पर धर्मशास्त्रों के मान्य व परिशोधित अंश का क्या उत्तर दिया जाए ?

(इन सब प्रश्नों का डा. अम्बेडकर ने अपने भाषण में विशद् विवेचन किया है)। इन प्रश्नों के उत्तर तथा डा. अम्बेडकर के शोधपूर्ण भाषण में निहित गलतियों पर मैं अपना वक्तव्य अगले अंक में दूंगा

('हरिजन' जुलाई 1936)

2

'रामायण', और 'महाभारत' सहित वेद, उपनिषद, स्मृतियां और पुराण हिन्दू धर्मशास्त्र हैं। लेकिन यही अंतिम सूची नहीं है। प्रत्येक युग और पीढ़ी ने इस सूची में कुछ न कुछ जोड़ा है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जो कुछ छपा है या हाथ से लिखा गया है, वही धर्मशास्त्र नहीं है। उदाहरण के लिए, स्मृतियों में बहुत कुछ है लेकिन उसे ईश्वर की वाणी नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार कई उदाहरण जो डा. अम्बेडकर ने स्मृतियों से दिए हैं, उन्हें अधिकृत नहीं माना जा सकता। सही धर्म ग्रंथ उन्हें ही कहा जा सकता, जो शाश्वत हैं तथा अंतःकरण को छूते हैं, अर्थात् उन लोगों के हृदय को आकर्षित करते हैं, जिनके ज्ञान चक्षु खुले हों। उसे ईश्वर की वाणी नहीं माना जा सकता, जो तर्क की कसौटी पर खरी न उतरे, या जिसे आध्यात्मिक प्रयोग में न लाया जा सके। और यदि आपके पास धर्मग्रंथ का परिशोधित संस्करण है तो भी आपको उसकी टीका की आवश्यकता पड़ेगी। सबसे अच्छा टीकाकार कौन है ? आवश्यक रूप से विद्वान नहीं हो सकता। फिर भी विद्वता आवश्यक है। लेकिन धर्म विद्वता पर नहीं चलता। धर्म साधू-संतों और उनके जीवन एवं कथन पर चलता है। साधू-संतों के संचित अनुभव को लोग मानते हैं व युगों तक प्रेरणा पाते हैं, जब कि धर्मग्रथों के सबसे अच्छे विद्वान टीकाकारों को लोग भुला देते हैं।

जातपांत का धर्म से कोई मतलब नहीं है। जाति एक रीति-रिवाज है, जिसके उद्‌गम को मैं नहीं जानता और न ही अपनी आध्यात्मिक क्षुधा की संतुष्टि के लिए जानना चाहता हूं। मैं नहीं जानता कि जाति आध्यात्मिक व राष्ट्रीय विकास के लिए हानिकारक है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था ऐसी संस्थाएं हैं, जिनको जातपांत से कुछ लेना-देना नहीं है। वर्ण - व्यवस्था का नियम सिखाता है कि पैतृक धंधा अपनाकर हम अपनी रोजी-रोटी कमा सकते हैं। यह हमारे अधिकार को ही नहीं, बल्कि कर्तव्य को भी परिभाषित करता है। वर्ण-व्यवस्था अवश्य ही व्यवसाय के संदर्भ में बनी है, जो केवल मानवता के कल्याण के लिए है और किसी अन्य के लिए नहीं। इसका अर्थ यह भी है कि कोई भी व्यवसाय न तो अत्यधिक नीचा है, न ही अत्यधिक ऊंचा। सारे व्यवसाय अच्छे विधि-सम्मत तथा स्तर में एक दम एक समान हैं। ब्राह्मण का आध्यात्मिक शिक्षक का व्यवसाय तथा सफाई करने वाले का व्यवसाय एक समान है, जो भगवान के सामने एक जैसे पुण्य के काम हैं और उसके समक्ष एक समय में पूरा काम करने पर समान पारिश्रमिक के अधिकारी हैं। दोनों को जीवनयापन का अधिकार है और कुछ नहीं। आज भी गांवों में ऐसी विधि-सम्मत स्वस्थ परंपरा जारी है। 600 की आबादी वाले गांव में रहकर मैंने पाया कि ब्राह्मण सहित विभिन्न व्यवसाय में रत लोगों में कोई असमानता नहीं है। मैंने पाया कि आज के बुरे दिनों में ब्राह्मण को सभी खुले हाथ से भीख देते हैं। उसके बदले ब्राह्मण के पास जो भी आध्यात्मिक खजाना है, वह उसे बांटता है। वर्ण-व्यवस्था के विकृत स्वरूप की जांच करना गलत और अनुचित होगा, जब उसके नियम का उल्लंघन होता है। किसी वर्ण में रहकर श्रेष्ठता का दावा झूठा

होगा और इस कानून को नकारात्मक माना जाएगा। वर्ण-व्यवस्था के कानून में छुआछूत की मान्यता निहित नहीं है ? (हिन्दू धर्म का सार है कि सत्य ही ईश्वर तथा अहिंसा मानव परिवारों का कानून है)। मुझे पता है कि हिन्दू धर्म की मेरी इस व्याख्या का डा. अम्बेडकर के अलावा कई लोग प्रतिवाद करेंगे। इससे मेरी स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इस व्याख्या के आधार पर मैं लगभग आधी शताब्दी तक जिया हूं तथा मैंने भरसक इन्हीं मान्यताओं को जीवन में उतारने का प्रयास किया है।

मेरे विचार से डा. अम्बेडकर ने अपने भाषण में संदेहपूर्ण प्रामाणिकता और मूल्य तथा गिरे हुए हिन्दुओं के शोचनीय मिथ्या निरुपण को, जो धर्म के सही उदाहरण नहीं है, चुनकर गंभीर गलती की है। जिन मानकों को डा. अम्बेडकर ने अपनाया है, उससे तो प्रत्येक विद्यमान धर्म संभवत: असफल हो जाएगा।

अपने योग्यतापूर्ण भाषण में डाक्टर ने अपने मुद्दे को अत्यधिक सिद्ध करने की कोशिश की है। क्या चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लूवर, रामकृष्ण परमहंस, राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र- नाथ टैगोर, विवेकानंद व अन्य विद्वानों द्वारा सिखाया धर्म पूरी तरह गुणरहित है, जैसा कि डा. अम्बेडकर ने अपने भाषण में बताया है ? कोई धर्म उसके सबसे खराब उदाहरण से नहीं, बल्कि सबसे अच्छे परिणाम से परखा जाना चाहिए। यदि हम इसे सुधार न पाए तो केवल इस प्रकार के मानक की आकांक्षा ही की जा सकती है।

('हरिजन' 18 जुलाई 1936)

वर्ण बनाम जाति

3

श्री संत रामजी, जातपांत तोड़क मंडल, लाहौर, ने इच्छा व्यक्त की कि उनका निम्नलिखित व्यक्तव्य प्रकाशित किया जाए।

"मैंने डा. अम्बेडकर और जातपांत तोड़क मंडल, लाहौर, के बारे में आपकी टिप्पणी पढ़ी। इस संबंध में मैं निवेदन करना चाहता हूं :

हमने डा. अम्बेडकर को अपने सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए नहीं बुलाया क्योंकि वे दलित वर्ग के हैं, चूंकि हम लोग छूत और अछूत में भेद नहीं करते हैं। इसके विपरीत हमने डा. अम्बेडकर का चुनाव इसलिए किया कि हिन्दू समाज की गंभीर बीमारी का निदान उनका और हमारा एक जैसा है, अर्थात् उनका भी यही मत था कि हिन्दुओं में विघटन और पतन का मूल कारण जाति-व्यवस्था है। डाक्टर की डाक्टरेट की थीसीस का विषय भी जाति-व्यवस्था था। उन्होंने इस विषय पर संपूर्ण रूप से अध्ययन किया हुआ था। हमारे सम्मेलन का उद्देश्य जाति-व्यवस्था समाप्त करने के लिए हिन्दुओं को राजी करना था, लेकिन एक गैर-हिन्दू की सामाजिक और धार्मिक मामलों में सलाह कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। डाक्टर अपने भाषण के पूरक भाग में यह

बात कहने पर अड़े रहे कि हिन्दू के रूप में उनका यह अंतिम भाषण है, जो सम्मेलन के हित में अप्रासांगिक और घातक था। इसलिए हमने उनसे निवेदन किया था कि वे अपने भाषण से वह वाक्य निकाल दें, क्योंकि वही बात कहने के लिए उन्हें कोई अन्य अवसर भी मिल सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, ऐसी स्थिति में हमने देखा कि केवल सम्मेलन का दिखावा करने का कोई प्रयोजन नहीं था। इस सबके बावजूद उनके भाषण की मैं प्रंशसा करता हूं, क्योंकि इस विषय पर यह सबसे विद्वतापूर्ण थीसिस है, जिसका अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए।"

"इसके अलावा, मैं इस ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि जाति और वर्ण में जो आपने दार्शनिक अंतर बताया है, वह इतना अधिक सूक्ष्म है, जो आम आदमी की समझ में नहीं आता है, क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि में जाति और वर्ण एक ही चीज हैं चूंकि दोनों का कृत्य एक समान है, अर्थात् अंर्तजातीय विवाह और सहभोज पर रोक। आपका वर्ण-व्यवस्था का सिद्धांत वर्तमान में अव्यावहारिक है और निकट भविष्य में इसके पुनरुत्थान की कोई आशा नहीं है। केवल हिन्दू जातपांत के गुलाम हैं तथा इसे वे नष्ट नहीं करना चाहते। अत: जब आप काल्पनिक वर्ण-व्यवस्था की वकालत करते हैं तो वे जातपांत से चिपकने को न्यायसंगत पाते हैं। इस प्रकार आप वर्ण भेद की उपयोगिता से समाज सुधार को क्षति पहुंचा रहे हैं, क्योंकि इससे हमारे रास्ते में रोड़ा अटकता है। वर्ण-व्यवस्था की जड़ पर हमला किए बिना छुआछूत मिटाने की कोशिश करना रोग के बाहरी लक्ष्णों का इलाज करने या पानी की सतह पर लकीर खींचने जैसा है। द्विज लोग हृदय के किसी कोने से भी तथाकथित छूत और अछूत शूद्रों को सामाजिक समानता नहीं देना चाहते हैं, इसलिए वे जातपांत को तोड़ने तथा छुआछूत को मिटाने में उदारता दिखाने से इन्कार करते हैं, जिसका साधारण अर्थ है कि वे इस मुद्दे से बचना चाहते हैं। छुआछूत मिटाने के लिए शास्त्रों की मदद लेने का अर्थ है, कीचड़ साफ करना।

श्री संत रामजी के पत्र का प्रथम पैराग्राफ अंतिम पैरे को रद्द करता है। यदि मंडल शास्त्रों की मदद लेना अस्वीकार करता है तो वह बिल्कुल वही कर रहा है, जो डा. अम्बेडकर कर रहे हैं, अर्थात् हिन्दू न बने रहने तक कैसे वह डा. अम्बेडकर के भाषण पर आपत्ति उठा सकते हैं, जिसमें उन्होंने कहा है कि हिन्दू के रूप में उनका यह अंतिम भाषण है ? स्थिति पूरी तरह अतर्क-संगत हो जाती है, विशेष तौर पर जब मंडल के प्रवक्ता बनने का दावा करते हुए श्री संत राम डा. अम्बेडकर के भाषण के तर्कों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

यहां यह पूछना उचित है कि यदि शास्त्रों को अस्वीकार करता है तो मंडल किस बात में विश्वास रखता है। कुरान को अस्वीकार कर कोई मुसलमान कैसे बना रह सकता है और बाईबल को अस्वीकार कर कोई ईसाई कैसे बना रह सकता है ? यदि जाति और वर्ण एक

दूसरे के पर्याय हैं और वर्ण शास्त्रों का अंगभूत हिस्सा है, जिसमें हिन्दूधर्म की परिभाषा निहित है तो मैं नहीं समझता कि जाति अर्थात् वर्ण को अस्वीकार कर कोई हिन्दू कैसे कहला सकता है।

श्री संत राम शास्त्रों को कीचड़ मानते हैं। जहां तक मुझे याद है डा. अम्बेडकर ने शास्त्रो को ऐसा विलक्षण नाम नहीं दिया है। मेरा अर्थ निश्चित रूप से यही है कि यदि शास्त्र छुआछूत का समर्थन करते हैं तो मैं अपने को हिन्दू कहलाना नहीं चाहूंगा। इसी प्रकार यदि शास्त्र जातपांत का समर्थन करते हैं तो मैं अपने आपको हिन्दू कहलाना या रहना नहीं चाहूंगा, क्योंकि सहभोज और अंतर्जातीय विवाह से मुझे बिल्कुल भी संकोच नहीं है। मैं शास्त्र और उसकी व्याख्या के बारे में अपनी स्थिति को दोहराना नहीं चाहता हूं। मैं श्री संत राम को साहसिक सुझाव देना चाहता हूं कि यही तर्कपूर्ण, सही और नैतिक रक्षात्मक स्थिति है और हिन्दू परम्परा में इसे उचित प्रामाणिक सिद्ध करने का आधार मौजूद है।

('हरिजन' 15 अगस्त 1936)

परिशिष्ट II

डा. भीमराव अम्बेडकर द्वारा महात्मा को उत्तर

1

मैं महात्मा का बड़ा आभारी हूं कि उन्होंने जाति पर जातपांत तोड़क मंडल के लिए लिखे गए मेरे भाषण पर अपने समाचार-पत्र 'हरिजन' में विचार व्यक्त करके मुझे सम्मानित किया है। मेरे भाषण के पुनरावलोकन के परिशीलन से पता चलता है कि महात्मा मेरे जाति पर व्यक्त किए गए विचारों से पूरी तरह असहमत हैं। मैं अपने विरोधियों के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता हूं, जब तक अन्यथा कार्यवाही करने के विशेष कारण मुझे मजबूर न करें। यदि मेरा विरोधी क्षुद्र और अज्ञात व्यक्ति होता तो मैं उसके पीछे नहीं पड़ता। लेकिन मेरे विरोधी महात्मा स्वयं हैं, इसलिए मैं महसूस करता हूं कि मुझे उन मुद्दों का प्रत्युत्तर देने का प्रयास अवश्य करना चाहिए, जो उन्होंने उठाए हैं। यद्यपि मैं आभारी हूं, उन्होंने मेरा सम्मान किया हैं, मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि महात्मा ने मुझ पर आरोप लगाया है कि भाषण न देने के बाद भी भाषण इसलिए प्रकाशित किया है कि मेरा प्रचार हो और लोग मुझे 'भूल' न जाएं। महात्मा चाहे जो कहें, भाषण प्रकाशित करने का मेरा उद्देश्य केवल यह था कि हिन्दू सोचें और अपनी स्थिति को जानें। अगर मैं ऐसा कहूं कि मैं अपने प्रचार के पीछे नहीं हूं क्योंकि मेरी इच्छा और आवश्यकता से अधिक मेरी प्रसिद्धि पहले से ही है। लेकिन यदि मान भी लिया जाए कि मैंने प्रसिद्धि पाने के उद्देश्य से भाषण छापा है तो मेरे ऊपर पत्थर कौन फेंक सकता था ? निश्चित रूप से वे नहीं, जो महात्मा की तरह कांच के मकान में रहते हैं।

2

प्रयोजन के अलावा, भाषण में उठाए गए प्रश्न के बारे में महात्मा को क्या कहना है? पहली बात यह है कि जो भी मेरा भाषण पढ़ेगा, उसे अहसास होगा कि महात्मा ने मेरे द्वारा उठाए गए मुद्दों को पूरी तरह छोड़ दिया है और उन्होंने जो मुद्दे उठाए हैं, वे मुद्दे उस भाषण से उत्पन्न नहीं होते, जिसे उन्होंने हिन्दुओं के लिए मेरा अभियोग-पत्र बताने में प्रसन्नता अनुभव की है। प्रमुख मुद्दे जिन्हें मैंने अपने भाषण में उठाए हैं, उनको निम्नलिखित रूप में सूचीबद्ध किया जा सकता है।

(1) यह कि जातपांत ने हिन्दुओं को बरबाद किया है।

(2) यह कि हिन्दू समाज को चातुर्वर्ण्य के आधार पर पुनर्गठित करना असंभव है, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था रिसते हुए एक बर्तन की तरह है या उस आदमी की तरह है, जो नाक की सीध में दौड़ रहा है। यह अपने गुणों के कारण अपने को कायम रखने में अक्षम है तथा इसमें जाति-व्यवस्था के रूप में विकृत हो जाने की प्रवृत्ति अंतर्निहित है, जब कि वर्ण का उल्लंघन करने पर कानूनी रोक नहीं लगती।

(3) यह कि चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू समाज को पुनर्गठित करना हानिकारक है, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था ज्ञान प्राप्त करने के अवसर से वंचित कर लोगों को निम्नकोटि बनाती है तथा अस्त्र धारण करने से वंचित कर उन्हें दुर्बल बनाती है।

(4) यह कि हिन्दू समाज को ऐसे धर्म के आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए, जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांत को मान्यता दी जाए।

(5) यह कि इस लक्ष्य को पाने के लिए जाति और वर्ण के पीछे धार्मिक पवित्रता की भावना को नष्ट किया जाना चाहिए।

(6) यह कि जाति और वर्ण की पवित्रता केवल तभी नष्ट हो सकती है, जब शास्त्रों की दिव्य सत्ता को अलग कर दिया जाए।

ऐसा देखा गया है कि महात्मा द्वारा उठाए गए प्रश्न मुद्दे से बिल्कुल अलग हैं, जिससे भाषण के मुख्य तर्क उसमें खो गए थे।

3

मैं महात्मा द्वारा उठाए गए प्रश्न के सार को जांचना चाहूंगा। महात्मा ने पहला प्रश्न उठाया है कि मेरे द्वारा उद्धृत उदाहरण प्रामाणिक नहीं हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूं। लेकिन मैं कहना चाहूंगा कि जो उदाहरण मैंने उद्धृत किए हैं, वे श्री तिलक के लेखों से लिए गए हैं, जो संस्कृत भाषा और हिन्दू शास्त्रों के जाने-माने विद्वान थे। उन्होंने दूसरी बात यह कही है कि शास्त्र की व्याख्या विद्वानों द्वारा नहीं, बल्कि संतो द्वारा की जानी चाहिए और जैसा संतों ने समझा है कि शास्त्र जातपांत और छुआछूत का समर्थन नहीं करते हैं। पहले प्रश्न के बारे में, मैं महात्मा से पूछना चाहता हूं कि इससे किसी को क्या लाभ या हानि होगी यदि गद्यांश अंतर्वेशित है और संतों द्वारा उनकी व्याख्या अलग-

अलग की गई है। आम लोग असली मूलपाठ और अंतर्वेशित मूलपाठ में अंतर नहीं कर पाते हैं। आम लोग यह भी नहीं जानते कि शास्त्रों के मूलपाठ क्या हैं। वे इतने अनपढ़ हैं कि शास्त्रों में क्या लिखा है, यह भी नहीं जानते। जो उनसे कहा जाता है, वे उसी पर विश्वास कर लेते हैं, और उनसे कहा गया है कि शास्त्रों में जातपांत और छुआछूत की प्रथा को धार्मिक कर्तव्य माना गया है।

जहां तक संतों का प्रश्न है तो मानना पड़ेगा कि विद्वान लोगों की तुलना में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों, वे शोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला, किसी भी संत ने जाति-व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जातपांत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे जिस जाति के वे थे। ज्ञानदेव ब्राह्मण के रूप में अपनी प्रतिष्ठा से इतने उत्कट रूप से जुड़े हुए थे कि जब ब्राह्मणों ने उन्हें समाज में बने रहने से इन्कार कर दिया, तो उन्होंने ब्राह्मणों के पद की मान्यता पाने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया था। और संत एकनाथ जो अछूतों को छूने तथा उनके साथ भोजन करने का साहस दिखाने के लिए धर्मात्मा बने हुए हैं, उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया कि वे जातपांत और छुआछूत के विरुद्ध थे, जब कि उनकी मान्यता यह थी कि प्रदूषण को पवित्र गंगा नदी (अंत्याजाचा विटाल ज्यासी। गंगास्नाने शुद्धत्व त्यासी। 'एकनाथी भागवत', अ. 28, ओ 191) में स्नान कर धोया जा सकता है। जहां तक मेरा अध्ययन है किसी भी संत ने जातपांत और छुआछूत के विरुद्ध कोई अभियान नहीं चलाया। मनुष्यों के बीच चल रहे संघर्ष से वे चिंतित नहीं थे। वे मनुष्य और ईश्वर के बीच संबंध के लिए ही चिंतित थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी थी कि सारे मनुष्य बराबर हैं। यह एक बहुत अलग और बहुत अहानिकर प्रस्ताव है, जिसकी शिक्षा देने में किसी को कोई परेशानी नहीं होगी या जिसके मानने में कोई खतरा नहीं है। दूसरा कारण यह है कि संतों की शिक्षा प्रभावहीन रही है, क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया है कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं, लेकिन आम आदमी ये बंधन नहीं तोड़ सकता। इसलिए संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने। वह सम्मान योग्य धर्मपरायण व्यक्ति बने रहे। लोग जाति और छुआछूत में पक्का विश्वास करते हैं। यह दर्शाता है कि शास्त्रों की शिक्षाओं के विरुद्ध धर्मपरायण जीवन तथा आदर्शपूर्ण उपदेशों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इस प्रकार इस बात से कोई सांत्वना नहीं मिलती कि संत थे या एक महात्मा है, जो शास्त्रों को थोड़े से विद्वानों और कई अज्ञानियों से अलग तरीके से समझते हैं। यह कि आम लोग शास्त्रों के बारे में गलत विचार रखते हैं, उसी तथ्य को ही ध्यान में रखना चाहिए और उसी को ध्यान में रखना पड़ेगा। शास्त्रों की सत्ता को समाप्त किए बिना और कैसा व्यवहार किया जाए, जो आज भी लोगों के आचरण को संचालित करते हैं, इस प्रश्न पर महात्मा ने विचार नहीं किया है। लेकिन शास्त्रों की जकड़ से मुक्त कराने की जो भी प्रभावशाली योजना महात्मा बताएं, उन्हें यह मानना चाहिए कि किसी संत के धर्मपरायण

जीवन से यह स्वयं ऊंचे उठ सकते हैं लेकिन आम आदमी की संत और महात्माओं के प्रति यही मनोवृत्ति है कि वे उनका सम्मान करते हैं, लेकिन अनुसरण नहीं करते। इससे कोई कुछ अधिक नहीं कर सकता।

4

तीसरा प्रश्न महात्मा ने उठाया है कि चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लूवर, रामकृष्ण परमहंस इत्यादि द्वारा ज्ञापित धर्म गुण रहित नहीं हो सकता, जैसा कि मैंने बताया है, और यह कि किसी भी धर्म को सबसे खराब नमूने से नहीं, बल्कि सबसे अच्छे परिणाम से परखना होगा। मैं इस वक्तव्य के प्रत्येक शब्द से सहमत हूं। लेकिन मैं बिल्कुल नहीं समझ पाया कि महात्मा इससे क्या सिद्ध करना चाहते हैं। यह सत्य है कि धर्म को सबसे खराब नमूने से नहीं, बल्कि सबसे अच्छे से परखना चाहिए, लेकिन क्या मामला यहीं समाप्त हो जाता हैं? मैं कहता हूं-नहीं। प्रश्न अभी भी उठता है कि सबसे खराब इतने अधिक क्यों हैं और सबसे अच्छे इतने थोड़े से क्यों? मेरे दिमाग से इसके दो कल्पनीय उत्तर हैं: (1) कुछ अपने मूल दुराग्रह के कारण सबसे खराब हैं, जो नैतिक रूप से शिक्षणीय नहीं हैं, इसलिए धर्म के आदर्श के दूर-दूर तक पहुंचने में अक्षम हैं, या (2) धर्म का आदर्श पूरी तरह गलत आदर्श है, जिसने अधिकतर लोगों के जीवन में गलत नैतिक मोड़ दिया है और गलत आदर्श के बावजूद सबसे अच्छे लोग बने रहे - वास्तव में गलत मोड़ को सही दिशा की और मोड़ दिया है। इन दो स्पष्टीकरणों में से मैं पहले को मानने के लिए तैयार नहीं हूं और मुझे विश्वास है कि महात्मा भी इसके विपरीत जाने को जोर नहीं देंगे। मेरे विचार में दूसरा स्पष्टीकरण ही तर्कपूर्ण और उचित है, जब तक कि महात्मा के पास कोई तीसरा विकल्प यह समझाने के लिए न हो कि सबसे खराब इतने अधिक क्यों हैं और सबसे अच्छे इतने थोड़े से क्यों हैं। यदि दूसरा स्पष्टीकरण ही एकमात्र स्पष्टीकरण है, तब स्पष्ट रूप से महात्मा का यह कथन कि धर्म की परख उससे सबसे अच्छे मानने वालों से होती है, हमको कहीं नहीं ले जाता है, सिवाय इसके कि उन बहुत से लोगों पर दया आती है जो गलत हो गए है, क्योंकि वे गलत आदर्शों की पूजा करने को बाध्य हैं।

5

महात्मा ने तर्क दिया है कि यदि संतों के उदाहरण को अपनाएं तो हिन्दू धर्म सहनीय हो जाएगा।* महात्मा का यह तर्क भी अन्य कारण से गलत सिद्ध होता है। चैतन्य जैसे सुविख्यात संत का नाम लेकर मोटे और सबसे सरल तरीके से महात्मा सुझाव देना चाहते हैं कि ढांचे में मूलभूत परिवर्तन किए बिना हिन्दू समाज़ सहनीय और खुशहाल हो सकता है, यदि बड़ी जाति के हिन्दुओं को इस बात के लिए राजी किया जाए कि वे छोटी जाति के हिन्दू से व्यवहार करते समय उच्च स्तर की नैतिकता अपनाएंगे। मैं इस विचारधारा का पूरी तरह विरोधी हूं। मैं उस बड़ी जाति के हिन्दू का सम्मान करता हूं, जो अपने जीवन में

* इस संबंध में श्री एच.एन. बेल्सफोर द्वारा लिखित भव्य लेख *मोरालिटी एंड द सोशल स्ट्रकचर* (नैतिकता एवं सामाजिक संरचना) देखें, जो अप्रैल 1936 के 'आर्य पथ' में प्रकाशित हुआ है।

उच्च सामाजिक आदर्श अपनाने की कोशिश करते हैं। ऐसे लोगों के बिना भारत में रहना आज से भी अधिक भद्दा और कम खुशहाल होगा। फिर भी, जो इस बात पर निर्भर हैं कि वह बड़ी जाति के हिन्दू को एक अच्छा इंसान बनाएंगे तथा व्यक्तिगत चरित्र सुधारेंगे, वह मेरे विचार से अपनी शक्ति बरबाद कर रहा है और एक भ्रम पाले हुए है। क्या व्यक्तिगत चरित्र शस्त्र बनाने वाले को एक अच्छा आदमी बना सकता है, अर्थात् जो आदमी गोला बेचता हो, वह ऐसा गोला बनाए जो न फटे और गैस जहर न फैलाए? अगर ऐसा नहीं हो सकता तो आप कैसे मान सकते हैं कि जाति की चेतना से भरा व्यक्ति अपने व्यक्तिगत चरित्र के कारण अच्छा व्यक्ति हो सकता है, अर्थात् वह व्यक्ति अपने साथियों के साथ मित्रता तथा समान व्यवहार कैसे करेगा? सच बात यह है कि वह अपने साथियों को जाति के आधार पर ऊंच और नीच मानेगा, किसी भी हालात में वह अपनी जाति वालों से जैसा बर्ताव करेगा, वैसा दूसरों से नहीं करेगा। उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने साथियों के साथ रिश्तेदारों जेसा बर्ताव करेंगा और उन्हें समान मानेगा। सच बात तो यह है कि हिन्दू अपनी जाति के बाहर वाले व्यक्ति को पराया मानता है, उसके साथ भेदभाव करके भी दंड मुक्त रह सकता है और बिना शर्म किए उसके साथ धोखा कर सकता है या दाव-पेंच खेल सकता है। कहने का मतलब है कि बेहतर और बदतर हिन्दू मिल सकता है। लेकिन एक अच्छा हिन्दू नहीं मिल सकता। ऐसा इसलिए नहीं है कि उसके व्यक्तिगत चरित्र में कोई कमी है। असल में, अपने साथियों के साथ उसके संबंधों का आधार ही गलत है। सबसे अच्छा आदमी भी सदाचारी नहीं माना जा सकता, अगर उसका उसके साथियों के साथ संबंधों का आधार ही मूलभूत रूप से गलत है। एक गुलाम के लिए उसका मालिक बेहतर या बदतर हो सकता है। लेकिन मालिक अच्छा नहीं हो सकता। अच्छा आदमी मालिक नहीं हो सकता और मालिक अच्छा आदमी नहीं हो सकता। यही ऊंची जाति और नीची जाति के संबंधों के बीच लागू होता है। अन्य ऊंची जातियों के लोगों की तुलना में नीची जाति के व्यक्ति के लिए ऊंची जाति का आदमी बेहतर या बदतर हो सकता है। ऊंची जाति का व्यक्ति अच्छा नहीं हो सकता, जब तब उसके पास ऊंची जाति का भेद करने के लिए छोटी जाति मौजूद है। छोटी जाति के लिए यह अच्छा नहीं है कि उसकी चेतना में यह बात बैठी है कि उसके ऊपर बड़ी जाति है। मैंने अपने भाषण में दलील दी थी कि वर्ण और जाति पर आधारित समाज एक ऐसा समाज है जो गलत संबंधों पर आधारित है। मैंने आशा की थी कि महात्मा मेरी दलीलों को नष्ट कर देंगे। लेकिन ऐसा करने की बजाए उन्होंने पृष्ठभूमि बताए बिना केवल चातुर्वर्ण्य में अपना विश्वास दोहराया है।

6

महात्मा जो उपदेश देते हैं, क्या उसी के अनुसार आचरण करते हैं? जिस बहस का व्यापक रूप में प्रयोग होता है, उसमें व्यक्तिगत उल्लेख पसंन्द नहीं किया जाता है। लेकिन जब कोई किसी सिद्धांत का उपदेश देता है और धर्म सिद्धांत मानकर उसे धारण कर लेता

है तो यह उत्सुकता पैदा होती है कि वह जो उपदेश देता, उस पर कितना आचरण करता है। हो सकता है कि आचरण करने में असफलता का कारण यह हो कि आदर्श इतना अधिक ऊंचा है कि उसे प्राप्त करना संभव नहीं है। आचरण करने में असफलता का कारण व्यक्ति का अंतर्जातीय पाखंड भी हो सकता है। किसी भी स्थिति में उन्होंने अपने आचरण को परीक्षण के लिए खोलकर रख दिया है और मुझे दोष नहीं दिया जाना चाहिए, यदि मैं पूछूं कि अपने आदर्श को उन्होंने अपने जीवन में उतारने के लिए कितना प्रयास किया है। महात्मा जन्म से बनिया है। उनके पूर्वजों ने मंत्री-पद पाने के लिए व्यापार करना छोड़ दिया था, जो कि ब्राह्मण का पेशा है। अपने जीवन में महात्मा बनने से पहले, जब पेशा चुनने का अवसर आया तो उन्होंने तराजू की बजाए वकालत को प्राथमिकता दी। वकालत का परित्याग कर वह आधे संत और आधे राजनीतिज्ञ बन गए। उन्होंने व्यापार को कभी छुआ तक नहीं, जो उनका पैतृक पेशा है। उनका सबसे छोटा पुत्र - मैं केवल उस पुत्र की बात कर रहा हूं, जो अपने पिता का अनुयायी है - जो वैश्य के घर में जन्मा, लेकिन उसने एक ब्राह्मण लड़की से विवाह किया तथा जिसने एक बड़े पूंजीपति के समाचार-पत्र में नौकरी को चुना है। ऐसी जानकारी नहीं है कि महात्मा ने पैतृक पेशा न अपनाने के लिए उसकी कभी निंदा की हो। किसी आदर्श को उसके सबसे खराब नमूने से परखना गलत होगा और यह उदारता नहीं होगी। लेकिन निःसंदेह महात्मा के पास इससे बेहतर नमूना नहीं है और यदि वह इस आदर्श को अपनाने में असफल होते हैं तो यह आदर्श एक असंभव आदर्श है, जो आदमी की व्यावहारिक मूल प्रवृत्तियों के बिल्कुल विपरीत है। कार्लाइल के विद्यार्थी जानते हैं कि किसी विषय पर सोचने से पहले वे उस पर बोलते थे। क्या जातपांत के मामले में महात्मा के साथ ऐसा तो नहीं हुआ होगा। अन्यथा जो प्रश्न मेरे मन में आते हैं, वे उनसे छूटे नहीं होते। कोई भी पेशा कब पैतृक पेशा बन जाता है, जिसे अपनाना आदमी के लिए बाध्यकारी हो जाए? क्या व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा ही अपनाना चाहिए, चाहे वह क्षमता के अनुकूल और लाभकारी नहीं हो? क्या आदमी को अपना पैतृक पेशा ही अपनाना चाहिए, वह अनैतिक पेशा ही क्यों न हो? यदि प्रत्येक को अपना पैतृक पेशा ही जारी रखना पड़े तो इसका अर्थ होगा कि किसी आदमी को दलाल का पेशा इसलिए जारी रखना पड़ेगा, क्योंकि उसके दादा दलाल थे और किसी औरत को इसलिए वेश्या का पेशा अपनाना पडेगा, क्योंकि उसकी दादी एक वेश्या थी। क्या महात्मा अपने सिद्धांत के इस तार्किक परिणाम को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं? मेरे लिए उनका पैतृक पेशा अपनाने का आदर्श न केवल असंभव, बल्कि अव्यावहारिक आदर्श भी है, उसके अलावा नैतिक रूप से भी यह अरक्षणी आदर्श है।

7

महात्मा जीवन भर ब्राह्मण बने रहने में महान उत्कर्ष देखते हैं। इस तथ्य को छोड़ भी दिया जाए तो ऐसे कई ब्राह्मण हैं, जो जीवन भर ब्राह्मण बने रहना नहीं चाहते। हम उन ब्राह्मणों के बारे में क्या कहें, जो अपनी पुरोहिताई का पैतृक पेशा अपना लेते हैं? क्या वे पैतृक पेशा

अपनाने के सिद्धांत की वजह से ऐसा करते हैं, या गंदे आर्थिक लाभ के इरादे से ऐसा करते हैं? महात्मा इन प्रश्नों से चिंतित प्रतीत नहीं होते। वह इस बात से संतुष्ट हैं कि ''सच्चे ब्राह्मण वे हैं, जो मुफ्त में उन्हें दी जा रही भिक्षा पर जीते हैं और जितना भी उनके पास आध्यात्मिक खजाना है, उसे वे मुफ्त में बांट रहे हैं।' पुश्तैनी ब्राह्मण पुजारी महात्मा को आध्यात्मिक खजाना ढोते हुए प्रतीत होते हैं। लेकिन पुश्तैनी ब्राह्मण के अन्य चित्र भी खींचे जा सकते हैं। कोई ब्राह्मण विष्णु का पुजारी हो सकता है, जो प्रेम के देवता हैं। वह शंकर का पुजारी भी हो सकता, जो विनाश के देवता हैं। वह बुद्ध गया में भी पुजारी हो सकता है और बुद्ध की पूजा कर सकता है, जो मानवता के महानतम् शिक्षक हैं, जिन्होंने सबसे श्रेष्ठ सिद्धांत 'प्रेम' का पाठ पढ़ाया है। वह 'काली' का पुजारी भी हो सकता, जो ऐसी देवी है जिसकी खून की प्यास बुझाने के लिए रोज एक पशु की बलि देनी पडती है, वह राम के मंदिर का पुजारी भी होगा, जो 'क्षत्रिय' भगवान है। वह परशुराम के मंदिर का पुजारी भी हो सकता है जो ऐसा भगवान है, जिसने क्षत्रियों का नाश करने के लिए अवतार लिया था। वह ब्रह्मा का पुजारी भी हो सकता है, जिसने संसार की रचना की है। वह पीर का पुजारी भी हो सकता है, जिसका भगवान अल्ला संसार के ऊपर ब्रह्मा का आध्यात्मिक प्रभुत्व का दावा बरदाश्त नहीं करेगा। कोई यह नहीं कह सकता कि जीवन का यह चित्र सही नहीं है। अगर यह सही चित्र है तो कोई नहीं जानता कि उन देवताओं और देवियों के प्रति भक्ति को धारण करने के बारे में क्या कहा जाए कि उनके लक्षण इतने विरोधात्मक हैं कि कोई ईमानदार व्यक्ति उन सभी का भक्त नहीं हो सकता। हिन्दू लोग इस असाधारण तथ्य को अपने धर्म का महानतम सदगुण मानते हैं - जैसे कि इनकी उदारता, इनकी सहनशीलता की भावना। इस सहज दृष्टिकोण के विपरीत कहा जा सकता है कि सहनशीलता और उदारता वास्तव में उदासीन या शिथिल सिद्धांत निरपेक्षता के अलावा और अधिक प्रशंसनीय नहीं हैं। इन दो प्रवृत्तियों में बाहरी तौर पर भेद करना मुश्किल है। लेकिन अत्यावश्यक रूप से वास्तविक गुणों में ये इतने अधिक भिन्न हैं कि गहराई से जांच करने वाला एक-दूसरे को एक जैसा मानने की गलती नहीं कर सकता। यह कि एक व्यक्ति जो बहुत सारे देवी-देवताओं का सम्मान करता है, उसे सहनशीलता की भावना का सबूत माना जा सकता है, लेकिन क्या यह समय के साथ चलने की इच्छा से पैदा हुए पाखंड का सबूत नहीं है? मेरी पक्की धारणा है कि यह केवल पाखंड है। अगर यह दृष्टिकोण अच्छे आधार पर स्थापित है तो कोई पूछ सकता है कि उस व्यक्ति के पास कौन सा आध्यात्मिक खजाना है, जो किसी भी देवी-देवता की पूजा और आराधना करने के लिए तैयार है? न केवल ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक खजाने से दिवालिया हो गया है, बल्कि पुजारी के महान पेशे को बिना आस्था और बिना विश्वास के इसलिए अपनाता है, क्योंकि साधारणतः वह पैतृक पेशा है, जो एक मशीनी प्रक्रिया के अंतर्गत पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाया गया है। यह सद्‌गुणों का संरक्षण नहीं है, यह वास्तव में एक महान पेशे का दुरुपयोग है, जो धर्म की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

8

महात्मा इस सिद्धांत से क्यों चिपके हुए हैं कि हर व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा अपनाना चाहिए। उन्होंने इसका कारण कहीं नहीं बतलाया है। लेकिन कोई कारण तो होना चाहिए, यद्यपि उन्हें खुले आम कहने की चिंता नहीं है। वर्षों पहले उन्होंने अपने समाचार पत्र 'यंग इंडिया' में जाति बनाम वर्ग विषय पर लिखते हुए कहा था कि जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था से बेहतर है, क्योंकि जाति द्वारा समाज में स्थिरता लाने के लिए सबसे उत्तम और संभव सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। यदि यही कारण है कि महात्मा इस विचार से चिपके हुए हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को पैतृक पेशा ही अपनाना चाहिए तो वे सामाजिक जीवन के मिथ्या विचार से चिपके हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक स्थिरता चाहता है और व्यक्तियों और वर्गों के संबंधों में कुछ सामंजस्य स्थापित होना ही चाहिए, जिससे समाज में स्थिरता कायम हो सके। मेरा विश्वास है कि दो बातें कोई भी नहीं चाहता है। पहली बात जो कोई नहीं चाहता वह है निश्चल संबंध, कुछ ऐसा जिसे बदला न जा सके, कुछ ऐसा जो सार्वकालिक रूप से स्थिर रहे। स्थायित्व भी जरूरी है, लेकिन वह बदलाव की कीमत पर नहीं होना चाहिए, क्योंकि बदलाव अवश्यंभावी है। दूसरी बात जो कोई नहीं चाहता, वह है केवल सामंजस्य। सामंजस्य की भी आवश्यकता है, लेकिन वह सामाजिक न्याय की बलि देकर नहीं किया जाना चाहिए। क्या यह कहा जा सकता है कि जाति के आधार पर सामंजस्य अर्थात् अपने पैतृक व्यवसाय के आधार पर सामंजस्य होने से इन दो बुराइयों से बचना संभव है? मैं मानता हूं कि ऐसा नहीं है। मुझे कोई संदेह नहीं है कि सबसे अच्छे संभव सामंजस्य की बात तो दूर, यह सबसे खराब प्रकार का सामंजस्य है, क्योंकि यह सामाजिक सामंजस्य के दोनों सिद्धांतों, जैसे धारा प्रवाहिकता और समानता का उल्लंघन करता है।

9

कुछ लोग सोचते हैं कि महात्मा ने बहुत प्रगति की है, क्योंकि वह अब केवल वर्ण में विश्वास करते हैं और जाति में विश्वास नहीं करते हैं। यह भी सत्य है कि एक समय था, जब महात्मा पूर्णरूप से कुलीन सनातनी हिन्दू थे। वह वेदों, उपनिषदों, पुराणों और जो भी हिन्दू ग्रंथ हैं, उनमें विश्वास करते थे। इसीलिए अवतारों और पुनर्जन्म में भी विश्वास करते थे। वह जाति में विश्वास करते थे और पूरी शक्ति से एक रूढ़िवादी की तरह इसका समर्थन करते थे। उन्होंने सहभोज, सहपान और अंतर्जातीय विवाह की मांग की निंदा की थी और कहा था कि सहभोज का विरोध करना चाहिए, क्योंकि इससे बहुत हद तक ''इच्छा शक्ति पैदा करने और सामाजिक शुद्धता बनाए रखने में मदद मिलती है।'' यह अच्छी बात है कि उन्होंने पाखंडपूर्ण मूर्खता का परित्याग कर दिया है और स्वीकार किया है कि ''जातपांत आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास, दोनों के लिए हानिप्रद है'' और हो सकता है कि उनके पुत्र का जाति के बाहर विवाह इन्हीं विचारों के परिवर्तन की देन है। लेकिन क्या

महात्मा ने वास्तव में प्रगति की है? वर्ण की प्रकृति क्या है, जिसे महात्मा मानते हैं। क्या वह यही वेदों की धारणा है, जिसे दयानंद सरस्वती और उनके अनुयायियों, आर्यसमाजियों ने प्रतिपादित किया है? वेद में वर्ण की धारणा का सारांश यह है कि व्यक्ति वह पेशा अपनाए, जो उसकी स्वाभाविक योग्यता के लिए उपयुक्त हो। महात्मा की वर्ण की धारणा का सार यह है कि व्यक्ति पैतृक पेशा ही अपनाए चाहे वह उसकी स्वाभाविक योग्यता के अनुरूप हो या न हो। जाति और वर्ण में क्या अंतर है, जो महात्मा ने समझा है। मैं कोई अंतर नहीं पाता हूं। जो परिभाषा महात्मा ने दी है उसमें मैं कोई अंतर नहीं पाता हूं। जो परिभाषा महात्मा ने दी है उसके अनुसार तो वर्ण ही जाति का दूसरा नाम है, इसका सीधा कारण यह है कि दोनों का सार एक है - अर्थात् पैत्तृक पेशा अपनाना। प्रगति करना तो दूर, महात्मा ने अवनति की है। वर्ण की वैदिक धारणा की व्याख्या करके उन्होंने जो उत्कृष्ट था उसे वास्तव में उपहासप्रद बना दिया है। यद्यपि मैं वैदिक वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार करता हूं, जिसका कारण मैंने अपने भाषण में बताया है। लेकिन मैं मानता हूं कि स्वामी दयानंद व कुछ अन्य लोगों ने वर्ण के वैदिक सिद्धांत की जो व्याख्या की है, बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है। मैं यह व्याख्या नहीं मानता कि जन्म किसी व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित करने का निर्धारक तत्व हो। वह केवल योग्यता को मान्यता देती है। वर्ण के बारे में महात्मा के विचार न केवल वैदिक वर्ण को मूर्खतापूर्ण बनाते हैं, बल्कि घृणास्पद भी बनाते हैं। वर्ण और जाति, दो अलग-अलग धारणाएं हैं। वर्ण इस सिद्धांत पर टिका हुआ है कि प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार, जब कि जाति का सिद्धांत है कि प्रत्येक को उसके जन्म के अनुसार। दोनों में इतना ही अंतर है, जितना खड़िया और पनीर में। वास्तव में दोनों विपरीत हैं। अगर महात्मा विश्वास करते हैं, जो वह अवश्य करते हैं, कि प्रत्येक को अपना पैतृक पेशा अपनाना चाहिए, तो निश्चित रूप से जातपांत की वकालत कर रहे हैं तथा इसको वर्ण-व्यवस्था बताकर न केवल पारिभाषिक झूठ बोल रहे हैं, बल्कि बदतर और हैरान करने वाली भ्रांति फैला रहे हैं। मेरा मानना है कि सारी भ्रांति इस कारण से है कि महात्मा की धारणा निश्चित और स्पष्ट नहीं है कि वर्ण क्या है और जाति क्या है तथा हिन्दूवाद के संरक्षण के लिए इसमें से किसकी जरूरत है। उन्होंने कहा है और वह आशा करते हैं कि वह अपने विचार बदलने के लिए कोई रहस्यवादी कारण नहीं ढूंढेंगे कि जाति हिन्दू धर्म का सार नहीं है। क्या वे वर्ण को हिन्दू धर्म का सार मानते हैं? अभी भी कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं दे सकता है। उनका लेख 'डा. अम्बेडकर का अभ्यारोपण' पढ़ने वाले भी कहेंगे, 'नहीं'। अपने लेख में वह नहीं बताते कि वर्ण का धर्म सिद्धांत हिन्दूवादी पंथ का एक आवश्यक हिस्सा है। वर्ण को हिन्दू धर्म का सार बताने की बजाए, वह कहते हैं कि "हिन्दू धर्म का सार इस कथन में निहित है कि एक ओर केवल एक सत्य ही ईश्वर है और अहिंसा मानव परिवार का एक कानून इसकी सुस्पष्ट स्वीकृति है।" लेकिन श्री संत राम के पत्र के उत्तर में लिखे लेख के पढ़ने वाले 'हां'

कहेंगे। उस लेख में उन्होंने कहा है कि एक मुसलमान कैसे मुसलमान रह सकता है यदि वह कुरान को अस्वीकार करता है, या एक ईसाई कैसे ईसाई रह सकता है यदि वह बाइबल को अस्वीकार करता है? यदि जाति और वर्ण विनिमय शब्द हैं और यदि वर्ण शास्त्रों का अंगभूत भाग है जो हिन्दू धर्म को परिभाषित करता है, तो मैं नहीं जानता कि जाति, अर्थात् वर्ण को अस्वीकार करने वाला अपने आपको हिन्दू कैसे कहलवा सकता है।'' फिर यह छलकपट क्यों? महात्मा हिचकिचा क्यों रहे हैं? वह किसको प्रसन्न करना चाहते हैं? क्या संत सत्य का अर्थ समझने में असफल हो गए हैं? या क्या राजनीतिज्ञ संत के रास्ते में रोड़ा बन रहे हैं? महात्मा की भ्रांति का वास्तविक कारण क्या इन दो साधनों से पता लगाया जा सकता है? पहला है, महात्मा का स्वभाव। वह प्रत्येक बात में बच्चे जैसी सरलता और बच्चे जैसा स्वयं को धोखा देने वाला स्वभाव रखते हैं। बच्चे की तरह वह किसी भी बात में जिसे वह चाहते हैं, विश्वास करने लगते है। इसलिए हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए कि उन्होंने जिस तरह जाति में विश्वास करना छोड़ दिया है, उसी तरह वे वर्ण में विश्वास करना छोड़ देंगे। दूसरा साधन उनकी महात्मा और राजनीतिज्ञ की दोहरी भूमिका है। महात्मा के रूप में वह शायद राजनीति का आध्यात्मीकरण करने की कोशिश कर रहे हैं। इसमें वह सफल हुए हों या न हुए हों, राजनीति ने उनका व्यापारीकरण कर दिया है।

राजनीतिज्ञ को यह जानना जरूरी है कि समाज पूर्ण सत्य को सहन नहीं कर सकता और उन्हें पूर्ण सत्य नहीं बोलना चाहिए। अगर वह पूर्ण सत्य बोल रहे हैं तो यह उनकी राजनीति के लिए खराब होगा। महात्मा जाति और वर्ण का समर्थन हमेशा क्यों कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि यदि उन्होंने इसका विरोध किया तो वे राजनीति में अपना स्थान खो देंगे। उनकी भ्रांति का कोई भी कारण हो, महात्मा को यह कह दिया जाना चाहिए कि वह अपने आपको धोखा दे रहे हैं तथा वर्ण के नाम पर जाति को उपदेश देकर लोगों को धोखा दे रहे हैं।

10

महात्मा कहते हैं कि हिन्दू और हिन्दू धर्म की जांच करने के लिए जो मानक मैंने अपनाए हैं, उन मानकों के आधार पर प्रत्येक वर्तमान धर्म शायद असफल हो जाएगा। यह शिकायत हो सकती हैं कि मेरे मानक ऊंचे हैं और यह सच हो सकता है। लेकिन प्रश्न यह नहीं है कि ये मानक ऊंचे हैं या नीचे हैं। प्रश्न यह है कि यह मानक लागू करने के लिए उचित हैं या नहीं। किसी अन्य मानक का कोई अर्थ नहीं है, अगर यह माना जाए कि धर्म आवश्यक रूप से लोगों के कल्याण के लिए होता है। अब मैं कहता हूं कि हिन्दू तथा हिन्दू धर्म को जांचने के लिए जो मानक मैंने लागू किए हैं, वे सबसे अधिक उपयुक्त हैं और इससे बेहतर मानक नहीं जानता हूं। यह निष्कर्ष सत्य हो सकता है कि यदि मेरे मानक लागू किए जाएं, तो प्रत्येक वर्तमान धर्म असफल हो जाएगा। लेकिन यह तथ्य हिन्दू और हिन्दू धर्म के

हिमायती महात्मा को दिलासा या और अधिक आधार नहीं देता कि एक पागल आदमी के होने से दूसरे पागल आदमी को दिलासा हो या एक अपराधी के होने से दूसरे अपराधी को दिलासा हो। मैं महात्मा को आश्वासन देना चाहता हूं कि यह केवल हिन्दू और हिन्दू धर्म की असफलता नहीं है, जिसने मेरे मन में घृणा और अवमानना की भावना भर दी है, जिसका मुझ पर आरोप लगाया गया है। मैं मानता हूं कि यह दुनिया एक अपूर्ण दुनिया है और जो भी इसमें जीना चाहता है, उसे अपूर्णता को सहन करना चाहिए। लेकिन जब कि मैं समाज की अपूर्णता तथा कमियों में जीने के लिए तैयार हूं, जिसमें मुझे कठिनाई से आगे बढ़ना मेरी नियति है तो मैं महसूस करता हूं कि उस समाज में जीने के लिए मैं सहमत नहीं हूं जो गलत आदर्शों को संजोए रखता है या एक ऐसा समाज जिसके आदर्श सही हैं, परंतु वह अपने सामाजिक जीवन को उन आदर्शों के अनुरूप ढालना नहीं चाहता है। अगर मुझे हिन्दू और हिन्दू धर्म से ऊब पैदा होती है तो यह इसलिए है, क्योंकि मुझे विश्वास है कि वे गलत सिद्धांतों और गलत सामाजिक जीवन का पोषण करते हैं। हिन्दू और हिन्दू धर्म से मेरा झगड़ा उनके सामाजिक आचरण की अपूर्णता से नहीं है। यह बहुत अधिक मौलिक है। यह झगड़ा उनके सिद्धांतों से है।

11

मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दू समाज को नैतिक पुनरुद्धार की आवश्यकता है, जिसे विलंबित करना खतरनाक होगा। प्रश्न यह है कि इस नैतिक पुनरुद्धार को कौन निर्धारित और नियंत्रित कर सकता है? स्पष्ट रूप से वे लोग जो अपना बौद्धिक पुनरुद्धार कर चुके हैं और वे जो इतने ईमानदार हैं कि बौद्धिक उद्धार से पैदा हुए दृढ विश्वास को दिखाने का साहस जिनके पास है। इस मानक से जांचने से पता चलता है कि माने हुए हिन्दू नेता, मेरे विचार से इस कार्य के लिए बिल्कुल अयोग्य हैं। यह कहना असंभव है कि वे प्रारंभिक रूप से भी बौद्धिक पुनरुद्धार कर चुके हैं। अगर उन्होंने अपना बौद्धिक पुनरुद्धार कर लिया है तो वे न तो अशिक्षित बहुसंख्या की तरह अपने आपको धोखा देंगे और न ही वे आदिम अज्ञान का फायदा ही उठाएंगे, जैसा कि आजकल देखा जाता है। टुकड़े-टुकड़े होते हिन्दू समाज के बावजूद भी ये नेतागण निर्लज्जता से पुराने सिद्धांतों की दुहाई देंगे, जिनका हर हालत में वर्तमान से संबंध समाप्त हो चुका है; जो आरंभिक दिनों में कितने भी उपयुक्त रहे हों। वे अब मार्गदर्शक की बजाए, एक चेतावनी बन चुके हैं। वे प्रारम्भिक सिद्धांतों के प्रति अभी भी रहस्यपूर्ण सम्मान रखते हैं, जो उन्हें अनिच्छुक नहीं, बल्कि समाज की नींव की जांच करने का विरोधी बनाते हैं। हिन्दू लोग वास्तव में अपनी मान्यता के निर्माण में अविश्वसनीय रूप से ध्यान नहीं देते। यही हाल हिन्दू नेताओं का है। बदतर बात यह है कि अब कोई उनकी संगति छुड़ाने का प्रस्ताव करता है तो वे अपनी मान्यताओं के लिए अवैध भावावेश से भर जाते हैं। महात्मा कोई अपवाद नहीं। ऐसा लगता है कि महात्मा सोचने में विश्वास नहीं करते।

वह संतों का अनुसरण करने को प्राथमिकता देते हैं। एक रूढ़िवादी की तरह वे पवित्र धारणा में श्रद्धा रखते हैं उन्हें डर है कि यदि एक बार उन्होंने सोचना शुरू किया तो कई आदर्शों और मान्यताओं का जिनसे वह चिपके हुए हैं, सत्यानाश हो जाएगा। प्रत्येक को उनसे सहानुभूति होनी चाहिए। स्वतंत्र सोच का प्रत्येक कार्य स्पष्टतया स्थिर दुनिया के कुछ भाग को संकट में डाल देता है। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि संतों पर निर्भर रहकर ही हम सत्य को नहीं जान सकते। आखिर, संत भी मनुष्य हैं और जैसा कि लार्ड बेलफोर ने कहा है, ''सूअर की थूथनी से अधिक मनुष्य का दिमाग सत्य का पता लगाने वाला उपकरण नहीं है।'' जहां तक वह सोचते है, मुझे वह हिन्दुओं के पुरातन ढांचे के लिए समर्थन ढूंढने हेतु बुद्धि का दुरुपयोग करते प्रतीत होते हैं। वह इसके सबसे प्रभावशाली समर्थक हैं और इसलिए हिन्दुओं के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

महात्मा से अलग ऐसे हिन्दू नेता भी हैं, जो केवल विश्वास और अनुसरण करने से ही संतुष्ट नहीं हैं। वे सोचने का साहस करते हैं और अपनी सोच के परिणाम के अनुसार कार्य करते हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश या तो वे बेईमान लोग हैं या जब लोगों को सही मार्गदर्शन देने का प्रश्न उठता है तो वे उदासीन बन जाते हैं। लगभग सभी ब्राह्मणों ने जाति के नियम का उल्लंघन किया है। जूते बेचने वाले ब्राह्मणों की संख्या उनसे अधिक है, जिन्होंने पुरोहिताई छोड़ दी है। उन्होंने न केवल ऐसे व्यवसाय अपना लिए हैं जो उनके लिए शास्त्रों द्वारा वर्जित हैं। लेकिन ऐसे कितने ब्राह्मण हैं जो रोज जाति का नियम तोड़ते है, जो जाति और शास्त्रों के विरुद्ध उपदेश देंगे? क्योंकि उसकी मूल प्रवृत्ति और नैतिक विवेक उनकी दृढ़ धारणा का समर्थन नहीं कर सकता लेकिन ऐसे सैकड़ों हैं जो रोज जाति को तोड़ते हैं तथा शास्त्रों को रौदते हैं लेकिन जो जाति के सिद्धांत और शास्त्रों की पवित्रता के कट्टर समर्थक हैं। यह दोगलापन क्यों? क्योंकि वे महसूस करते हैं कि यदि जाति का जुआ लोगों ने उतार फेंका, तो ब्राह्मण वर्ण की सत्ता और सम्मान के लिए वे संकट पैदा कर देंगे। बुद्धिजीवी वर्ग की इस बेईमानी से आम लोग उनके विचारों के फल से वंचित हो जाते हैं। यह एक लज्जाजनक तथ्य है।

मैथ्यू आरनोल्ड के शब्द हैं कि ''हिन्दू दो दुनिया में विचर रहे है - एक है मृत दुनिया और दूसरी शक्ति रहित जन्म लेने वाली।'' उन्हें क्या करना चाहिए? महात्मा जिससे वे मार्गदर्शन की अपील करते हैं, वह सोचने में विश्वास नहीं करते, इसलिए मार्गदर्शन नहीं कर सकते जो अनुभव की कसौटी पर खरा उतरे। बुद्धिजीवी वर्ग जिनकी ओर लोग मार्गदर्शन के लिए निहारते हैं, वे या तो अधिक बेईमान हैं या उदासीन, इसलिए सही दिशा की ओर जाने की शिक्षा उन्हें नहीं मिल पाती है। इस त्रासदी की स्थिति में हम विलाप करते हुए कह सकते हैं - अरे हिन्दुओं, तुम्हारे नेतागण ऐसे हैं।

भाग II

भाषायी राज्यों के संबंध में

3

महाराष्ट्र : एक भाषावार प्रांत

भाषावार प्रांत आयोग को प्रस्तुत वक्तव्य

1948 में पहली बार प्रकाशित
1948 में संस्करण का पुनर्मुद्रण

किंतु जब कोई व्यक्ति दो लोगों का ऋणी हो और पहला उस पर मुकदमा कर दे और तब दूसरा भी सामने आए और वह भी मुकदमा कर दे तो किस न्याय के तहत हम उस ऋण लेने वाले व्यक्ति की सारी जायदाद उस दूसरे ऋणदाता को दिलवा सकते हैं। उसे तो केवल इतना भर विश्वास दिलाया जा सकता है कि हमारे कानून के अनुसार शीघ्रता से उसके साथ पूरा न्याय किया जाएगा। यदि वह समर्थ हुआ तो उसे पूरा ऋण चुकाने को बाध्य किया जा सकता है और नहीं हुआ तो उस समय तक उसे जेल में भी बंद किया जा सकता है, जब तक वह उसे छुड़ाने को सहमत न हो जाए। ऐसी स्थिति आने पर हम यह मानते हैं कि उसे इससे संतोष हो जाएगा।

अंग्रेजी के खंड 1 में भारत के स्वतंत्र होने से पूर्व का जो अप्रामाणिक मानचित्र दिया गया है, उसे हम इस अध्याय के अंत में पाठकों की सुविधा के लिए उसी रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

संपादक

महाराष्ट्र : एक भाषावार प्रांत

भाग I

भाषावार प्रांतों के निर्माण की समस्या

भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन के सवाल से न केवल दलीय पूर्वाग्रहों और दलीय हितों से उत्पन्न अनेक प्रकार के वाद-विवाद उभर कर सामने आए हैं वरन् भाषावार प्रांतों के गठन की उपयोगिता के बारे में भी मतभेद दिखाई देता है। वाद-विवाद के मुख्य मुद्दों में ये बातें सम्मिलित हैं : परस्पर सटे हुए इलाकों के बारे में दावे या प्रति दावे संबंधी दो पड़ोसी प्रांतों के बीच झगड़े तथा उन इलाकों को किसी प्रांत में सम्मिलित करने संबंधी शर्तें। जहां तक ये दोनों मुद्दे महाराष्ट्र प्रांत के पुनर्गठन से संबंधित हैं, मैं इन पर अपने विचार आगे चलकर व्यक्त करूंगा। पहले मैं भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन के प्रस्ताव के गुण-दोषों को लेता हूं।

भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन की मांग का प्रयोजन

2. भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन की मांग का प्रयोजन क्या है? जो लोग भाषावार प्रांतों के निर्माण के समर्थक हैं, उनकी मान्यताओं का सार यह है कि प्रांतों की भाषाएं और संस्कृतियां अलग-अलग होती हैं। इसलिए उन्हें इस बात की खुली छूट होनी चाहिए कि वे अपनी-अपनी भाषाओं और संस्कृतियों का विकास कर सकें। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक प्रांत में विशिष्ट राष्ट्रीयता के सभी तत्व विद्यमान होते हैं और उन प्रांतों को इस बात की पूरी स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, जिससे वे अपने-अपने राष्ट्रत्व का पूर्णत: विकास कर सकें।

भाषावार प्रांतों के निर्माण से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयां

3. इस प्रकार के भाषावार प्रांतों के निर्माण के प्रश्न पर विचार करते समय यदि इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया जाता है कि भावी भारत सरकार का ढांचा द्विरूपी होगा, तो ऐसा करना अदूरदर्शिता पूर्ण होगा। द्विरूपी ढांचा इस प्रकार होगा: (क) केन्द्र सरकार और (ख) अनेक प्रांतीय सरकारें, जो अपने-अपने विधायी कार्यपालक और प्रशासनिक प्रकार्यों के निर्वाह में जटिल रूप से मिश्रित और परस्पर संबंधित होंगी। इसलिए भाषावार प्रांतों के

निर्माण के विचार से सहमत होने के पहले हमें इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि केन्द्र सरकार के कार्यकलाप पर भाषावार प्रांतों का क्या प्रभाव पड़ेगा?

4. जिन अनेक प्रभावों की पूर्वकल्पना की जा सकती है, उनमें से कुछ स्पष्ट प्रभाव ये होंगे:

(क) भाषावार प्रांतों के निर्माण के परिणाम स्वरूप उतने ही राष्ट्र बन जाएंगे जितने ऐसे वर्ग होंगे, जिन्हें अपनी प्रजाति, भाषा और साहित्य पर गर्व होगा। केन्द्रीय सभा राष्ट्रकुल जैसी बन जाएगी और केन्द्रीय कार्यपालिका ऐसा समागम मात्र हो जाएगा, जिसमें अनेक अलग-अलग, पर संगठित, राष्ट्र होंगे और जिनमें अपनी अलग संस्कृति एवं फलत: अपने अलग हितों के प्रति सजग चेतना कूट-कूटकर भरी होगी। उनमें राजनीतिक अवमानना, अर्थात् बहुमत के निर्णय की अवज्ञा अथवा बहिर्गमन कर जाने की प्रवृत्ति जैसी भावनाएं भी उभर सकती हैं। इस प्रकार की भावनाओं के उभार की बिल्कुल अनदेखी नहीं की जा सकती है। यदि ऐसी भावनाएं जाग खड़ी हुईं तो फिर केन्द्र सरकार का काम कर सकना असंभव हो जाएगा।

(ख) भाषावार प्रांतों का निर्माण केन्द्र सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच आवश्यक प्रशासनिक संबंधों के निर्वाह के लिए घातक सिद्ध होगा। मान लें, यदि हर प्रांत अपनी-अपनी भाषा को राजभाषा बना ले तो केन्द्र सरकार को उनसे उतनी ही भाषाओं में पत्र-व्यवहार करना पड़ेगा, जितनी भाषावार प्रांतों की संख्या होगी। इसे एक असंभव काम माना जाना चाहिए। भाषावार प्रांतों के गठन से सरकारी कामकाज में किस तरह का भयानक गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा, इसका अनुमान न्यायपालिका पर उसके होने वाले प्रभाव की कल्पना से ही किया जा सकता है। नए तंत्र के अनुसार प्रत्येक प्रांत में एक-एक उच्च न्यायालय होगा और नीचे कई अधीनस्थ न्यायालय होंगे। इन सभी उच्च न्यायालयों के ऊपर उच्चतम न्यायालय होगा, जिसे इन उच्च न्यायालयों के निर्णयों के खिलाफ की गई अपीलों की सुनवाई का अधिकार होगा। भाषावार प्रांतों के बन जाने पर प्रत्येक प्रांत के उच्च न्यायालय सहित सभी न्यायालय अपनी-अपनी कार्यवाही प्रांतीय भाषा में संचालित करेंगे। किसी उच्च न्यायालय की गलती को सुधरवाने के लिए जब कोई उच्चतम न्यायालय की शरण में जाएगा तो ऐसी स्थिति में उच्चतम न्यायालय क्या करेगा? उच्चतम न्यायालय पर तो ताले डाल देने पडेंगे, क्योंकि उसे, अर्थात् उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को अपना कार्य सुचारु रूप से करना है तो फिर उसे हर प्रांत की भाषा आनी चाहिए। ऐसा होना या इसके लिए व्यवस्था करना असंभव ही होगा। इस समय मैं केवल न्यायाधीशों की बात ही कर रहा हूं, न कि वकीलों या अधिवक्ताओं की।

ठंडा दिल और दिमाग रखते हुए कोई ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति से तो भारत टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। ऐसी स्थिति में भारत एकजुट नहीं रह सकेगा, वह तो यूरोप बन जाएगा। उसमें चारों ओर अराजकता और अव्यवस्था का बोलबाला हो जाएगा।

भाषावार प्रांतों के निर्माण से लाभ

5. यद्यपि इस बात में सच्चाई है कि भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन के प्रस्ताव से ऐसी समस्या उठ खड़ी होगी, जो भारत की एकता जैसी मूलभूत बात को खोखला कर सकने की संभावना अपने में संजोए हुए है, फिर भी इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि भाषाओं के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन के अपने कुछ निश्चित राजनीतिक लाभ भी हैं।

6. भाषावार प्रांतों की योजना का जो मुख्य लाभ मुझे सबसे अधिक प्रभावित करता है, वह यह है कि मिश्रित भाषायी प्रांतों की तुलना में भाषावार प्रांतों में लोकतंत्र अधिक कारगर सिद्ध होगा। भाषावार प्रांत लोकतंत्र की प्रधान आवश्यकता तथा सामाजिक समरूपता की पूर्ति करता है। किसी समाज की समरूपता जिन बातों पर आश्रित होती है, वे हैं : लोगों का इस बात में विश्वास कि उन सबका उद्‌भव एक ही मूल से हुआ है, उन सबकी भाषा और साहित्य एक हो, वे सब एक ही ऐतिहासिक परंपरा पर गर्व करते हों, उन सबके सामाजिक रीति-रिवाज मिले-जुले हों, आदि-आदि। समरूपता संबंधी इन तर्कों के बारे में समाजशास्त्र के अध्येताओं में किसी प्रकार का विवाद या मतभेद नहीं है। यदि किसी राज्य में सामाजिक समरूपता का अभाव हो तो ऐसी स्थिति खतरनाक होगी, विशेषकर तब, जब वह राज्य लोकतांत्रिक ढांचे पर बना हो। इतिहास हमें यह बताता है कि जिस राज्य की जनता में समरूपता नहीं मिलती, वहां लोकतंत्र असफल हो जाता है। ऐसे विषम समाज में, जो वर्गों में बंटा हो और जिसके सभी वर्ग एक-दूसरे के प्रति आक्रामक और गैर-सामाजिक रुख रखते हों, उस समाज में लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता। उलटे, उसमें भेदभाव, अवहेलना और अनुचित पक्षपात पनपेगा तथा जिस वर्ग के हाथ में राजनीतिक सत्ता होगी, वह दूसरे वर्ग के हितों को दबाने की चेष्टा करेगा। किसी भी विषम समाज में लोकतंत्र की असफलता का मुख्य कारण यही है कि सत्ता का उपयोग पक्षपात रहित तथा गुणावगुण को ध्यान में रखते हुए 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' न होकर किसी वर्ग विशेष की ऐश्वर्य या शक्ति वृद्धि हेतु और अन्य वर्ग या वर्गों को क्षति पहुंचाने के लिए किया जाता है। इसके विपरीत, जिस राज्य की जनता में जितनी अधिक समरूपता होगी, वह राज्य लोकतंत्र के वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति में उतना ही अधिक तल्लीन रहेगा, क्योंकि उस राज्य में राजनीतिक सत्ता के दुरुपयोग को बढ़ावा देने वाले कृत्रिम अवरोध या सामाजिक वैमनस्य पैदा करने वाले तत्व उपस्थित नहीं होंगे।

7. सार यह है कि लोकतंत्र की समुचित क्रियाशीलता के लिए यह आवश्यक है कि उस राज्य की समस्त जनता का वितरण इस प्रकार का हो कि वह एक ठोस समरूपी इकाई

लगे। भारत के सभी प्रांतों का जो पुनर्गठन प्रस्तावित है, उसके मूल में इसी तरह के लोकतंत्रात्मक शासन की भावना निहित है। संक्षेप में, किसी भी प्रांत के लोकतंत्र की सफलता के लिए उसकी जनता का समरूपी होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, लोकतांत्रिक सांचे में ठीक प्रकार से समाने के लिए हर प्रांत को एक भाषायी इकाई होना चाहिए। भाषावार प्रांतों के निर्माण का औचित्य यही जान पड़ता है।

क्या भाषावार प्रांतों का निर्माण स्थगित किया जा सकता है?

8. क्या इस समस्या के समाधान को टाला जा सकता है? इस प्रसंग में मैं आयोग के समक्ष विचारार्थ कुछ बातें रखना चाहूंगा :

(क) भाषावार प्रांतों की मांग नई नहीं है। इस समय के छह प्रांत भाषावार प्रांत ही हैं, ये हैं: (1) पूर्वी पंजाब, (2) संयुक्त प्रांत, (3) बिहार, (4) पश्चिमी बंगाल, (5) असम, और (6) उड़ीसा। भाषायी आधार पर पुनर्गठन की सुगबुगाहट जिन प्रांतों में सुनाई पड़ रही है, वे हैं : (1) बंबई, (2) मद्रास, और (3) मध्य भारत। जब छह प्रांतों के बारे में भाषा के आधार पर प्रांतों के गठन का सिद्धांत मान लिया गया है तो फिर जो अन्य प्रांत इसी सिद्धांत को उन पर भी लागू करने की मांग कर रहे हैं, उनकी इस मांग को अनंतकाल के लिए टाला तो नहीं जा सकता।

(ख) इन गैर-भाषावार प्रांतों की स्थिति इस समय खतरनाक नहीं तो कम से कम उत्तेजनापूर्ण तो कही ही जा सकती है। यह स्थिति ठीक वैसी ही हो गई है, जैसी कभी प्राचीन तुर्की साम्राज्य या प्राचीन ऑस्ट्रो-हंगेरियाई साम्राज्य की थी।

(ग) भाषावार प्रांतों के निर्माण की मांग यहां भी ठीक उसी पलीते जैसी विस्फोटक हो गई है, जिसने प्राचीन तुर्की साम्राज्य या ऑस्ट्रो-हंगेरियाई साम्राज्य को जलाकर राख कर दिया था। इस आग को और अधिक भड़कने से बचाना होगा, नहीं तो सर्वनाश को रोक पाना कठिन हो जाएगा।

(घ) जब तक प्रांतों का ढांचा लोकतंत्रात्मक नहीं था और जब तक नए संविधान के तहत उन्हें व्यापक प्रभुत्व संपन्न अधिकार नहीं मिले हुए थे, तब तक तो भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन की अत्यावश्यकता महसूस नहीं की जा रही थी। किंतु नए संविधान के बन जाने पर अब इस समस्या का अविलंब समाधान ढूंढना अनिवार्य हो गया है।

कठिनाइयों का हल

9. यदि समस्या का निपटारा शीघ्र ही किया जाना है तो इसका हल क्या है? जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यह हल दो शर्तों को पूरा करने वाला होना चाहिए। भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के बाद भी ऐसी व्यवस्था करनी होगी, ताकि भारत की एकता खंडित न होने पाए। इसलिए इस समस्या के समाधान हेतु मेरा सुझाव है

कि भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन की मांग को स्वीकार कर लेने पर भी ऐसी संवैधानिक व्यवस्था हो कि केन्द्र सरकार की जो राजभाषा हो, वही भाषा सभी प्रांतों की भी राजभाषा मानी जाए। केवल इसी आधार पर मैं भाषावार प्रांतों की मांग को मानने के लिए तत्पर हूं।

10. मैं इस तथ्य को जानता और मानता हूं कि मेरा यह सुझाव भाषावार प्रांतों की प्रचलित अवधारणा के प्रतिकूल जाता है। आज की मान्य अवधारणा यह है कि प्रांतीय भाषा ही उस प्रांत की राजभाषा होगी। मैं भाषावार प्रांतों के निर्माण के खिलाफ नहीं हूं। किंतु मुझे इस बात से कड़ी आपत्ति है कि केन्द्र की राजभाषा से भिन्न होने के बावजूद भी प्रांतीय भाषा को वहां की राजभाषा बनाया जाए। मेरी यह आपत्ति निम्नलिखित कारणों से है:

(क) भाषावार प्रांत बनाए जाएं, इस विचार का संबंध कतई इस बात से नहीं है कि उस प्रांत की राजभाषा क्या हो। मेरे मतानुसार भाषावार प्रांत से तात्पर्य एक ऐसे प्रांत से है, जिसकी जनता अपनी सामाजिक संरचना में समरूपी हो। ऐसा होने पर उसकी लोकतंत्रात्मक सरकार को जिन सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति करनी चाहिए, उनके लिए वह अधिक उपयुक्त होगी। मेरे विचार से, भाषावार प्रांत का उस प्रांत की भाषा से कोई लेना-देना नहीं है। भाषावार प्रांतों की योजना में वहां की भाषा की भूमिका अनिवार्यत: महत्वपूर्ण है। किंतु यह भूमिका प्रांत के निर्माण तक ही सीमित रखी जा सकती है, अर्थात् इसका उपयोग उस प्रांत की सीमाओं के रेखांकन तक ही किया जाना चाहिए। भाषावार प्रांतों की योजना में ऐसी कोई दो-टूक अनिवार्यता नहीं है, जो हमारे लिए उस प्रांतीय भाषा को वहां की राजभाषा भी बनाने के लिए बाध्यकारी हो। उस प्रांत की सांस्कृतिक एकता बनाए रखने के लिए न ही यह जरूरी है कि उस प्रांत की भाषा को ही वहां की राजभाषा बनाया जाए। ऐसा मानना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि प्रांत की सांस्कृतिक एकता तो पहले से ही विद्यमान है और उस एकता को अन्य भाषेतर कारकों, जैसे समान ऐतिहासिक परंपरा, सामाजिक रीति-रिवाजों में समानता आदि से भी बनाए रखा जा सकता है। पहले से विद्यमान प्रांत की सांस्कृतिक एकता को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक नहीं जान पड़ता कि प्रांतीय भाषा को सरकारी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया ही जाए। प्रांतीयता के हिमायतियों के सौभाग्य से इस बात का डर नहीं है कि यदि कोई महाराष्ट्रीय अन्य भाषा भी बोलता है तो वह महाराष्ट्रीय नहीं रहेगा। इसी तरह यदि कोई तमिल या कोई आंध्रवासी या कोई बंगाली अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का भी प्रयोग करता है तो इस बात का डर नहीं है कि वह तमिल, आंध्रवासी या बंगाली नहीं माना जाएगा।

(ख) भाषावार प्रांतों के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाने वाले हिमायती भी निश्चय ही यह कहकर आपत्ति प्रकट करेंगे कि वे भी नहीं चाहते कि प्रांतों को अलग-अलग राष्ट्रों के रूप में बदल दिया जाए। उनकी नेकनीयती पर अविश्वास नहीं किया जाना चाहिए। फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि कभी-कभी हालात इतने बिगड़ जाते हैं, जिनकी पूर्वकल्पना उनके प्रणेताओं ने भी न की होगी। इसलिए यह परमावश्यक जान पड़ता है कि शुरू से ही कदम फूंक-फूंककर ही उठाए जाएं, ताकि आगे चलकर बुरे दिन देखने की नौबत ही न आने पाए। इसलिए इस बात में किसी तरह की बुराई नजर नहीं आती कि यदि रस्सी को एक ओर ढील देनी हो तो उसे दूसरी ओर कसकर बांध लेना चाहिए।

(ग) हमें प्रांतीय भाषा को वहां की राजभाषा नहीं बनने देना चाहिए, चाहे यह सहज लगता हो कि प्रांतीय भाषा उस प्रांत की राजभाषा होनी चाहिए। भाषावार प्रांतों के निर्माण में कुछ भी खतरा नहीं है। खतरा है तो केवल तब, जब भाषावार प्रांत बनाए जाएं और साथ-साथ प्रत्येक प्रांतीय भाषा को भी वहां की राजभाषा बना दिया जाए। प्रांतीय भाषाओं को राजभाषाएं बना देने से प्रांतीय राष्ट्रिकताओं के विकास का रास्ता साफ हो जाएगा, क्योंकि प्रांतीय भाषाओं के राजभाषाएं बन जाने का परिणाम यह होगा कि प्रांतीय संस्कृतियां अलग-थलग पड़ जाएंगी, तब उनका स्वरूप अलग से झलकने लगेगा और ऐसा होने पर उनमें कठोरता और ठोस हो जाएगी। ऐसा होने देना विनाशकारी होगा। इसका तात्पर्य प्रांतों को स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में विकसित होने देने का न्यौता देना होगा - हर मामले में स्वतंत्र या अलग-अलग। और इस प्रकार एकीकृत भारत के सर्वनाश का रास्ता खुल जाएगा। भाषावार प्रांतों के निर्माण के बावजूद वहां की भाषाओं को राजभाषाओं का दर्जा न दिए जाने पर प्रांतीय संस्कृतियां प्रवाहित रहेंगी और सभी के बीच आदान-प्रदान की धाराएं बहती रहेंगी। इसलिए हर हालत में हमें प्रांतीय भाषाओं को भाषावार प्रांतों की राजभाषाएं नहीं बनने देना है।

11. किसी अखिल भारतीय राजभाषा को, जो हो सकता है कि उस प्रांत की भाषा से भिन्न हो, किसी भाषावार प्रांत पर थोपने की बात उस प्रांत की संस्कृति को बनाए रखने के आड़े नहीं आएगी। राजभाषा का प्रयोग तो सरकारी प्रयोजनों के लिए ही होगा। इससे इतर जितने भी अन्य गैर-सरकारी क्षेत्र हैं और जिन्हें पूरी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र माना जा सकता है, उनमें प्रांतीय भाषाओं को अपनी भूमिका निभाने का अवसर मिलता रहेगा। इस तरह सरकारी भाषा और गैर-सरकारी भाषाओं के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता चलती रहेगी। हो सकता है कि दोनों में से एक भाषा दूसरी भाषा को अपदस्थ करने का प्रयास करे। यदि सरकारी भाषा गैर-सरकारी भाषा को सांस्कृतिक क्षेत्र से बाहर करने में सफल हो जाती है तो इससे बढ़कर और क्या बात होगी। यदि वह सफल नहीं भी होती है तो कोई बड़ा नुकसान नहीं

होगा। ऐसी स्थिति को असहनीय भी नहीं माना जा सकता। कम से कम वर्तमान स्थिति की तुलना में तो वह अधिक असहनीय नहीं ही होगी, क्योंकि आज की स्थिति ऐसी है, जिसमें अंग्रेजी सरकारी भाषा है और प्रांतीय भाषाएं गैर–सरकारी भाषाएं। बस इतना भर अंतर होगा कि तब अंग्रेजी राजभाषा नहीं होगी, कोई अन्य भाषा उसका स्थान ले लेगी।

संतोषप्रद हल की आवश्यकताएं

12. मैं यह जानता हूं कि मैं जो हल सुझा रहा हूं, वह कोई आदर्श हल नहीं है। पर इस हल से प्रांतों में संवैधानिक कार्य लोकतंत्रात्मक पद्धति पर चलना संभव हो सकेगा। किंतु इससे केन्द्र के स्तर पर ऐसा संभव नहीं होगा। इसका कारण यह है कि केवल भाषायी एकता, अर्थात एक ही भाषा बोलने की सुविधा से समरूपता सुनिश्चित नहीं हो जाती, क्योंकि समरूपता तो अन्य अनेक कारकों का परिणाम होती है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि केन्द्रीय सभा के लिए जो प्रतिनिधि इन प्रांतों से चुने जाएंगे, उनकी पहचान पूर्ववत् ही रहेगी, अर्थात् वे बंगाली, तमिल, आंध्रवासी, महाराष्ट्रीय आदि ही रहेंगे, फिर चाहे वहां वे अपनी मातृभाषा के स्थान पर राजभाषा का ही प्रयोग क्यों न करने लगे हों। तुरंत लागू किया जा सकने वाला आदर्श हल इस समय मुझे नहीं सूझ रहा है। इसलिए हमें अगले संभावित सर्वोत्तम हल से ही संतोष करना होगा। हां, ऐसा करते समय हमें यह जरूर देख लेना चाहिए कि हम जिस तात्कालिक हल को अपनाने जा रहे हैं, वह दो कसौटियों पर खरा उतरने वाला अवश्य हो :

(क) वह हल दूसरा सर्वोत्तम विकल्प हो, तथा

(ख) उस हल में आदर्श हल की ओर विकसित होने की क्षमता।

उपर्युक्त विचारों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो मैं यह कहने का साहस कर सकता हूं कि मैंने जो हल सुझाया है वह उपर्युक्त दोनों शर्तों को पूरा करता है।

भाग II

क्या महाराष्ट्र समर्थ दृष्टि से सक्षम प्रांत बन सकेगा?

सामर्थ्य की कसौटी

13. महाराष्ट्र प्रांत के निर्माण के विशिष्ट प्रश्न पर विचार करते समय इस बात की संतुष्टि कर लेना आवश्यक है कि यह प्रांत क्षमता की दृष्टि से समर्थ प्रांत होगा या नहीं। किसी भी प्रांत को सक्षम प्रांत घोषित करने से पहले उसे कुछ कसौटियों पर खरा उतरना पड़ता है। कसौटियां ये हैं: उसका एक निश्चित आकार हो, उसकी जनसंख्या एक निश्चित मात्रा से कम न हो तथा उसका राजस्व इनका समानुपाती हो। वह प्रांत न केवल आत्म-निर्भर होना चाहिए, आत्म-निर्भर तो कोई भी प्रांत अपने स्तर को घटा कर भी हो सकता है, अपितु उसका

राजस्व भी पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए, ताकि वह कार्यक्षमता की दृष्टि से वांछनीय तथा सामाजिक कल्पना की दृष्टि आवश्यक न्यूनतम प्रशासनिक मानक बनाए रख सके।

क्या महाराष्ट्र समर्थ है?

14. क्या महाराष्ट्र प्रांत इन कसौटियों पर खरा उतरता है? भाषायी आधार पर बने महाराष्ट्र प्रांत के आकार और उसकी जनसंख्या से संबंधित आंकड़े अगले पृष्ठ पर दिए जा रहे हैं:

महाराष्ट्र का क्षेत्रफल और उसकी जनसंख्या

15. अगले पृष्ठ पर दी गई सारणी में महाराष्ट्र प्रांत संबंधी जो आंकड़े दिए गए हैं, वे उसके दो रूपों से संबंधित हैं:

(1) संक्षिप्त रूप, और (2) विस्तृत रूप। विस्तृत रूप से तात्पर्य यह है कि यदि सभी मराठी-भाषी क्षेत्रों को मिलाकर एक प्रांत बना दिया जाए, तब तो महाराष्ट्र का कुल क्षेत्रफल 1,33,466 वर्ग मील हो जाएगा और तब उसकी कुल जनसंख्या होगी 2,15,85,700, संक्षिप्त रूप से तात्पर्य यह है कि एक क्षण के लिए मान लो, अन्य राज्यों के मराठी-भाषियों की जनसंख्या और उनके क्षेत्रफल को छोड़ दिया जाए, तब भी प्रस्तावित महाराष्ट्र प्रांत का क्षेत्रफल 84,151 वर्ग मील होगा और उसकी जनसंख्या 1,54,33,400 होगी।

महाराष्ट्र का राजस्व

16. महाराष्ट्र प्रांत के राजस्व के बारे में यह अनुमान लगाया गया है कि कराधान की वर्तमान दरों को ध्यान में रखते हुए संक्षिप्त महाराष्ट्र प्रांत का कुल वार्षिक राजस्व लगभग रु. 25,61,51,000 होगा।

महाराष्ट्र की अन्य प्रांतों से तुलना

17. अमुक आकार वाला, अमुक जनसंख्या वाला और अमुक राजस्व वाला प्रांत सक्षम माना जा सकता है या नहीं, यह जानने के लिए उसकी तुलना कुछ राज्यों से की जा सकती है। इसके लिए मैं नीचे आकार और जनसंख्या की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका के पहले, अर्थात् सबसे बड़े और सैंतालीसवें, अर्थात् सबसे छोटे राज्य के आंकड़े प्रस्तुत कर रहा हूं:

राज्य	क्षेत्रफल
पहला टैक्सास	2,67,339
सैंतालीसवा डेलावेयर	2,057

राज्य	जनसंख्या
पहला न्यूयार्क	1,26,32,890
सैंतालीसवां व्योमिंग	2,57,108

भू-भाग	क्षेत्रफल (वर्ग/मील)	कुल जनसंख्या	कुल मराठी-भाषी जनसंख्या	कुल जनसंख्या के अनुपात में मराठी-भाषियों का प्रतिशत
बंबई प्रेसिडेंसी के बारह जिले	47,284	1,29,13,544	1,00,45,100	77.8
मध्य भारत और बरार के आठ जिले	36,865	70,20,694	53,88,300	76.7
योग	84,151	1,99,34,238	1,54,33,400	77.4
बंबई प्रेसिडेंसी के अंतर्गत राज्य	11,314	27,20,207	21,20,700	77.9
हैदराबाद राज्य के मराठी भाषी जिले	22,766	42,49,272	32,99,300	77.6
गोआ	1,534	5,80,000	5,20,000	89.6
बस्तर राज्य	13,701	6,33,888	2,12,300	33.5
योग	49,315	81,83,367	61,42,300	. . . . .
कुल योग	1,33,466	2,81,17,605	2,15,85,700	76.8

18. ऊपर दिए गए आंकड़ों से महाराष्ट्र (चाहे उसके संक्षिप्त रूप से तुलना करें, चाहे विस्तृत रूप से) की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्र प्रांत संयुक्त राज्य अमरीका के क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे छोटे राज्य की तुलना में कई गुना बड़ा ठहरता है। इसी तरह सं.रा.अ. के ही जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़े राज्य न्यूयार्क से तुलना करने पर भी वह बहुत बड़ा होगा।

19. भारत के ही अन्य वर्तमान और संभावित भाषावार प्रांतों से महाराष्ट्र की तुलना करना भी उपयोगी होगा। क्षेत्रफल, जनसंख्या और राजस्व की दृष्टि से उनकी स्थिति इस प्रकार है :

प्रांत	क्षेत्रफल	जनसंख्या	वार्षिक राजस्व
वर्तमान भाषावार प्रांत			
संयुक्त प्रांत	106,247	5,50,20,617	32,65,08,000
बिहार	69,745	3,63,40,151	16,26,78,000
उड़ीसा	32,198	82,28,544	4,60,62,000
नए भाषावार प्रांत			
आंध्र	70,000	1,90,00,000	.....
कर्नाटक	25,000	45,00,000	.....
केरल	6,000	35,00,000	.....

उपर्युक्त आंकड़ों की महाराष्ट्र के आंकड़ों से तुलना करने पर इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता है कि महाराष्ट्र न केवल एक सक्षम प्रांत होगा, बल्कि वह क्षेत्रफल, जनसंख्या और राजस्व की दृष्टि से भी एक सबल प्रांत सिद्ध होता है।

भाग III

महाराष्ट्र को संघीय प्रकृति वाला प्रांत होना चाहिए या एकात्मक प्रकृति वाला?

20. अब मैं उन बिंदुओं पर आता हूं, जिनके बारे में वाद-विवाद है। एक प्रांत के रूप में महाराष्ट्र के एकीकरण के बारे में किसी तरह का विवाद नहीं है। हां, इसके बारे में मतभेद अवश्य है कि यह एकीकरण किस तरह का हो। एक मत यह है कि नए महाराष्ट्र प्रांत का स्वरूप एकात्मक होना चाहिए, अर्थात उसकी केवल एक धारासभा हो और केवल एक ही कार्यपालिका। दूसरी विचारधारा वालों का मत है कि महाराष्ट्र को दो उप-प्रांतों का संघ बनाया जाना चाहिए। इनमें से एक उप-प्रांत में बंबई प्रेसिडेंसी के मराठी-भाषी जिले सम्मिलित

होंगे और दूसरे उप-प्रांतों के रूप में महाराष्ट्र को विभाजित करने का विचार मध्य भारत और बरार के मराठी-भाषी जिलों के प्रवक्ताओं के मस्तिष्क की उपज है। मुझे पूरा भरोसा है कि ऐसी इच्छा केवल उन कुछ उच्च जाति वाले राज-नेताओं की है, जो यह सोचते है कि एकीकृत महाराष्ट्र के बन जाने पर उनका राजनीतिक जीवन चौपट हो जाएगा। मध्य भारत और बरार की जनता इस विचारधारा का समर्थन नहीं करती। मुझे इस मुद्दे को यहां उठाना नहीं चाहिए था, किंतु मैंने ऐसा केवल इसलिए किया है, ताकि मैं जिसे बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत मानता हूं, उसके प्रख्यापन करने का मुझे अवसर मिल सके। जब यह तय हो चुका है कि महाराष्ट्र जैसा भाषावार प्रांत बनाया जाए तो मेरा दृढ़ मत है कि ऐसी स्थिति में एक ही भाषा-भाषी और सभी सटे हुए भू-भागों को उस प्रांत में सम्मिलित किया ही जाना चाहिए। तब न तो चुनाव का प्रश्न उठाया जाना चाहिए और न ही आत्म-निर्णय का। पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए, ताकि बड़ी प्रांतीय इकाइयां बनें। यदि छोटी-छोटी प्रांतीय इकाइयां बनेंगी तो वे सामान्य दिनों में सदा के लिए भार बनी रहेंगी और आपात-काल में तो निश्चित रूप से कमजोरी का स्रोत होंगी। इस तरह की परिस्थिति से बचा जाना चाहिए। इसलिए मेरा आग्रह है कि महाराष्ट्र के सभी भागों को मिलाकर एक ही प्रांत बना दिया जाए।

भाग IV

महाराष्ट्र और बंबई नगर

बंबई के बारे में विवाद

21. बंबई शहर को महाराष्ट्र में सम्मिलित किया जाए या नहीं, इस प्रश्न पर काफी विवाद है। बंबई के इंडियन मर्चेंट्स चैंबर भवन में एक बैठक हुई, जिसमें साठ से अधिक लोगों ने भाग नहीं लिया। इसमें भाग लेने वालों में एक भारतीय ईसाई को छोड़कर शेष सभी केवल गुजराती-भाषी व्यापारी और उद्योगपति थे। यद्यपि यह बैठक छोटी और एक विशिष्ट वर्ग से ही संबंधित थी, किंतु इसकी कार्यवाही को भारत के सभी समाचार-पत्रों में प्रथम पृष्ठ पर महत्वपूर्ण स्थान मिला। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' तो इससे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने इस पर संपादकीय ही लिख मारा। इस संपादकीय में एक ओर जहां महाराष्ट्रवादियों के खिलाफ वक्ताओं ने जो विष उगला उसके बारे में केवल हल्के शब्दों में भर्त्सना की गई, किंतु दूसरी ओर बंबई के भविष्य के बारे में इस बैठक में जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसका समर्थन भी किया गया। इससे तो उस बात की सच्चाई फिर सामने आती है, जो आयरलैंड संबंधी विवाद के दौरान आयरलैंड के नेता रैडमंड को जवाब देते समय लॉर्ड बर्कन हैड ने कही थी कि कुछ मामलों में अल्पमत ही बहुमत बन जाता है। विवाद से संबधित पक्ष तथा विपक्ष में दी गई दलीलों को सम्मिलित नहीं करता तो मेरा यह ज्ञापन बुरी तरह से अधूरा

ही रह जाता। इस ज्ञापन में इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि वह बैठक अत्यंत महत्वपूर्ण मानी गई और दूसरा यह कि इस बैठक में पारित प्रस्ताव को विश्वविद्यालयों के लब्धप्रतिष्ठ प्रोफेसरों का समर्थन मिला।

बंबई के बारे में प्रस्ताव

22. उस बैठक में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुआ :

(क) भाषावार प्रांतों के निर्माण का प्रश्न स्थगित कर दिया जाए, या

(ख) यदि इसे स्थगित न किया जा सके तो फिर बंबई शहर को एक अलग प्रांत बना दिया जाए।

एक तीसरा सुझाव यह भी था कि कोंकण को एक अलग प्रांत का दर्जा दिया जाए और बंबई उसकी राजधानी बने। इस प्रस्ताव के समर्थक न के बराबर थे। इसलिए इस पर यहां विचार करना निरर्थक होगा।

बंबई के बारे में जो भी निर्णय किया जाए वह अभी किया जाए

23. इस प्रस्ताव के उस अंश पर मेरी कोई आपत्ति नहीं है, जिसमें यह कहा गया है कि भाषावार प्रांतों के पुनर्गठन का काम स्थगित कर दिया जाए, बशर्ते कि इस मुख्य प्रश्न का हल ढूंढ लिया जाए कि बंबई को महाराष्ट्र में सम्मिलित करना है या नहीं। यदि इस समस्या का समाधान हो जाता है तो फिर इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि इस समझौते को कार्यरूप में परिणत करने में पांच वर्ष लगेंगे या दस वर्ष। किंतु यह प्रस्ताव तो सरासर पलायनवादी सिद्ध होता है। इससे मसला हल नहीं होगा। यह तो विवाद को केवल टाल देने की बात कहता है। मेरा तो मत है कि इस मुख्य समस्या का समाधान अविलंब किया जाए।

बंबई को महाराष्ट्र से अलग रखने का आधार

24. बंबई को महाराष्ट्र से अलग रखने के पक्ष में इन तर्कों पर बल दिया जा रहा है:

(क) बंबई कभी महाराष्ट्र का अंग नहीं रहा।[1]

(ख) बंबई कभी मराठा साम्राज्य का अंग नहीं रहा।[2]

(ग) बंबई शहर की जनसंख्या में मराठी भाषियों का बहुमत नहीं है।[3]

(घ) गुजराती लोग बंबई के पुराने निवासी हैं।[4]

(ङ) बंबई ऐसा व्यापारिक केन्द्र है, जिसका संबंध महाराष्ट्र के बाहर एक बड़े भू-भाग से है इसलिए बंबई पर महाराष्ट्र का दावा ठीक नहीं है। बंबई तो सारे भारत का है।[5]

---

1. प्रो. घीवाला-*फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 6, 1948 और प्रो. मौरेस-*फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 18, 1948
2. वही.
3. प्रो. सी.एन. वकील, *फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 21, 1948
4. प्रो. घीवाला, *फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 6, 1948
5. प्रो. सी.एन वकील, *फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 11, 1948

(च) बंबई में रहने वाले गुजराती-भाषियों ने ही बंबई के व्यापार और उद्योग में बढ़ोतरी की है। मराठी-भाषी या महाराष्ट्र के निवासी तो केवल क्लर्की या कुलीगिरी करते हैं। व्यापार और उद्योग के मालिकों को अधिसंख्यक मेहनतकश मराठी-भाषियों के राजनीतिक प्रभुत्व के तले रखना अनुचित होगा।[6]

(छ) महाराष्ट्र बंबई को अपने में केवल इसलिए मिलाना चाहता है, ताकि वह बंबई की बेशी कमाई से अपना गुजर बसर कर सके।[7]

(ज) कोई भी बहुभाषी राज्य (एक भाषी राज्य की तुलना में) बेहतर होता है। बहुभाषी होना अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता को चोट पहुंचाने वाला नहीं माना जाएगा।[8]

(झ) प्रांतों का पुनर्गठन तार्किक आधार पर किया जाए न कि राष्ट्रीय आधार पर।[9]

सबूत का दायित्व

25. इन बिंदुओं की जांच से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिंदु (1) और (2) इस अर्थ में प्राथमिक हैं कि इनसे हमें यह तय करने में सहायता मिलती है कि सबूत का भार किनके कंधों पर है। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि बंबई महाराष्ट्र का हिस्सा है, तो फिर इसे महाराष्ट्र से अलग करने के लिए सबूत देने का दायित्व अलगाववादियों पर आ जाता है न कि उन पर, जो इसे महाराष्ट्र का हिस्सा मानने का दावा करते हैं। इसलिए मैं पहले इन्हीं दो बिंदुओं का विवेचन करूंगा।

बिंदु संख्या (1) और (2)

इतिहास का निर्णय (अधिमत)

26. इन दोनों बिंदुओं पर इतिहास और भूगोल, दोनों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जा सकता है। फिर भी मेरा दृढ़ निश्चय है कि इस मुद्दे का हल इतिहास की सहायता से नहीं निकाला जा सकता। पहली बात तो यह विचारणीय है कि निष्कर्ष निकालने हेतु आवश्यक आधार सामग्री का संग्रह करने के लिए हम कितना पीछे जाएं। नि:संदेह, अति पुरातन इतिहास तो इस मामले में हमारी मदद करने से रहा। हां, वर्तमान-काल के भूत से हमें इस बारे में अवश्य सहायता मिल सकती है। किंतु इस मुद्दे को प्रभावित करने वाला जो निष्कर्ष इस कालखंड के भरोसे निकाला जाएगा, उस पर भी लोग प्रश्न चिन्ह लगा सकते हैं। इतिहास सम्मत काल खंडों में जन-समुदायों के बीच जो संपर्क ज्ञात हैं, वे सब विजेताओं और विजितों के बीच के हैं। भारत और यूरोप, दोनों पर यह बात लागू होती है। किंतु इस प्रकार के संपर्को

---

6. प्रो. सी.एन. वकील, *बोंबे क्रोनिकल*
7. प्रो. सी.एन. वकील, इंडिया मर्चेंटस चेंबर की बैठक में
8. प्रो. दांतवाला, *फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 1, 1948
9. प्रो. घीवाला, *फ्री प्रेस जरनल*, सितंबर 11, 1948

के जो परिणाम निकले हैं, वे यूरोप और भारत में अलग-अलग प्रकार के रहे हैं। यूरोप में तो इस प्रकार के संपर्कों से परस्पर मेल न खाने वाले सामाजिक तत्वों के बीच समीकरण पैदा हुआ है। बार-बार के अंतर्वर्गीय विवाहों से मूल कुलों का उच्छेदन हो गया। एक भाषा विशेष ने, चाहे वह अत्यंत उपयोगी भाषा रही हो, चाहे सर्वाधिक बोली-समझी जाने वाली भाषा, उसने दूसरी भाषा को हटाकर उसकी जगह ले लेनी चाही। अगर एक ही देश में अनेक सभ्यताएं हैं और उनमें से कोई सभ्यता अन्यों से श्रेष्ठ है, तो उसने उन सबों को हटा कर स्वतः ही उनका स्थान ले लिया। समीकरण की यह सहज प्रवृत्ति, जो यूरोप मे दिखाई देती है, इतनी अधिक सबल है कि इसे प्रभावहीन करने के लिए कदम उठाने होंगे। भारत में कौन-सी प्रवृत्ति काम कर रही है? निश्चय ही यह ऐसे समीकरण के खिलाफ है। मुसलमानों ने हिंदुओं पर विजय पाई। किंतु मुसलमान मुसलमान ही रहे और हिंदू हिंदू ही। मराठों ने गुजरातियों को जीता और कुछ वर्षों तक उन पर राज भी किया। किंतु गुजरातियों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? कुछ भी नहीं। गुजराती गुजराती ही रहे और मराठे मराठे ही। चालुक्यों ने मराठों को जीता और इसी तरह शिलहरों ने भी उन पर विजय पाई। किंतु इन सभी के बीच समीकरण नहीं हो पाया। सभी वही बने रहे, जो वे पहले थे। जब स्थिति ऐसी रही है तो फिर भारत का इतिहास इस मामले में निर्णय तक पहुंचने में कैसे मदद कर सकता है? आंतरिक उथल-पुथल एवं बाह्य आक्रमणों का इतिहास कभी किसी दुःस्वप्न या गुजरी घटना से अधिक कुछ नहीं माना गया। यहां विजय अभियानों का कभी कोई अर्थ नहीं रहा और न इनसे कुछ भी सिद्ध हो सका।

भूगोल का निर्णय (अधिमत)

27. आइए, अब भूगोल का मुंह जोहें और उसका फैसला सुनें। भूगोल का साक्ष्य इतिहास के साक्ष्य से कहीं बेहतर लगता है। इसके लिए हमें बंबई की भौगोलिक अवस्थिति पर महाराष्ट्र प्रांत की अवस्थिति के प्रसंग में विचार करना पड़ेगा। महाराष्ट्र प्रांत के गठन के बाद वह आकार में त्रिकोण जैसा लगेगा। इस त्रिकोण की एक रूप रेखा भारत का पश्चिमी तट है, जो उत्तर में दमन से लेकर दक्षिण में कारवाड़ तक फैला हुआ है। बंबई शहर दमन और कारवाड़ की तटरेखा के बीच में स्थित है। गुजरात प्रांत दमन से शुरू होकर उसके उत्तर में फैला हुआ है, जबकि कन्नड़ प्रांत कारवाड़ से शुरू होता है और उससे दक्षिण की ओर फैलता जाता है। बंबई गुजरात के प्रारंभ बिंदु दमन से करीब 85 मील दक्षिण में है, तो कर्नाटक प्रांत के प्रारंभ बिंदु कारवाड़ से करीब 250 मील उत्तर में स्थित है। यदि दमन से कारवाड़ तक का अविच्छिन्न भू-भाग भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र का हिस्सा है, तो फिर बंबई को महाराष्ट्र का हिस्सा न मानना कहां तक उचित होगा? यह तो निर्विवाद रूप से प्राकृतिक तथ्य है, भूगोल ने ही बंबई को महाराष्ट्र का अंग बनाया है। जो लोग इस प्राकृतिक तथ्य को नकार कर उसे चुनौती देना चाहते हैं, वे चुनौती देते रहें। पूर्वाग्रहों से मुक्त बुद्धि वाले व्यक्ति तो

इस निर्णायक साक्ष्य को स्वीकार करेंगे और यह मान लेंगे कि बंबई महाराष्ट्र का हिस्सा है।

बंबई और मराठा साम्राज्य

28. यदि मराठों ने बंबई के भू-भाग को अपने साम्राज्य का हिस्सा बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया तो इससे भौगोलिक साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित निष्कर्षों की वैधता पर कोई आंच नहीं आती। यदि मराठों ने इसे जीतने की परवाह नहीं की तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि बंबई महाराष्ट्र का हिस्सा नहीं है। इससे तो केवल यही साबित होता है कि चूंकि मराठा शक्ति एक भू-शक्ति मात्र थी, इसलिए उसने एक बंदरगाह को जीतने में अपनी शक्ति का कभी दुरुपयोग नहीं किया।

29. बिंदु संख्या (1) और (2) के बारे में फैसला हो जाने के बाद अब साबित करने का भार उन लोगों पर आ गया है, जो इस बात के लिए संघर्षरत् हैं कि बंबई को महाराष्ट्र में नहीं मिलाया जाना चाहिए। क्या उन्होंने अपना यह कर्तव्य पूरा किया है? इसके बाद अब दूसरे बिंदुओं पर विचार की बारी आती है।

बिंदु संख्या (3)

मराठी भाषी जनता–बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक

30. इस मुद्दे पर मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। बंबई को महाराष्ट्र में मिलाने से संबंधित विषय पर बोलते हुए प्रो. गाडगिल इस तथ्य पर बल देते हैं कि बंबई की मराठी-भाषी जनसंख्या 1941 की जनगणना के अनुसार 51 प्रतिशत है। इस प्रस्ताव के विरोध में बोलते हुए प्रो. घीवाला बताते हैं कि यह केवल 41 प्रतिशत ही है। प्रो. वकील तो इसे और नीचे 39 प्रतिशत पर ले आते हैं। इस संख्या को भी वे बहुत ही उदारता पूर्ण प्राक्कलन मानते हैं। इन आंकड़ों की जांच कर लेने का मुझे अवसर नहीं मिला। मैं तो यह मानता हूं कि बंबई की जनगणना के आंकड़े ठीक-ठीक प्रतिशत तक पहुंचने में अधिक मदद नहीं करते जान पड़ते हैं। फिर भी प्रो. वकील ने अपनी मान्यता के पक्ष में जो कारण गिनाए हैं, उन्हें यदि कोई पढ़े तो उसे साफ पता चल जाएगा कि उनका यह निष्कर्ष यदि दिवा-स्वप्न नहीं तो कम-से-कम कल्पना की उड़ान तो अवश्य ही है। पर चलो, एक बार यह मान भी लें कि प्रो. वकील ने जो आंकड़े दिए हैं, वे सही हैं तो फिर इनका करें क्या? क्या इन्हें लेकर चाटें? इनसे क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? क्या इन्हें जान लेने मात्र से महाराष्ट्र का बंबई पर दावा समाप्त मान लिया जाए? जब से अंग्रेजों ने भारत की सत्ता संभाली है, भारत एक देश रहा है और प्रत्येक व्यक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की स्वतंत्रता रही है। यदि भारत के कोने-कोने से आकर लोगों को बंबई में बसने दिया गया तो इसका दुष्परिणाम महाराष्ट्रवासी क्यों भुगतें? इसमें उनकी गलती क्या है? इसलिए जनसंख्या की वर्तमान स्थिति को महाराष्ट्र में बंबई को न मिलने देने का आधार नहीं बनाया जा सकता।

बिंदु संख्या (4)

क्या गुजराती भाई बंबई के मूलवासी हैं?

31. इस प्रश्न की सभी बारीकियों पर हमें विचार कर लेना चाहिए। क्या गुजराती भाई बंबई के मूल निवासी हैं? यदि वे मूल निवासी नहीं हैं तो फिर वे बंबई में कैसे आए? उनकी संपत्ति का स्रोत क्या है? कोई गुजराती इस बात का दावा नहीं करेगा कि गुजराती लोग बंबई के मूल निवासी हैं। यदि वे यहां के मूल निवासी नहीं हैं तो फिर बंबई में आए कैसे? ठीक पुर्तगालियों, फ्रांसिसीयों, डचों और अंग्रेजों की तरह ही साहस दिखाते और जोखिम उठाते हुए उन्होंने रास्ता तय किया और वे यहां घुस आए। वे हर प्रकार का खतरा उठाने को तैयार थे। इतिहास इन प्रश्नों के जो उत्तर देता है, वे पूरी तरह स्पष्ट हैं। गुजराती भाई स्वेच्छा से बंबई नहीं आए थे। उन्हें तो ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर आढ़तिया बनाकर यहां लाए थे। वे यहां लाए गए, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसरों ने अपनी पहली फैक्टरी सूरत में लगाई थी और अपना व्यापार चलाने के लिए उन्हें आढ़तियों के रूप में सूरतिया बनियों का अच्छा अनुभव हो गया था। तो गुजरातियों के बंबई-प्रवेश की कहानी की यहां से शुरुआत हुई। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि गुजराती लोग अन्य व्यापारियों के साथ खुली और समान स्तर की प्रतियोगिता के आधार पर व्यापार करने के लिए बंबई नहीं आए थे। वे तो केवल उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों के रूप में यहां आए थे, जिन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से व्यापार करने के लिए कुछ विशेषाधिकार मिले हुए थे। उन्हें बंबई लाने के प्रस्ताव पर पहली बार सन् 1671 में सूबेदार (गवर्नर) अंगियर ने विचार किया था। यह तथ्य 'गजेटियर आफ बोंबे टाउन एंड आईलैंड', खंड I में इस तरह वर्णित है : *

> बंबई के लाभ के लिए एक और योजना, जिसमें गवर्नर अंगियर ने खुद रुचि दिखाई है, यह है कि सूरत के बनियों को लाकर बंबई में बसाया जाए। लगता है कि महाजनों ने, अर्थात् सूरत के बनियों बिरादरी वालों ने बंबई आने के खतरों को ध्यान में रखते हुए कुछ विशेषाधिकार पाने का आश्वासन मांगा हो। कंपनी सरकार ने महाजनों के इस प्रस्ताव पर अपनी आम सहमति दे दी हो। 10 जनवरी को सूरत कांउसिल ने कंपनी को लिखा, ''महाजन या बनियों की मुख्य काउंसिल आपके उस कृपापूर्वक उत्तर से बहुत संतुष्ट लगी, जिसे आपने सेम्सन जहाज से भेजी गई उनकी याचिका के उत्तर में भेजा था। इस याचिका में बंबई आने से संबंधित विशेषाधिकारों की मांगों का उल्लेख था। ऐसा लगता है कि वे फिर एक बार आपको तकलीफ देना चाहते हैं, क्योंकि उन्होंने आपके आढ़तिए भीमजी पारेख से आपको पत्र लिखवाया है, जिसमें उन्होंने अपनी यह इच्छा व्यक्त की है कि आपके हस्ताक्षरों और मोहर लगाकर उन्हें ये विशेषाधिकार प्रदान किए जाएं। इन विशेषाधिकारों को पाने के लिए उन्होंने अपने पत्र में कारण भी दिए

* बोंबे गजेटियर, जिल्द I पृ. 46-47

हैं। उनका यह पत्र आपकी अन्य डाक के साथ फाल्कन नामक जहाज से भेजा जा रहा है। उनके इस प्रकार के अनुरोध की पुष्टि के लिए उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उनमें थोड़ा वजन है। उनका कहना है कि मान्य कंपनी तो कालातीत है और उसके अध्यादेशों में बल भी होता है, किंतु कंपनी के प्रधान और परिषद के सदस्य तो बदलते रहते हैं और ऐसा देखा गया है कि उत्तरवर्ती प्रधान और सदस्य अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं को बदल देते हैं, इसलिए उन्होंने आपकी सेवा में यह याचिका दी है और चाहते हैं कि आप उसे स्वीकृति प्रदान करने की कृपा करें। इस याचिका पर हमारी सादर सम्मति यह है कि इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे आपको किसी तरह का नुकसान पहुंचने की गुंजाइश हो, उल्टे इसे मान लेने पर पर्याप्त लाभ होने की संभावना नजर आती है। इसलिए गुजारिश है कि आप जैसा उचित समझें, उन्हें सुविधाएं देने की अनुकंपा करें। आशा है, आप इस याचिका का समुचित उत्तर शीघ्र देने की कृपा करेंगे। इससे उनको शांति मिलेगी और आपके हितों को भी कोई नुकसान नहीं पहुंचेगा।

32. वे विशेषाधिकार क्या थे, जो उन गुजराती बनियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी से मांगे थे? दीव शहर के नीमा पारेख नाम के किसी प्रसिद्ध बनिए की निम्नलिखित याचिका से उनका कुछ स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। *

क. माननीय कंपनी से अनुरोध है कि वह उसे घर बनाने या भंडार घर खोलने के लिए इस कस्बे में या इसके आसपास बिना किराए के अपने विवेक के अनुसार जमीन आवंटित करने की कृपा करें।

ख. उसे और ब्राह्मणों (गौड़ों या पुरोहितों) को उनकी जाति के अन्य लोगों के साथ यह सुविधा प्रदान की जाती है कि वे अपने-अपने घरों में अपने धर्म के अनुसार बिना किसी बाधा के आचरण कर सकेंगे। अन्य किसी भी व्यक्ति को उनसे छेड़छाड़ करने की छूट नहीं दी जाएगी। किसी भी अंग्रेज, पुर्तगाली या किसी भी ईसाई अथवा मुसलमान को उनके परिसर में बसने की अथवा वहां किसी जीवित प्राणी का वध करने की या उन्हें किसी प्रकार की चोट पहुंचाने की या उनका अपमान करने की अनुमति नहीं होगी। और यदि कोई उनके परिसर में ऐसा करते पाया गया और सूरत के गवर्नर को या बंबई के डिप्टी गवर्नर को तत्संबंधी शिकायत मिली तो अभियुक्तों को कड़ी से कड़ी सजा दी जाएगी। उन्हें अपने रीति-रिवाजों के अनुसार मृतक का शव-दाह करने की छूट होगी, शादी-ब्याह के मौके पर सभी रस्में पूरी करने दी जाएंगी, तथा किसी भी उम्र के व्यक्ति को या स्त्री-पुरुष में से किसी को किसी भी शर्त पर जबरन ईसाई धर्म अपनाने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकेगा और न ही उनकी मर्जी के खिलाफ बोझा ढोने को बाध्य किया जाएगा।

* बोंबे गजेटियर, खंड I पृ. 74-76.

ग. उसे और उसके परिवार को निगरानी और रखवाली से संबंधित सभी प्रकार के कर्तव्यों से मुक्त रखा जाएगा, न तो कंपनी और न ही गवर्नर, डिप्टी गवर्नर या परिषद या और कोई व्यक्ति किसी भी बहाने उसे निजी या सार्वजनिक कार्यों के लिए रुपया उधार देने को बाध्य नहीं कर सकेगा।

घ. यदि उसके या उसके वकील या मुख्तार या उसकी जाति के बनियों और उस द्वीप में रहने वाले किसी अन्य व्यक्ति के बीच किसी प्रकार का मतभेद या कानूनी तौर पर कोई मुकदमा उठ खड़ा हो, तो गवर्नर या डिप्टी गवर्नर उसे या उनको सार्वजनिक तौर पर गिरफ्तार करने, अपमानित करने या जेल भिजवा कर ठेस नहीं पहुंचाएगा। ऐसा करने से पहले उसे कारण बताते हुए उचित नोटिस देना होगा और उसके या उनके साथ ईमानदारी और सदाशयतापूर्वक न्याय करने का आश्वासन देना होगा। यदि उसके या उसके मुख्तार और उसकी जाति के किसी भी बनिए के बीच कोई विवाद उठ खड़ा होता है तो उन्हें इस बात की स्वतंत्रता होगी कि कानून की शरण में गए बिना ही वे परस्पर मिलकर उस मामले को निपटा लें।

ङ उसे अपने जहाजों या जलयानों में व्यापार करने की स्वतंत्रता होगी, वह अपनी पसंद के किसी भी पत्तन पर जब चाहे आ-जा सकेगा। इसके लिए यदि वह गवर्नर या डिप्टी गवर्नर या सौदागर को पूर्व-नोटिस दे देता है और उसके लिए उनकी सहमति मिल जाती है, तब उसे लंगर-भाड़ा नहीं चुकाना पड़ेगा।

च. यदि वह ऐसा कोई माल अधिक मात्रा में तट पर लाता है, जिसे वह एक साल की अवधि में उस द्वीप पर न बेच सके, तो उसे उस सामान को बिना कस्टम चुकाए ही उसके मनपसंद पत्तन तक ले जाने की छूट होगी।

छ. यदि कोई व्यक्ति उससे ऋण ले और अन्य बनियों से भी ले-ले और किसी कारण से सारा उधार चुकाने की स्थिति में न हो, तो अन्य बनियों की तुलना में ऋण उगाहने के उसके अधिकार को तरजीह दी जाएगी।

ज. यदि युद्ध छिड़ जाए या कोई अन्य प्रकार की विपत्ति आ जाए जिससे उसको नुकसान पहुंचने की संभावना हो तो ऐसी स्थिति में वह अपने गोदाम, संपत्ति और परिवार किले में सुरक्षित रख सकेगा।

झ. उसे या उसके परिवार के किसी सदस्य को किले में या गवर्नर या डिप्टी गवर्नर के आवास में आने-जाने की छूट होगी, उनका नागरिक तौर-तरीकों से स्वागत-सत्कार किया जाएगा, उनकी हैसियत के अनुसार उन्हें बैठने दिया जाएगा, उन्हें बिना किसी प्रकार की बाधा पहुंचाए मन-मर्जी के अनुसार बग्घियों, घोड़ों या पालकियों और छतरियों का उपयोग करने दिया जाएगा, उनके नौकर-चाकर और रक्षक तलवार या कटारें धारण कर सकेंगे, उनके साथ गाली-गलौज नहीं की जाएगी, न मारा-पीटा जाएगा और जब तक कोई अपराध न करें, उन्हें जेल नहीं भेजा जा सकेगा। यदि उनके

बाल-बच्चे या दोस्त किसी दूसरे पत्तन से आएं तो उनके साथ भद्रता और आदरपूर्ण व्यवहार किया जाएगा।

ञ. उसे और उसके कानूनी प्रतिनिधि को नारियल, सुपारी, पान और अन्य कोई भी वस्तु खरीदने और बेचने की छूट होगी।

33. नीमा पारेख की याचिका को किस तरह निपटाया गया, इसे जानने के लिए बंबई के डिप्टी गवर्नर के दिनांक 3 अप्रैल 1677 के उत्तर को देखा जा सकता है, जिसकी पंक्तियां इस तरह थी:

''आदेशानुसार हमने नीमा पारेख बनिए की याचिका में उल्लिखित मांगों पर विचार किया। यदि हम उन्हें ठीक से समझ पाए हैं तो हमें उन छूटों में किसी प्रकार के पूर्वाग्रह की आशंका नजर नहीं आती। इन छूटों का उपभोग तो छोटे से छोटा व्यक्ति भी कर रहा है।

''पहली मांग को मानना सरल है, क्योंकि कंपनी के पास काफी जमीन खाली पड़ी है। जो बनिए या अन्य लोग यहां बसने को आते हैं, हम उन्हें रोज ही खाली जमीन देते रहते हैं। जहां तक दूसरी मांग का संबंध है, प्रत्येक व्यक्ति को उसके धार्मिक कृत्यों को पूरा करने की छूट मिली हुई है। उन्हें शादी-विवाह की रस्में मनाने और भोज देने की अनुमति है ही। बनिए तो मृतकों के शवों को जलाते ही हैं, उनमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आने दी जाती। हमने बनियों के घरों के पास किसी को न तो जीव-हत्या की अनुमति दी हुई है और न ही कोई व्यक्ति किसी के घर या परिसर में बिना उसके मालिक की इजाजत के घुस ही सकता है, लोगों को उनकी इच्छा के विपरीत ईसाई बनाने के लिए बाध्य करने का तो कोई सवाल ही नहीं है, क्योंकि सारी दुनिया इसके औचित्य का प्रतिपादन करती है, न ही व्यक्ति को उसकी इच्छा के बिना कोई कार्य करने को बाध्य होना पड़ता है। कोई भी बनिया, ब्राह्मण, मूर या ऐसा कोई अन्य व्यक्ति निगरानी रखने और रखवाली करने का काम करने को बाध्य नहीं है। . . . इसलिए नीमा की इस मांग को माना जा सकता है।

''चौथे अनुच्छेद वाली मांग वस्तुतः एक विशेषाधिकार है, किंतु वह किसी हिंदू, ईसाई या किसी अन्य व्यक्ति को पहले से ही मिले अधिकार से अधिक की अपेक्षा नहीं करती। इसेकानून और न्याय के हाथों से छूट मांगना भी नहीं कहा जा सकता। इसमें तो बस इतनी भर मांग की गई है कि जो न्याय मिले, वह आदरपूर्वक मिलना चाहिए। इसके बारे में उसके मन में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहना चाहिए। जहां तक उनके परस्पर मतभेदों को सुलझाने की बात है, महामना ने उनको ऐसा कर सकने का अधिकार पहले से ही दे रखा है।

''जहां तक पांचवीं मांग का सवाल है, प्रति टन एक रुपये का लंगर-शुल्क अब पूरी तरह उठा लिया गया है। अब सौ टन के लिए एक रुपये का नाममात्र का शुल्क लिया जाता है, जो इतना महत्वहीन है कि हम इसके लिए अड़े रहें-यह आवश्यक नहीं है। यदि वह हठ करता है तो इसका असर तो पड़ेगा ही। पर यह मामला इतना तुच्छ है और इसका संबंध

केवल उसके जलयानों तक ही सीमित है, इसलिए इसे भी आसानी से माना जा सकता है।

''यदि हम ठीक से समझ पाए हैं तो छठी सुविधा तो अन्य सभी लोगों को उपलब्ध है, उससे अधिक कुछ नहीं है। . . . यदि वह चाहता है कि जो सामान वह बेच नहीं पाए, उसका लदान करते समय या उसे उतारते समय उसके लिए उसे कस्टम न चुकाना पड़े तो ऐसा करने से कंपनी को भारी नुकसान उठाना पड़ेगा, क्योंकि उन्होंने दो वर्षों के लिए कस्टम ड्यूटी से होने वाली आय का हिसाब किताब बना लिया है। हमारा विश्वास है कि उसके यहां बस जाने से होने वाला लाभ भी उस समय तक नुकसान की भरपाई नहीं कर पाएगा, जब तक कि कस्टम फिर से कंपनी के हाथों में ना आ जाए।

''सातवीं मांग के बारे में यह कहा जा सकता है कि हमने कानून बना ही रखा है कि अगर कोई व्यक्ति एकाधिक लोगों का ऋणी हो तो जिस भी ऋणदाता के पक्ष में न्यायालय पहले फैसला सुनाएगा, उसी को पहले पूरे ऋण का भुगतान होगा। ऐसी स्थिति में न तो किसी व्यक्ति को यह मानना चाहिए कि उसके साथ अन्याय हुआ है और न ही कोई ऋणदाता एक बार भुगतान हो जाने के संबंध में दावा करेगा, क्योंकि जब फैसला सुनाया जा चुका है, तब यह माना जाएगा कि कानूनी तौर से पूरा भुगतान किया जा चुका है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति दो व्यक्तियों का ऋणी हो और पहला व्यक्ति उसके खिलाफ मुकदमा दायर करता है और उसके बाद दूसरा व्यक्ति भी उसके खिलाफ मुकदमा दायर करता है, तब ऐसी स्थिति में किस कानून के अंतर्गत कर्जदार की संपत्ति को दूसरे ऋणदाता को दे सकते हैं। इसलिए उसे आश्वस्त किया जा सकता है कि हमारे कानून के अनुसार तेजी से उसके साथ न्याय किया जाएगा और यदि कर्जदार समर्थ है तो उसे पूरे ऋण का भुगतान करने को बाध्य किया जा सकता है और यदि वह पूरे ऋण का भुगतान न करेगा तो बकाया ऋण के एवज में उसे हवालात में रखा जा सकता है, जब तक कि महामना उसे छोड़ने की इजाजत न दें। ऐसी स्थिति आने पर हम यह मानते हैं कि उसे इससे संतोष हो जाएगा।

''जहां तक आठवीं मांग का संबंध है, लड़ाई छिड़ जाने की स्थिति में धनी व्यक्ति को किले में जाने और अपनी संपत्ति व महत्व की चीजों को सुरक्षित रखने की स्वतंत्रता है। मैं नहीं समझता कि वह धन, जवाहरात, महंगे कपड़े, घर में काम आने वाला सामान और मूल्यवान कपड़े जो कि कम जगह में रखे जा सकते हैं, के बजाए घटिया सामान से अपने किले को भर देगा। वह किले मेंअपनी पंसंद की चीजें ला सकेगा और उसे व उसके परिवार के लिए अलग से एक गोदाम की भी व्यवस्था होगी।

''नवीं और दसवीं मांग को हम एक साथ ले सकते हैं। केवल संख्या बढ़ाने के लिए ही याचिका में उन्हें अलग-अलग रखा गया है। ऐसा केवल यह दिखाने भर के लिए किया गया है कि वे कैसा जीवन जी रहे हैं, जब उन्हें यह भान होगा कि ऐसा उन्होंने हमारी सरकार की परीक्षा लेने भर के लिए किया है तो वे यह सोचकर हम पर हंसेंगे कि उन्होंने जितनी

मांग की है, उससे कहीं अधिक स्वतंत्रता का तो वे पहले से ही उपभोग कर रहे हैं। क्योंकि उचित नोटिस देने पर तो प्रवेश या विकास की सुविधा छोटे से छोटे व्यक्ति को भी उपलब्ध है। जहां तक घोड़े रखने या बग्घी में सवार होने या ऐसा कोई अन्य सवाल है, उसे मन पसंद संख्या में उन्हें पालने या रखने की छूट दी जा सकती है और उसके सेवकों को भी मनपसंद हथियार धारण करने की अनुमति दी जा सकती है। यह छूट तो सभी को दी जा सकती है। कुछ भी खरीदने या बेचने की पूरी स्वतंत्रता तो हमने दे ही रखी है, क्योंकि हम जानते हैं कि यही तो व्यापार की कुंजी है।

''अंत में उसने मांग की है कि उसे बिना किसी शुल्क के दस मन तंबाकू रखने का अधिकार दिया जाए। यह सबसे भारी मांग है, जिससे सहमत होना सबसे कठिन काम लगता है। इसका कारण यह है कि इसे मान लेने पर अन्य अनेक किसान भी इस प्रकार की छूट प्राप्त करने की मांग करेंगे, क्योंकि दस मन तंबाकू बेचने से उन्हें भारी नफा होने की संभावना है। इसलिए इस प्रार्थना को कैसे स्वीकार किया जाए, इसके बारे में हमारा ज्ञान सीमित है। मान्यवर आप ही इस बारे में हमसे अधिक अच्छा निर्णय ले सकते हैं।''[12]

34. उत्तर में सूरत परिषद ने 26 जून को लिखा :[13] ''नीमा पारेख बनिए ने बंबई द्वीप में बसने के लिए अपनी याचिका में जो मांगे रखी हैं, उनके बारे में आपका उत्तर देखा। जब हम फिर से उस के संदर्भ में विचार करते हैं तो हमें लगता है कि मामले को इस तरह सुलझाने के लिए कि द्वीप में बिना किसी पूर्वाग्रह के वह आकर बसे हमें चाहिए कि हम उसकी इस मांग को मान लें कि उसे बिना शुल्क के प्रति वर्ष दस मन तंबाकू द्वीप में लाने दिया जाएगा।''

बिंदु संख्या (5)

बंबई पूरे भारत का व्यापार केन्द्र

35. इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिए कि बंबई सारे भारत का व्यापार केन्द्र है। किंतु इस तर्क को कैसे स्वीकार किया जाए कि केवल इसी बात के आधार पर यह कहा जाने लगे कि महाराष्ट्र बंबई पर अपना दावा नहीं कर सकता। हर पत्तन, जिस देश या प्रदेश में वह स्थित है, उसके आसपास के ही नहीं दूर-दूर के इलाकों को भी सेवा करता है। इस आधार पर कोई यह नहीं कह सकता है कि जिस देश में वह पत्तन स्थित है, वह देश उस पत्तन को अपना इलाका नहीं मान सकता। स्विटजरलैंड में कोई पत्तन नहीं है। वह या जो जर्मनी, इटली के या फ्रांस के पत्तनों का उपयोग करता है, क्या इसीलिए स्विटजरलैंड उन पत्तनों पर जर्मनी, इटली, या फ्रांस के भौगोलिक अथवा प्रादेशिक अधिकार को मानने से

12. नीमा पारेख ने यह नई मांग रखी है।

13. बोंबे गजेटियर, खंड I, पृ. 77

इंकार कर सकता है? तो फिर बंबई पर महाराष्ट्र का दावा केवल इसीलिए क्यों स्वीकार नहीं किया जाए कि महाराष्ट्र के अतिरिक्त अन्य प्रांत भी उसका उपयोग करते हैं? हां, वह स्थिति दूसरी होगी, जब महाराष्ट्र को यह अधिकार मिल जाए कि वह इस पत्तन को गैर-महाराष्ट्रीयों के लिए बंद कर दे। संविधान के अनुसार, उसे इस बात का अधिकार नहीं होगा। परिणामत: बंबई के महाराष्ट्र में मिल जाने पर भी गैर-महाराष्ट्रवासियों के लिए इस पत्तन को पहले की ही तरह उपयोग करते रहने के अधिकार में किसी तरह का अंतर नहीं आएगा।

बिंदु संख्या (6)

गुजराती—बंबई के व्यापार और उद्योग के मालिक

36. यह तथ्य स्वीकार्य है कि गुजरातियों का व्यापार पर एकाधिकार है। पर, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह भी सही है कि उनका यह एकाधिकार केवल इसलिए संभव हुआ है, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी ने उन्हें बंबई में बसाने के लिए कुछ विशेषाधिकार दिए थे और उन विशेषाधिकारों के फलस्वरूप ही उन्होंने बहुत लाभ कमाया। बंबई में व्यापार और उद्योग किसने खड़े किए और करवाए, यह विषय ऐसा है, जिसके लिए अधिक अनुसंधान की आवश्यकता नहीं है। गुजरातियों ने ही बंबई में व्यापार शुरू किया और उद्योग लगाए। इस कथन का वस्तुत: कोई आधार नहीं है। व्यापार और उद्योग धंधा तो यूरोपवासियों ने शुरू किया, न कि गुजरातियों ने। फिर भी जो लोग बार-बार यही रट लगाते रहते हैं, उन्हें अपना दावा दोहराने से पहले एक बार 'द टाइम्स आफ इंडिया डाइरेक्टरी' देख लेनी चाहिए। गुजरातियों ने तो केवल सौदागरों का काम किया है। सौदागर होने में और उद्योगपति होने में बड़ा फर्क है।

37. जब एक बार यह तय हो गया कि बंबई महाराष्ट्र का ही हिस्सा है तो फिर बंबई को महाराष्ट्र प्रांत में मिलाने के दावे को इस दलील से खारिज नहीं किया जा सकता कि बंबई के व्यापार और उद्योगों के मालिक गुजराती हैं। मान लो, कोई व्यक्ति अपनी जमीन किसी के पास गिरवी रखे और वह ऋणदाता उस जमीन पर किसी प्रकार का टिकाऊ ढांचा खड़ा कर ले तो केवल इस आधार पर उस ऋणी व्यक्ति का उस जमीन पर दावा हट नहीं जाता। मान लो, गुजरातियों ने ही बंबई में व्यापार और उद्योग लगाए तब भी क्या बंबई पर उनके दावे को जमीन गिरवी रखने वाले की तुलना में स्वीकार किया जा सकता है?

38. बंबई को महाराष्ट्र में मिलाया जाना चाहिए या नहीं — इस समस्या को हल करते समय मेरी समझ में बंबई में किसने व्यापार और उद्योग स्थापित किए, यह प्रश्न उठाना बेमानी होगा। व्यापार और उद्योग पर एकाधिकार के सवाल पर आधारित यह तर्क वास्तव में एक राजनीतिक दलील भर है। इसका मतलब तो यह हुआ कि मालिकों को मजदूरों पर हुकूमत करने का हक है, न कि मजदूरों को मालिकों पर। जो लोग इस तरह की दलील देते हैं, वे

शायद यह नहीं जानते कि वे किसकी मुखालफत कर रहे हैं। क्या वे इस दलील को केवल बंबई तक ही सीमित रखना चाहते हैं या यह भी चाहते हैं कि उनका यही तर्क और जगह भी लागू हो?

39. ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता, जिसकी वजह से यह कहा जा सके कि इस तर्क को अन्यत्र सार्वभौमिक तर्क के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस तरह बंबई शहर का समाज मालिकों और मजदूरों के रूप में या पूंजीपतियों और वेतनभोगियों के रूप में बंटा हुआ है, वही स्थिति गुजरात में या कहें भारत के सभी प्रांतों में पाई जाती है। यदि बंबई के मालिकों और पूंजीपतियों को केवल इस तर्क पर संरक्षण मिलता है कि महाराष्ट्रवासी तो मजदूर वर्ग में आते हैं इसलिए बंबई को महाराष्ट्र में न मिलने दिया जाए, तो फिर ये तर्कदाता गुजरात के मजदूर वर्ग से गुजरात के ही पूंजीपतियों को बचाने के लिए कौन-सा रास्ता सुझाएंगे। वकील और दांतवाला जैसे गुजराती प्रोफेसर लोग बंबई के गुजराती पूंजीपतियों के समर्थन में सिर खुजला-खुजलाकर जो दलीलें खोज रहे हैं, क्या उन्होंने कभी यह सोचने का भी कष्ट किया है कि गुजरात में ही वहां के मेहनतकश वर्ग से गुजराती पूंजीपतियों को किन तौर-तरीकों से बचाया जाए? क्या वे यह सुझाव देना चाहेंगे कि वयस्क मताधिकार की पद्धति को समाप्त कर दिया जाए? यदि वे मुख्यत: बंबई के ही गुजराती पूंजीपतियों को बचाना न चाह कर सामान्यत: सभी पूंजीपतियों को बचाना ही चाहते हैं, तब तो केवल यही एक रास्ता है।

40. हां, एक तर्क ऐसा है, जिस पर ये प्रोफेसर लोग जोर दे सकते हैं। वह यह है कि जब बंबई महाराष्ट्र में सम्मिलित हो जाए तो बहुसंख्यक महाराष्ट्रवासी बंबई के इन गुजराती पूंजीपतियों से भेदभाव बरतेंगे। इस प्रकार के तर्क के पीछे छिपी हुई भावना को समझा जा सकता है। किंतु इस तर्क को आगे करने वालों को दो बातें याद रखनी चाहिएं :

(क) महाराष्ट्र ही केवल ऐसा स्थान नहीं है, जहां इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति तो कहीं भी उठ-खड़ी हो सकती है। मैं बिहार का उद्धरण देना चाहता हूं। बिहार में कोयला पाया जाता है। कोयला मिलने वाली जमीनें बिहार की हैं। किंतु कोयले की खानों के मालिक गुजराती, काठियावाड़ी और यूरोपवासी हैं। क्या इस बात की संभावना नजर नहीं आती कि बिहारवासी इन गुजराती और काठियावाड़ी कोयला मालिकों से भी भेदभाव बरतेंगे? क्या कोयला पाए जाने वाले इन इलाकों को बिहार प्रांत से अलग करके काठियावाड़ी और गुजराती कोयला मालिकों के हित में इनका एक अलग प्रांत बनाया जा सकता है?

(ख) भारत का संविधान बनाते समय इस संभावना को ध्यान में रखा गया है कि कहीं भी अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभाव पनप सकता है और इसलिए उसमें ऐसा न होने देने के लिए पर्याप्त प्रावधान किया गया है। मूल अधिकार दिए गए हैं, भेदभाव मिटाने के

और क्षतिपूर्ति के प्रावधान हैं। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय तो हैं ही। जिनमें ये अधिकार अंतर्निहित हैं कि यदि किसी नागरिक को कोई व्यक्ति या सरकार किसी प्रकार की हानि पहुंचाए, उसके प्रति अन्याय करे या उसे परेशान करे तो उनके खिलाफ याचिका दर्ज कराने पर उन्हें ऐसा करने से रोका या दंडित किया जा सकता है। भेदभाव की आशंका के खिलाफ बंबई के व्यापारी और उद्योगपति और क्या बचाव के साधन पाना चाहते हैं?

बिंदु संख्या (7)

बंबई की अतिरिक्त आय पर महाराष्ट्र की दृष्टि

41. महाराष्ट्रवासियों की दृष्टि बंबई की अतिरिक्त आय पर है — यह आरोप लगाने से पहले यह तो सिद्ध हो जाना चाहिए कि बंबई अतिरिक्त आय वाला शहर है। बेशी आमद की जो बात उठी है, वह वास्तव में लेखे-जोखे की गड़बड़ी का नतीजा है। लेखे-जोखे में गड़बड़ी तब मानी जाएगी जब (1) गवर्नर और उसके अमले, (2) मंत्रियों और उनके अमलों, (3) धारासभा, (4) न्यायपालिका, (5) पुलिस, और (6) पुलिस कमिश्नरों और शिक्षा निदेशकों जैसे प्रांतीय अमलों पर होने वाले सभी प्रकार के खर्चों को लेखांकन में सम्मिलित न किया जाए। यदि इन मदों पर होने वाले व्यय को भी जोड़ा जाए तो मुझे नहीं लगता कि कराधान की वर्तमान दरों के आधार पर बंबई को अतिरिक्त आय वाला शहर करार दिया जा सकता है। इसे तर्काभास ही माना जाएगा कि बंबई के लिए इन मदों पर होने वाले खर्च को तो महाराष्ट्र के नाम चढ़ाया जाता है और बंबई को इनसे मुक्त रखते हुए यह घोषित किया जाता है और तर्क दिया जाता है कि बंबई की आय उस पर होने वाले व्यय से अधिक है।

42. महाराष्ट्रीय बंबई को महाराष्ट्र में इसलिए मिलाना चाहते हैं, क्योंकि वे बंबई के अतिरिक्त राजस्व को अपने उपयोग में लाना चाहते हैं — यह कथन न केवल गलत है, वरन् महाराष्ट्रवासियों की नीयत पर भी शक पैदा करने वाला है। क्या वास्तव में उनकी नीयत खराब है? इसका उत्तर मेरे पास नहीं है, किंतु मैं इतना जरूर जानता हूं कि उनका समाज व्यवसायी मनोवृत्ति वाला नहीं है। कुछ अन्य समुदायों की तरह वे पैसे क़ो दांत से नहीं पकड़ते। मैं उन लोगों में से एक हूं, जो यह मानते हैं कि यही सबसे बड़ा गुण भी है। उन्होंने रुपये-पैसे को कभी देवता की तरह नहीं पूजा। ऐसा करना उनकी संस्कृति का हिस्सा नहीं है। इसलिए तो उनके प्रांत में बाहर वाले समुदाय आते गए और वहां के व्यापार और उद्योग के मालिक बन बैठे। मैं यह बात साबित कर चुका हूं कि बंबई वास्तव में अतिरिक्त आय वाला शहर नहीं है और न ही उनकी दृष्टि इस अतिरिक्त आय पर गड़ी हुई है।

43. किंतु मान लो, महाराष्ट्रवासियों की नीयत यही है, तो भी इसमें दोष कहां है? बंबई की अतिरिक्त आय पर अन्य प्रांतों के लोगों की अपेक्षा उनका दावा अधिक कारगर है, क्योंकि

वहां के व्यापार और उद्योगों की उन्नति के लिए मजदूरों की पूर्ति करने में उनका योगदान सर्वाधिक रहा है और भविष्य में भी रहेगा। कोई भी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इस बात को नकार नहीं सकता कि पूंजी लगाने वालों का उत्पादित संपत्ति पर जितना अधिकार होता है, उससे अधिक नहीं तो कम से कम बराबर का अधिकार तो मजदूर वर्ग का भी होता ही है।

44. दूसरी बात यह है कि बंबई की अतिरिक्त आय का उपभोग केवल महाराष्ट्रवासी ही नहीं करते, पूरा भारत करता है। आयकर, अधिकर आदि के रूप में बंबई से जो आमदनी केन्द्र सरकार को होती है, वह सब केन्द्र सरकार द्वारा अखिल भारतीय कार्यों के लिए खर्च की जाती है। और इस तरह अन्य सभी प्रांत उससे लाभ उठाते हैं। यदि बंबई की अतिरिक्त आय को संयुक्त प्रांत वाले, बिहार वाले, असम वाले, उड़ीसा वाले, पश्चिम बंगाल वाले, पूर्वी पंजाब वाले और मद्रास वाले हजम कर जाते हैं तो प्रो. वकील के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। बस उन्हें आपत्ति है तो केवल इस बात से कि उसका कुछ हिस्सा महाराष्ट्रवासियों को क्यों मिले। तब वे शोर मचाने लगते हैं। इसे तर्कपूर्ण नहीं माना जा सकता। इससे तो केवल उनकी महाराष्ट्रवासियों के प्रति घृणा ही झलकती है।

45. मान लो, बंबई का एक अलग प्रांत बन जाता है। तब भी मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि प्रो. वकील बंबई की अतिरिक्त आय में महाराष्ट्र की हिस्सेदारी को कैसे रोक पाएंगे। यदि बंबई से आयकर, अधिकर आदि के रूप में आमदनी होगी और ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से बंबई से प्राप्त राजस्व का कुछ हिस्सा महाराष्ट्र को अवश्य मिलेगा। मैं ऊपर बता ही चुका हूं कि प्रो. वकील के तर्क में सार कम है, दुर्भावना या ईर्ष्याभाव अधिक।

बिंदु संख्या (8) और (9)

बंबई को महाराष्ट्र में सम्मिलित करने के प्रस्ताव के विपक्ष में दी जाने वाली आम दलीलें

46. अब मैं उन दलीलों का विवेचन करूंगा, जिन पर प्रो. दांतवाला और प्रो. घीवाला जोर देते रहे हैं। उनके तर्क-वितर्क तो भाषावार प्रांतों के निर्माण के सिद्धांत के मूल पर ही कुठाराघात करने वाले हैं। इसी वजह से मुझे इस ज्ञापन के भाग I में ही उन पर विचार करना चाहिए था। पर चूंकि उनके तर्कों का लक्ष्य बंबई को महाराष्ट्र में सम्मिलित न करने देना है इसलिए मैंने भी यह उचित समझा कि ज्ञापन के इसी भाग में उन पर विचार किया जाए।

47. दोनों प्रोफेसरों के तर्कों का सार यह है कि भाषावार प्रांतों का गठन ठीक नहीं है। भाषावार प्रांतों के गठन के खिलाफ यह जो आवाज उठी है, उसे उठाने में बहुत देर कर दी गई। दोनों प्रोफेसर कब से इसके खिलाफ हैं, यह पता नहीं चल पाया है। क्या वे भाषा

के आधार पर गुजरात के पुनर्गठन के भी विरुद्ध हैं - इसे भी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। कहीं ऐसा तो नहीं कि भाषावार प्रांतों के गठन के सिद्धांत को तो वे मान्यता देते हैं, किन्तु जब उन्होंने देखा कि इसे मान लेने पर बंबई से हाथ धोना पड़ सकता है, क्योंकि इस सिद्धांत के आधार पर ही तो बंबई महाराष्ट्र में लिया जाएगा, तो अचानक वे बौखला उठे और इसका विरोध करने लगे। शायद यह एक ऐसा मामला है, जिसमें कोई व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने तर्कों को उपयुक्त न पाकर किसी ऐसे तर्क का सहारा लेने को बाध्य हो जाता है, जो उसी बात को अधिक सही तौर पर प्रमाणित कर देता है, जिसे वह छोड़ना चाहता था। फिर भी, मैं यहां उनके तर्क के सार का परीक्षण करने को तैयार हूं।

48. प्रो. दांतवाला ने भाषावार प्रांतों के निर्माण के खिलाफ अपने मत की पुष्टि के लिए लार्ड एक्टन का सहारा लेते हुए उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'द हिस्ट्री आफ फ्रीडम एंड अदर ऐसेज' में संकलित 'ऐसेज आन नेशनेलिटी' से निम्नलिखित उद्धरण दिया है :

''जिस तरह समाज लोगों से मिलकर बनता है, उसी तरह सभ्य जीवन की यह आवश्यक शर्त है कि एक राज्य में विभिन्न राष्ट्र मिलकर एक हो जाएं।''

49. खेद है कि उपर्युक्त उद्धरण लार्ड एक्टन की छवि को पूरी तरह गलत ढंग से प्रस्तुत करता है। इस उद्धरण में एक पूरे अनुच्छेद की कुछ आरंभिक पंक्तियां ही दी गई हैं। पूरा अनुच्छेद यह है :

''जिस तरह समाज लोगों से मिलकर बनता है, उसी तरह सभ्य जीवन की यह एक आवश्यक शर्त है कि एक राज्य में विभिन्न राज्य मिलकर एक हो जाएं। हीन प्रजातियां राजनीतिक संघ के रूप में बौद्धिक स्तर पर श्रेष्ठ प्रजातियों के साथ रहते हुए अपना विकास करती हैं। लुप्त होते और क्षीण होते राष्ट्रों में नवीन और जीवंत राष्ट्रों का स्पर्श पाकर नए जीवन का संचार होने लगता है। जिन राष्ट्रों में या तो निरंकुशता के मर्यादाहीन प्रभाव के कारण या लोकतंत्र के विघटनकारी तत्वों के कारण संगठन शक्ति और शासन की क्षमता लुप्त हो जाती है, जब वे किसी सबल और विकृत प्रजाति के अनुशासन के तले आ जाते हैं, तो उनमें वे शक्तियां पुनः जाग उठती हैं। केवल एक शासन के अधीन रहकर ही यह उर्वरक और संजीवनी प्रक्रिया फलित होती है। राज्य के कड़ाह में ही पककर यह अवलेह तैयार होता है, जिसका सेवन कर कोई राष्ट्र शक्तिशाली और ज्ञानवान हो जाता है और तब वह उन्हें मानवता के किसी अन्य अंश में संचारित कर सकता है।''

50. यह समझ पाना मुश्किल है कि प्रो. दांतवाला ने उस अनुच्छेद के शेष अंश को उद्धृत क्यों नहीं किया। मैं यह नहीं मानता कि सत्य को छिपाने और झूठ की फसल उगाने के लिए ऐसा कदम जानबूझ कर उठाया गया है। तथ्य तो यह है कि इस आंशिक उद्धरण से लार्ड एक्टन का कथन सही रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता है। मैं यह समझने में अक्षम हूं कि प्रो. दांतवाला ने इसे उद्धृत क्यों किया? बिल्कुल साफ बात है कि यदि हीन प्रजातियों

को श्रेष्ठ प्रजातियों के साथ मिला दिया जाए, तो हीन प्रजातियों में परिष्कार हो सकता है। किंतु प्रश्न तो यह है कि किसे हीन माना जाए और किसे श्रेष्ठ। क्या गुजराती महाराष्ट्रवासियों से हीन हैं ? या महाराष्ट्रवासी गुजरातियों से हीन हैं ? दूसरी बात यह है कि गुजरातियों और महाराष्ट्रवासियों के बीच संसर्ग की वह कड़ी कौन सी है, जो दोनों को एकाकार कर सके? प्रो. दांतवाला ने शायद इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है। उन्होंने तो लार्ड एक्टन के निबंध में एक-दो वाक्य देखे और बस झपट पड़े उस अंश पर। हो सकता है, इसका कारण यह रहा हो कि उनके तर्क की पुष्टि के लिए और कोई सामग्री उपलब्ध थी ही नहीं। बात तो बस इतनी भर है कि इस अनुच्छेद में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है, जो भाषावार प्रांतों के गठन के सिद्धांत से मेल खाती हो।

51. प्रो. दांतवाला की दलीलों के बारे में बस इतना कहना पर्याप्त होगा। अब मैं प्रो. घीवाला द्वारा प्रतिपादित विचारों का परीक्षण करूंगा। प्रो. घीवाला ने भी अपने अभिमत की पुष्टि के लिए लार्ड एक्टन के कथन का सहारा लिया है। उन्होंने भी उपर्युक्त लेख का ही उद्धरण दिया है। उद्धरण वाला अनुच्छेद इस प्रकार है :

''राष्ट्रीयता के अधिकारों का सबसे बड़ा शत्रु राष्ट्रीयता का आधुनिक सिद्धांत ही है। सैद्धांतिक स्तर पर राज्य और राष्ट्र, दोनों को समानुरूपी मान लेने से व्यावहारिक स्तर पर उस राज्य की सीमाओं में पाई जाने वाली अन्य सभी राष्ट्रिकताओं के स्तर को अधीनस्थ स्तर पर ला दिया जाता है। यह सिद्धांत अन्य राष्ट्रिकताओं को शासक राष्ट्र, जो स्वयं राज्य बन जाता है, की बराबरी का दर्जा नहीं देता, क्योंकि बराबरी का दर्जा देने पर तो वह राज्य फिर एक राष्ट्र नहीं रह पाएगा और तब एक राज्य एक राष्ट्र के सिद्धांत में विरोधाभास नजर आंने लगेगा। इसलिए उस प्रभुत्व-संपन्न निकाय में, जिसमें समुदाय के सभी अधिकारों पर दावा बना रहता है, मानवता और सभ्यता की मात्रा के अनुसार हीन प्रजातियों को या तो निर्मूल कर दिया जाता है या उन्हें गुलाम बना दिया जाता है या बहिष्कृत कर दिया जाता है या फिर पराधीनता के स्तर पर ले आया जाता है।''

52. मेरे लिए यह समझना मुश्किल है कि विद्वान प्रोफेसर ने अपने विचारों की पुष्टि के लिए लार्ड एक्टन के नाम को क्यों घसीटा है। उपर्युक्त अनुच्छेद तो उनकी मान्यता की तनिक भी पुष्टि करता नहीं लगता। हो सकता है कि एक बात उनके मन में घर कर गई हो। उन्होंने सोचा होगा कि यदि बंबई महाराष्ट्र में सम्मिलित हो गया, तो उस प्रांत में दो राष्ट्रिकताएं हो जाएंगी - एक मराठी-भाषियों की और दूसरी गुजराती-भाषियों की। चूंकि मराठी-भाषी वर्ग शासक वर्ग होगा, इसलिए वह गुजराती-भाषी वर्ग को अधीनस्थ स्तर पर ले आएगा। केवल इसी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने लार्ड एक्टन के उपर्युक्त कथन को उद्धृत करना उचित समझा होगा। ऐसी संभावना के लिए पूरी गुंजाइश है। उन्होंने समस्या को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसके बारे में मेरी आपत्ति नहीं है। किन्तु उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनके बारे में मैं घोर आपत्ति प्रकट करता हूं।

53. पहली बात तो यह है कि भारत जैसे देश में जहां समाज पूरी तरह से संप्रदायों में बंटा हुआ है, चाहे जिस तरह से उसे प्रशासनिक क्षेत्रों में बांटा जाए, हर क्षेत्र में हमेशा कोई न कोई समुदाय विशेष अपनी जनसंख्या के बल पर प्रभावशाली रहेगा ही रहेगा। चूंकि वह प्रभावशाली समुदाय होगा, इसलिए उस क्षेत्र को जो भी राजनीतिक शक्ति मिलेगी, वह सब उसी समुदाय में निहित होगी। यदि बंबई सहित एकीकृत महाराष्ट्र प्रांत में मराठी-भाषी समुदाय गुजराती-भाषी लोगों की तुलना में प्रभावशाली हो जाता है तो क्या ऐसी संभावना को केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित किया जा सकता है ? क्या ऐसी परिघटना मराठी-भाषी लोगों के बीच संभव नहीं है ? गुजरात प्रांत के पुनर्गठन के बाद क्या यही बात गुजरात पर लागू नहीं होगी ? मराठी-भाषी लोग भी मराठों और गैर-मराठों के रूप में पूरी तरह विभक्त हैं। चूंकि मराठा वर्ग प्रभावशाली है, इसलिए मुझे पूरा विश्वास है कि वह वर्ग गुजराती-भाषियों और गैर-मराठा, दोनों को ही अधीनस्थ श्रेणी पर ले आएगा। इसी तरह गुजरात के कुछ हिस्सों में अनाविल ब्राह्मण वर्ग प्रभावशाली है, तो कुछ अन्य क्षेत्रों में पाटीदार वर्ग। पूरी संभावना है कि अनाविल ब्राह्मण वर्ग और पाटीदार वर्ग, दोनों ही अन्य समुदायों को अपने-अपने क्षेत्रों में पछाड़ देंगे। इसलिए कहा जा सकता है कि यह समस्या केवल महाराष्ट्र की समस्या नहीं है, यह तो एक आम समस्या अर्थात् अखिल भारतीय समस्या है।

54. इस समस्या का समाधान क्या है ? प्रो. घीवाला की मान्यता है कि यदि मिश्रित राज्य बना दिए जाएं तो समस्या हल हो सकती है। यह हल प्रो. घीवाला के मस्तिष्क की उपज नहीं है। उन्होंने इसे लार्ड एक्टन से ही ग्रहण किया है। मेरे मतानुसार निःसंदेह लार्ड एक्टन द्वारा सुझाया गया यह हल पूरी तरह गलत है। लार्ड एक्टन ने अपने मत की पुष्टि में आस्ट्रिया का उद्धरण दिया है। दुर्भाग्यवश आस्ट्रिया का जो हाल हुआ, उसे अपनी आंखों से देखने के पूर्व ही लार्ड एक्टन का निधन हो गया। आस्ट्रिया एक मिश्रित राज्य था। मिश्रित राज्य होने की वजह से लार्ड एक्टन के मतानुसार उसमें सभी राष्ट्रिकताएं सुरक्षित रहनी चाहिए थीं। पर सुरक्षित रहने के स्थान पर, उन सभी में फूट पड़ गई और परस्पर संघर्ष होने लगा। परिणाम जो हुआ, वह सबके सामने है। आस्ट्रिया खंड-खंड होकर बिखर गया। वास्तविक हल मिश्रित राज्य में निहित नहीं है। वह तो निहित है, निरपेक्ष राज्य में, जिसमें जनता के हाथ में सत्ता नहीं होती। जनता के नाम पर सत्ता का खेल चलता रहता है। क्या प्रो. घीवाला इस हल को अपनाने के लिए तैयार हैं ? उनका क्या उत्तर होगा, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है।

55. दूसरी बात यह है कि प्रो. घीवाला ने राष्ट्रिकता की परिभाषा को उलझा दिया है। एक ओर वे इस शब्द का प्रयोग सामाजिक अर्थ में करते हैं, दूसरी ओर इसी को वे विधिक और राजनीतिक अर्थों में भी स्वीकार करते हैं। भाषावार प्रांतों के प्रसंग में भी लोग राष्ट्रिकता का नाम बार-बार दुहराते हैं। तब इस शब्द का प्रयोग केवल गैर-विधिक और गैर-राजनीतिक अर्थों में होता है। मेरी योजना में किसी पृथक प्रांतीय राष्ट्रिकता के विकास के लिए गुंजाइश

नहीं है। जब कभी अंकुरित होने के लक्षण नज़र आएं, तो उसे नोच डालने में कोई दोष नहीं होगा। भाषावार प्रांतों की चर्चा करते समय सामान्यत: यह सुझाव दिया जाता है कि प्रांतों की भाषाओं को वहां की राजभाषाएं बनाया जाए। यदि यह प्रस्ताव मान भी लिया जाता है तो भी उन प्रांतों के साथ प्रभुत्व संपन्नता का वह विशेषण चस्पा नहीं किया जा सकता, जो स्वतंत्र राष्ट्रों के साथ जुड़ा होता है।

56. वास्तव में प्रो. घीवाला क्या चाहते हैं, इसे समझना मुश्किल है। मोटे तौर पर वे दो बातें चाहते हैं : एक - मिश्रित राज्य बनाए जाएं। दो — वे यह भी चाहते हैं कि प्रभावशाली वर्ग इस स्थिति में न पहुंच पाए कि वह अन्य छोटे-छोटे वर्गों को अधीनता की श्रेणी में ले आए। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में भाषावार प्रांतों का गठन किस प्रकार आड़े आ सकता है, इसे मैं नहीं समझ पाया हूं। क्योंकि भाषाओं के आधार पर प्रांतों का गठन हो जाने के बाद भी —

(क) सभी प्रांतों में विभिन्न समुदायों का घालमेल बना रहेगा। यही तो मिश्रित राज्य होगा, जिसकी मांगें प्रो. घीवाला कर रहे हैं :

(ख) यदि प्रो. घीवाला की यह मंशा है कि एक निश्चित संकल्पना वाला मिश्रित राज्य बने, जो छोटे-छोटे समुदायों या राष्ट्रिकताओं की रक्षा कर सके, तो ऐसी संभावना भी है। ऐसा राज्य उन्हें निश्चय ही केन्द्र स्तर पर मिलेगा।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मिश्रित राज्य न तो अच्छा राज्य होगा और न ही स्थायी राज्य। फिर भी, यदि प्रो. घीवाला को यह पसंद है तो वह किसी-न-किसी रूप में उनको मिल ही जाएगा, प्रांतों के स्तर पर भी और केन्द्र के स्तर पर भी। प्रांतों में उसका स्वरूप विभिन्न समुदायों के रूप में होगा और केन्द्र में विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधियों के रूप में।

57. उनके दूसरे लक्ष्य के बारे में कहूं तो कह सकता हूं कि दूसरी सुरक्षा उपलब्ध होगी। पहली सुरक्षा इस तरह से कि उनकी योजना के अनुसार ही नागरिकों को वह मिश्रित राज्य के रूप में उपलब्ध होगी। दूसरी यह कि पूरे देश में समान नागरिकता लागू होगी। प्रांतीय नागरिकता का प्रावधान नहीं होगा। महाराष्ट्र में बसे गुजराती-भाषी को नागरिकता संबंधी वे सभी अधिकारी उपलब्ध होंगे, जो किसी मराठी-भाषी को महाराष्ट्र में उपलब्ध हैं।

इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में प्रो. घीवाला के भाषा पर आधारित प्रांतों के गठन पर क्या आपत्ति हो सकती है ?

58. प्रो. घीवाला ने दो अन्य सुझाव भी दिए हैं : (1) यदि प्रांतों का पुनर्गठन किया ही जाना है तो वह तार्किक आधार पर होना चाहिए न कि भाषायी आधार पर, और (2) राष्ट्रिकता को निजी वस्तु बनाया जाए।

59. भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन की तुलना में आर्थिक आधार पर (तार्किक आधार कहने का अभिप्राय यही है) प्रांतों के पुनर्गठन की बात करना ऊपरी तौर पर अधिक वैज्ञानिक लगता है। पर मेरे मतानुसार, भाषावार प्रांतों का पुनर्गठन अवैज्ञानिक माने जाने के

बावजूद, भारत के आर्थिक संसाधनों के तार्किक उपयोग के मार्ग में कैसे बाधक होगा यह स्पष्ट नहीं किया गया है। प्रांतीय सीमाएं होती हैं। आर्थिक संसाधनों के समुचित उपयोग में ये सीमाएं आर्थिक स्तर पर बाधाएं नहीं डालतीं। यदि स्थिति यह होती कि भाषावार प्रांतों के निर्माण की योजना शरारतभरी अर्थात् हानिकारक है। किन्तु ऐसी स्थिति तो है नहीं, जब तक भाषावार प्रांतों को इस बात की इजाजत नहीं दी जाती कि वे उस प्रांत में पाए जाने वाले संसाधनों का किसी भी सक्षम और इच्छुक व्यक्ति, संस्था या निकाय द्वारा दोहन किए जाने पर रोक लगा सकें, तब तक तो भाषावार प्रांत वे सभी लाभ देते रहेंगे, जो कोई भी तार्किक दृष्टि से गठित प्रांत दे सकता है।

60. राष्ट्रिकता को निजी वस्तु बनाने और उसे धर्म के समान ही दर्जा देने के प्रस्ताव को अति आदर्शवादी किंतु अव्यावहारिक मानते हुए रद्द कर दिया जाना चाहिए। इसे मान लेने पर अनेक प्रकार की प्रशासनिक कठिनाइयां या समस्याएं उभर आने का खतरा है ऐसा तभी संभव है, जब सारा संसार एक हो जाए और मानव मात्र उसके नागरिक बन जाएं (वसुधैव कुटुंबकम्) ऐसी स्थिति में राष्ट्रिकता स्वतः ही लुप्त हो जाएगी, क्योंकि जब उसकी उपयोगिता रहेगी ही नहीं।

61. अब तक मैंने केवल उन लोगों के अभिमतों पर ही विचार किया है, जो बंबई को महाराष्ट्र में मिलाने के पक्षपाती हैं। मैंने तो उन पर विचार केवल इसलिए किया है, ताकि मैं सामान्य जनता को उनके बहकावे में आकर गुमराह होने से बचा सकूं। ऐसा होने की पूरी संभावना दो कारणों से नजर आ रही थी। एक — जिन लोगों ने ये दलीलें दी हैं वे साधारण लोग नहीं है। विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं। दो — जब प्रोफेसर गाडगिल ने बंबई को महाराष्ट्र में सम्मिलित करने का प्रस्ताव रखा, इसके बाद ही ये प्रोफेसर लोग मुखर हुए। दुर्भाग्यवश, प्रोफेसर गाडगिल के विरोधियों के तर्कों को काटने के लिए अभी तक कोई व्यक्ति सामने नहीं आया। परिणामस्वरूप यह धारणा बनती जा रही थी कि प्रोफेसर गाडगिल के प्रतिद्वंद्वियों ने मैदान मार लिया है। इस धारणा को और अधिक पुख्ता न होने देना अत्यंत आवश्यक हो गया था।

सिक्के का दूसरा पहलू

62. ऐसे भी कुछ तर्क हैं, जिनकी कल्पना प्रो. गाडगिल के विरोधी नहीं कर सके थे, किंतु जिन्हें इस दावे के पक्ष में कि बंबई का विलय महाराष्ट्र में होना चाहिए, न्यायपूर्वक और बलपूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है, हो सकता है कि ये तर्क आयोग को स्वयं ही सूझ जाएं, किन्तु मैं इस मामले को भाग्य के भरोसे छोड़ना नहीं चाहता, इसीलिए मैं नीचे इनका भी विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूं। हो सकता है कि मेरे इस प्रयास को आयोग वृथा प्रयत्न माने।

कलकत्ता और बंबई

63. बंबई को महाराष्ट्र से विलग करने के मामले पर अपना फैसला देने से पहले आयोग को कलकत्ता की स्थिति पर भी विचार कर लेना होगा। बंबई की तरह कलकत्ता भी भारत के पूरे के पूरे पूर्वी भाग का मुख्य व्यापार केन्द्र है। बंबई में जिस तरह महाराष्ट्रवादी अल्पसंख्यक हैं, ठीक वही स्थिति कलकत्ता में बंगालियों की है। बंबई के महाराष्ट्रवासियों की ही तरह कलकत्ता के बंगालियों का वहां के व्यापार और उद्योगों पर आधिपत्य नहीं है। बंबई के मराठी-भाषियों की तुलना में कलकत्ता के बंगालियों की स्थिति बदतर है। ऐसा इसलिए है कि मराठी भाषी कम से कम यह दावा तो कर ही सकते हैं कि बंबई के व्यापार और व्यवसाय में उनकी पूंजी नहीं लगी है तो क्या हुआ, वे वहां मजदूरों के रूप में काम तो कर ही रहे हैं। बंगाली तो यह दावा भी करने की स्थिति में नहीं हैं। यदि यह आयोग महाराष्ट्र से बंबई के विलगन के तर्कों को मान सकता है तो उसे इन्हीं तर्कों के आधार पर पश्चिम बंगाल से कलकत्ता के पृथक्करण की सिफारिश करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए, क्योंकि एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि यदि दिए गए कारणों से बंबई को महाराष्ट्र से अलग किया जा सकता है तो उन्हीं विद्यमान कारणों की वजह से कलकत्ता को पश्चिम बंगाल से अलग क्यों न कर दिया जाए।

क्या बंबई आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर है?

64. बंबई को महाराष्ट्र से अलग रखा जाए, इससे पहले यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि क्या आर्थिक दृष्टि से बंबई आत्म-निर्भर प्रांत है। मैं पहले ही बता चुका हूं कि यदि राजस्व और व्यय का समुचित लेखांकन किया जाए तो कराधान के वर्तमान स्तर के आधार पर बंबई एक आत्म-निर्भर प्रांत नहीं बन सकेगा। यदि ऐसा है तो फिर बंबई को एक अलग प्रांत बनाने का प्रस्ताव धराशायी हो जाना चाहिए। उड़ीसा और असम जैसे प्रांतों के साथ बंबई की तुलना करना अनुचित होगा। बंबई में प्रशासन का स्तर, जीवन का स्तर और परिणामत: मजदूरी/वेतन का स्तर सभी इतने अधिक ऊंचे हैं कि यदि वहां कराधान की दरें कितनी भी अधिक क्यों न बढ़ा दी जाएं, वह अपने खर्चे के लिए आवश्यक मात्रा में राजस्व नहीं जुटा पाएगा।

बृहत्तर बंबई के प्रस्ताव का उद्देश्य

65. बंबई प्रांत आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हो सकेगा या नहीं, यह आशंका इसलिए भी बढ़ गई, क्योंकि बंबई सरकार ने अनुचित जल्दी दिखाते हुए तत्कालीन बंबई की सीमाओं में महाराष्ट्र के आसपास के हिस्सों को मिलाकर बृहत्तर बंबई का गठन कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा करने का एकमात्र उद्देश्य बंबई को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। और उद्देश्य हो भी क्या सकता है? जब तक बंबई महाराष्ट्र का हिस्सा बना रहे, तब तक तो मराठी-भाषियों को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि

महाराष्ट्र का कौन सा हिस्सा किस प्रशासनिक क्षेत्र में मिला दिया जाए। किंतु जब बंबई को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से बृहत्तर बंबई बनाकर एक अलग प्रांत बनाने की बात उठी तो मराठी-भाषियों को अपने इलाकों से हाथ धोने की बात सहन नहीं हुई। अब देखना यह है कि बृहत्तर बंबई की योजना ने जो जिम्मेदारी राज्य पुनर्गठन आयोग पर डाली है, उसे वह कैसे निभाता है। क्या वह न्यायपूर्ण तरीके से मराठी भाषियों को इस बात के लिए बाध्य कर सकेगा कि वे न केवल गुजरातियों की इस मांग के आगे झुक जाएं कि वे बंबई का मोह त्याग दें, पर उनकी यह अगली मांग भी मान लें कि बंबई को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से अपने प्रांत के कुछ भू-भाग भी उन्हें समर्पित कर दें ? आयोग को इस बारे में न्याय करना है। वह अपनी इस जिम्मेदारी से बच नहीं सकता।

66. महाराष्ट्र और बंबई न केवल एक-दूसरे पर आश्रित हैं, वरन् वस्तुत: वे एक और अविभाज्य हैं। इन दोनों का पृथक्करण दोनों के ही लिए घातक होगा। बंबई के लिए पानी और बिजली महाराष्ट्र से आते हैं। महाराष्ट्र का बुद्धिजीवी वर्ग बंबई में बसा हुआ है। बंबई को महाराष्ट्र से काटकर अलग करने की बात बंबई के आर्थिक जीवन को अनिश्चित या संकटपूर्ण बना देगी, साथ ही इससे महाराष्ट्र की आम जनता अपने बुद्धिजीवी वर्ग से कट कर रह जाएगी। तब उसे मार्गदर्शन और नेतृत्व किससे मिलेगा ? वह तो कहीं की न रहेगी।

पंच फैसला ही इसका समाधान

67. कुछ लोगों ने इस तरह का सुझाव भी दिया है कि बंबई की समस्या का समाधान मध्यस्थता यानी पंच फैसले से होना चाहिए। मैंने कभी इससे बेहूदा सुझाव नहीं सुना था। ऐसा करना वैसी ही बेहूदगी होगी, जैसी किसी दांपत्य-जीवन संबंधी विवाद के मामले को पंच फैसले पर छोड़ना। दांपत्य-जीवन का गठबंधन तो अत्यंत वैयक्तिक मामला है, जिसे कोई तीसरा नहीं सुलझा सकता। बाइबिल की उक्ति का प्रयोग करूं तो कह सकता हूं कि बंबई और महाराष्ट्र को तो ईश्वर ने ही मिलाया है अर्थात् इन दोनों का जन्म-जन्मान्तरों का संबंध है। कोई भी मध्यस्थ इन्हें विलग नहीं कर सकता। अगर प्राधिकार है तो केवल आयोग को। यही अभिकरण इस बारे में निर्णय दे सकता है। देखें, वह क्या करता है।

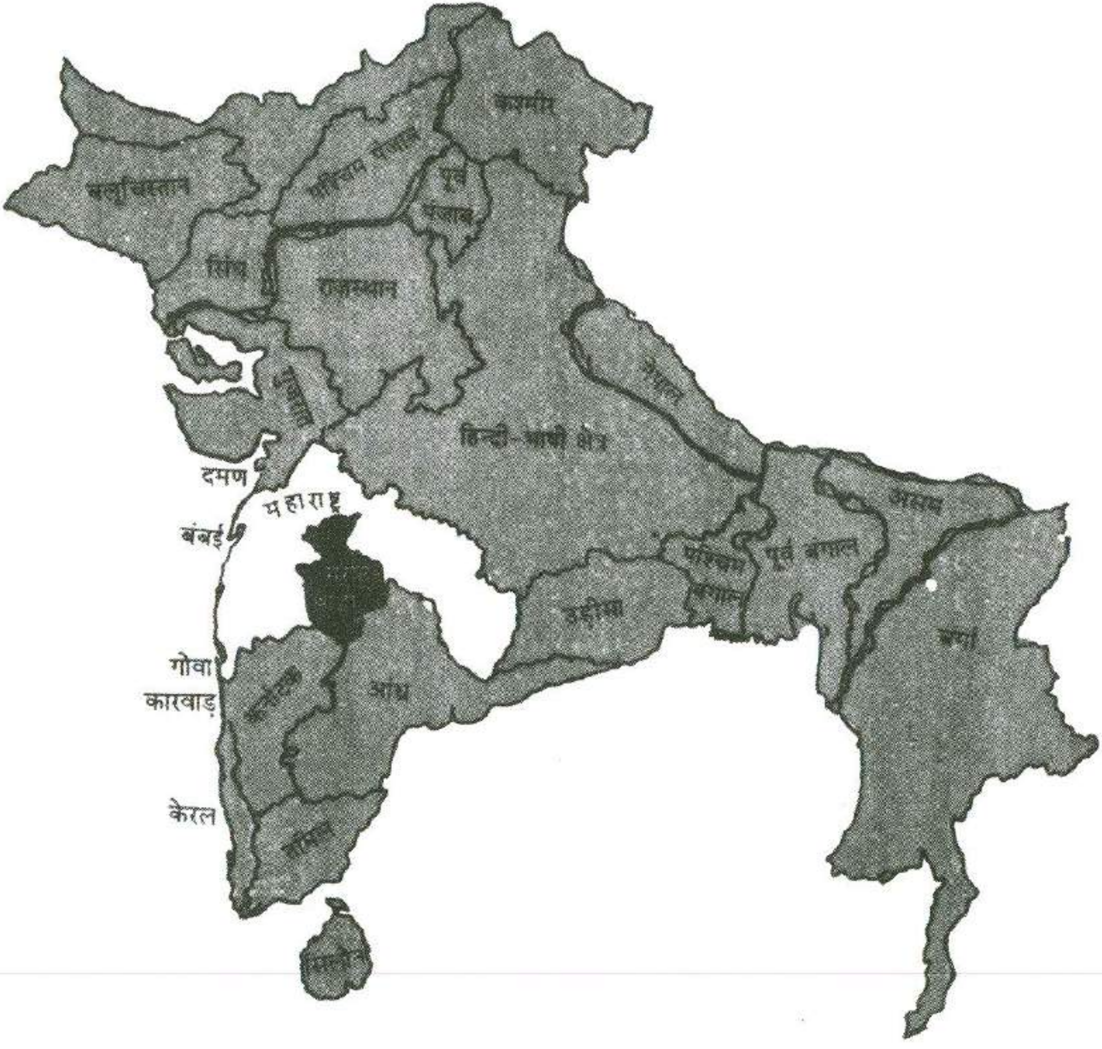

कश्मीर
सिंध
राजस्थान
पूर्व पंजाब
हिन्दी-भाषी क्षेत्र
दमण
महाराष्ट्र
बंबई
गोवा
कारवाड़
आंध्र
केरल
उड़ीसा
पूर्व बंगाल
असम

4

निरीक्षण तथा संतुलन के उपायों की आवश्यकता

भाषावार प्रांतों से संबंधित लेख

द टाइम्स ऑफ इंडिया, दिनांक 23 अप्रैल 1953, से

निरीक्षण तथा संतुलन के उपायों की आवश्यकता

अंग्रेजों ने भारत पर 150 वर्षों से अधिक तक राज किया, पर उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि भाषावार राज्य बनाए जाएं, जब कि उस समय भी यह समस्या थी। बहुभाषी क्षेत्रों की सांस्कृतिक लालसा जानकर उस पर अमल करने की अपेक्षा उनकी अधिक रुचि केवल इस बात में थी कि प्रशासन स्थायी हो और पूरे देश में कानून और व्यवस्था बनी रहे। यह सही है कि उनके राज के अंतिम दिनों में उन्होंने भी यह महसूस किया कि उन्होंने जो प्रशासनिक व्यवस्था कायम की है, उसमें भाषाओं के लिहाज से भी कुछ न कुछ ताल-मेल होना आवश्यक है, कम से कम उन क्षेत्रों में तो किया जाना ही चाहिए, जहां भाषाओं की भिन्नता होने से उनमें परस्पर कशमकश दिखाई पड़ती है। इसलिए शायद भारत छोड़कर जाने से पहले उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे भाषा पर आधारित राज्य बना दिए। मान लो, यदि वे हमें छोड़कर न जाते और हम पर राज करते ही रहते तो वे अन्य क्षेत्रों को भी तार्किक दृष्टि से भाषावार राज्यों के रूप में पुनर्गठित करते।

अंग्रेजों ने भाषावार प्रांतों के निर्माण की बात सोची, इसके बहुत पहले ही श्री गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सन् 1920 में अपना जो संविधान बनाया, वह भाषावार प्रांतों पर आधारित था। इस प्रकार का संविधान बनाने के पीछे जो विचारधारा रही, वह उनकी स्थायी विचारधारा थी या लोगों को कांग्रेस की ओर आकृष्ट करने के लिए सोचा गया तात्कालिक प्रलोभन मात्र था, इसके बारे में अब अटकलें लगाना उचित नहीं होगा। पर हां, इस बात में तो संदेह नहीं है कि देर से ही सही पर अंग्रेजों को यह समझ में आ गया था कि भाषायी आधार को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए और इसलिए उन्होंने इसे सीमित मात्रा में सही, पर कार्यरूप में परिणत तो किया ही।

विरोध

सन् 1945 तक तो कांग्रेस ने उस समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया, जो 1920 में बने संविधान के अनुसार उसने स्वयं पैदा की थी। सन् 1945 में जब कांग्रेस के हाथ में शासन की बागडोर आई, तब इस जिम्मेदारी को निभाने का बोझ उस पर आ पड़ा। भाषावार प्रांतों के गठन के हाल ही के इतिहास पर नजर डालने से यह पता चलता है कि उस मामले की

भाषावार प्रांतों के निर्माण का प्रस्ताव रखकर एक संसद-सदस्य ने पहल की। सरकार की ओर से बहस का उत्तर देने की जिम्मेदारी मेरी थी। वरिष्ठ सत्ताधारियों की राय जानने के लिए मैंने उनसे विचार-विमर्श किया। यह बात विचित्र लग सकती है, किंतु मुझे साफ पता चल गया कि हाइकमान भाषावार प्रांतों के निर्माण के कतई खिलाफ है। इन परिस्थितियों में यही ठीक समझा गया कि बहस का उत्तर यदि प्रधानमंत्री स्वयं दें तो ठीक रहेगा। बहस का उत्तर देते हुए प्रधानमंत्री ने सदन को यह आश्वासन दिया कि जल्दी ही आंध्र राज्य का गठन किया जाएगा। प्रधानमंत्री के इस आश्वासन के फलस्वरूप प्रस्ताव वापस ले लिया गया। फिर मामला वहीं शांत हो गया।

दूसरी बार

संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष के नाते मुझे दूसरी बार इस समस्या का सामना करना पड़ा। जब संविधान का प्रारूप तैयार हो चुका तो मैंने प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर पूछा कि प्रस्ताव पर हुई बहस के उत्तर में उन्होंने सदन को जो आश्वासन दिया था, उसको ध्यान में रखते हुए क्या मैं संविधान में ''क'' वर्ग के राज्यों में आंध्र को एक अलग राज्य के रूप में सम्मिलित कर दूं। उनका क्या उत्तर आया था, इसके बारे में और क्या हुआ, इसकी न तो मुझे याद है और न ही मेरे पास इस समय उसका कोई प्रमाण उपलब्ध है। किन्तु मैं इतना अवश्य जानता हूं कि तब संविधान सभा के सभापति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने यू.पी. के एक वकील श्री धर की अध्यक्षता में भाषावार प्रांतों के गठन पर विचार करने के लिए एक समिति बना दी।

यह धर समिति किसी और बात के लिए नहीं तो कम से कम एक बात के लिए तो अवश्य ही याद की जाती रहेगी। समिति ने यह कहा था कि भाषा के आधार पर चाहे महाराष्ट्र को एक अलग राज्य का दर्जा दिया जाए, किंतु बंबई को किसी भी हालत में महाराष्ट्र में सम्मिलित नहीं किया जाए। कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन में उस रिपोर्ट (प्रतिवेदन) पर विचार हुआ। जयपुर कांग्रेस ने तीन सदस्यों की एक समिति बनाई, जिसमें प्रधानमंत्री, श्री वल्लभभाई पटेल और डा. पट्टाभि सीतारमैया थे। उन्होंने जो रिपोर्ट दी, उसका सार यह है कि आंध्र प्रांत का अविलंब गठन किया जाए, किंतु मद्रास शहर तमिलों के पास ही रहे। ब्यौरेवार बातें तय करने के लिए एक अन्य समिति बनाई गई, उसने भी कमोबेश सर्वसम्मति से रिपोर्ट दी। श्री प्रकाशम् सहित आंध्र के अनेक सदस्यों ने इस रिपोर्ट का विरोध किया। वे लोग किसी भी हालत में मद्रास पर अपने दावे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। इस तरह इस मामले पर निर्णय नहीं किया जा सका।

इसके बाद श्री पोट्टी श्रीरामुलु वाली दुर्घटना हुई। श्रीरामुलु ने आंध्र प्रांत के लिए आत्मोत्सर्ग किया। शासक दल के कामकाज पर यह शर्मनाक टिप्पणी ही मानी जाएगी कि एक ऐसे काम के लिए श्रीरामुलु को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा, जिसकी वैधता को कांग्रेस मान चुकी थी। अब जिस नए आंध्र प्रांत के निर्माण की बात मानी जा चुकी थी, उसे स्वर्गवासी श्रीरामुलु

की आत्मा के लिए प्रधानमंत्री द्वारा किया गया पिडंदान ही मानना होगा। क्या किसी अन्य देश में सरकार के इस तरह के काम को सहन किया जा सकता था? अब इसके बारे में बहस से क्या फायदा?

मेरी राय में किसी भी भाषावार राज्य के अस्तित्व में आने से पहले तीन शर्तें पूरी होनी चाहिएं। पहली शर्त यह है कि वह राज्य आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हो। संविधान बनाते समय देसी रियासतों के विलय के प्रश्न पर जब विचार किया गया तो इस नियम को नितांत अनिवार्य माना गया था। केवल उन्हीं देसी रियासतों को स्वतंत्र राज्यों का दर्जा दिया गया, जो आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर थीं। शेष सभी को पड़ोसी राज्यों में मिला दिया गया।

सहारा जैसी स्थिति

क्या प्रस्तावित आंध्र राज्य आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर है? न्यायमूर्ति श्री वांचु ने स्पष्ट रूप से यह माना था कि आंध्र राज्य का वार्षिक राजस्व-घाटा पांच करोड़ रु. होगा। क्या इस घाटे को कम करने के लिए आंध्र राज्य या तो नए कर लगाएगा या अपना खर्च कम करेगा? आंध्रवासियों पर ही इसका असर होगा। क्या इस घाटे की पूर्ति की जिम्मेदारी केन्द्र अपने ऊपर लेगा? यदि हां, तो क्या यह जिम्मेदारी केवल प्रस्तावित आंध्र राज्य तक ही सीमित रहेगी या केन्द्र ऐसे ही अन्य मामलों में भी जिम्मेदारी उठाएगा? इन प्रश्नों का जवाब मिलना चाहिए?

नए आंध्र राज्य की राजधानी नियत नहीं की गई है। प्रसंगवश मैं कहना चाहूंगा कि मैंने यह कभी नहीं सुना कि कोई नया राज्य बना हो और यह तय नहीं हुआ हो कि उसकी राजधानी क्या होगी। श्री राजगोपालाचारी जो पक्के तमिल हैं, आंध्र राज्य की सरकार के प्रति इतना शिष्टाचार नहीं बरतेंगे कि उसे एक रात के लिए ही सही मद्रास शहर में टिकने दें, जैसा कि हिन्दू धर्म सभी हिन्दुओं को अपने अतिथियों के प्रति अपनाने की शिक्षा देता है। नई सरकार को अपना आवास स्वयं ढूंढना होगा और सरकार चलाने के लिए अपने घर बनाने होंगे। इसके लिए वह कौन सी जगह चुनेगी? खोखे खड़े करने के लिए पैसा कहां से आएगा? आंध्र तो सहारा के रेगिस्तान जैसा है, जहां कोई नखलिस्तान भी नहीं है। यदि उसकी सरकार इस सहारा में तत्कालिक शरण लेती है, तब भी आगे चलकर उसे किसी अधिक स्वास्थ्यप्रद स्थान में अपना लवाजमा ले जाना ही होगा। इस तरह इस अस्थायी मुख्यालय पर अनावश्यक खर्च करना होगा। क्या सरकार ने समस्या के इस पहलू पर भी विचार किया है? अभी से क्यों न उन्हें ऐसा स्थान आवंटित कर दिया जाए, जहां स्थायी तौर पर राजधानी रखने की संभावनाएं अधिक नजर आती हों।

मेरी दृष्टि में राजधानी के लिए वारंगल सर्वाधिक उचित स्थान है। वह आंध्र की पुरानी राजधानी रहा है। यहां रेलवे जंक्शन है। यहां पर्याप्त संख्या में भवन भी उपलब्ध हैं। यह सही है कि यह शहर आंध्र के उस इलाके में स्थित है, जो हैदराबाद रियासत का हिस्सा है। सैद्धांतिक दृष्टि से तो यह होना चाहिए था कि विशालकाय और अष्टावक्र जैसे आकार वाली हैदराबाद

रियासत का विभाजन किया जाता और अलग से एक पूर्ण आंध्र राज्य बनाया जाता। किंतु यदि प्रधानमंत्री को इस प्रस्ताव पर अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा से कोई आपत्ति है। तो क्या वे हैदराबाद रियासत के आंध्र वाले (तेलुगु-भाषी) हिस्से में एक अंत:क्षेत्र (एन्क्लेव) बनाकर उसे नए आंध्र राज्य में नहीं मिला सकते? इस तरह वारंगल का मामला सुलझ सकता है। अंत:क्षेत्र बनाना भारत में कोई नई घटना नहीं होगी। किंतु प्रधानमंत्री तो हैदराबाद में, और कश्मीर में भी विधि के विधान के विपरीत काम करने को कटिबद्ध हैं। मुझे विश्वास है कि उन्हें शीघ्र ही इसके परिणामों से सीख मिल जाएगी।

पहली शर्त

यह केवल संयोग है। मुख्य बात तो यह है कि भाषा पर आधारित राज्य को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहिए। भाषावार राज्य के गठन का यह पहला विचारणीय बिंदु है। दूसरा बिंदु यह होगा कि हम इस बात का पूर्वानुमान लगा सकें कि भाषावार प्रांत में क्या होने वाला है। दुर्भाग्यवश किसी ने भारत की जनसंख्या के स्वरूप का सर्वेक्षण करने की ओर ध्यान नहीं दिया है। जनगणना की रिपोर्टों से हमें केवल इतना पता चलता है कि हिन्दू कितने हैं, मुसलमान कितने हैं, यहूदियों और ईसाइयों की संख्या कितनी है, या फिर हम यह जान सकते हैं कि अछूतों की संख्या अमुक-अमुक है। ये रिपोर्टें केवल हमारी इतनी जानकारी बढ़ाती हैं कि भारत में ये-ये धर्म प्रचलित हैं। धर्मों की संख्या जान लेने के अतिरिक्त इस प्रकार की सूचना का और कोई महत्व नहीं है। हम तो यह जानना चाहते हैं कि ये रिपोर्टें हमें यह बताएं कि भिन्न-भिन्न भाषा क्षेत्रों में जातियों का विभाजन कैसा है, किंतु इनमें इस प्रकार की सूचना उपलब्ध नहीं होती। हमें अपने ज्ञान और जानकारी पर ही भरोसा करना पड़ता है। यदि यह कहूं कि किसी भाषा क्षेत्र में जातियों का विभाजन प्राय: इस तरह का होता है, अर्थात् उसमें एक या दो बहुसंख्यक घनी जातियां होती हैं और कुछ थोड़ी जातियां होती हैं, जो घनी जातियों के काबू में रहते हुए आश्रित जीवन व्यतीत करती हैं।

सामुदायिक या जातिगत बनावट

मैं कुछ उदाहरण प्रस्तुत करूं। पंजाब की बनावट देखें। पूरे इलाके में जाटों का प्रभुत्व है। अछूत वर्ग के लोग उनके अधीन और उन पर आश्रित हैं। आंध्र का उदाहरण लें : पूरे भाषा क्षेत्र में दो या तीन बड़े समुदाय छाए हुए हैं। वे या तो रेड्डी हैं, या कम्मा और कापू। वे सारी जमीन के मालिक हैं, सारे सरकारी पदों पर वे ही वे दिखाई देते हैं, या फिर सारा व्यवसाय उनके हाथों में है। अछूत उन्हीं के सहारे अपनी गुजर-बसर करते हैं। महाराष्ट्र की स्थिति देखें : पूरे महाराष्ट्र के हर गांव में आपको मराठे भरपूर संख्या में मिलेंगे। वहां ब्राह्मणों, गूजरों, कोलियों और अछूतों की स्थिति दयनीय है। कभी समय था, जब ब्राह्मण और बनिए, निर्भीक जीवन यापन करते थे। किंतु अब समय बदल गया है। श्री गांधी की हत्या के बाद ब्राह्मण और बनिए

मराठों से छिपे-छिपे रहते हैं और वे भागकर कस्बों और शहरों में बस गए हैं, क्योंकि वहां वे अपने आपको अधिक सुरक्षित महसूस करते हैं। केवल अभागे अछूत, कोली और माली ही बहुमत वाले मराठा समुदाय के अत्याचारों को सहन करने के लिए गांवों में बच रहे हैं। इस जातिगत बनावट को जो अनदेखा करेगा, वह स्वयं अपने जीवन को खतरे में डालने का जिम्मेदार होगा।

भाषावार प्रांतों में छोटे-छोटे समुदायों, अर्थात् अल्पसंख्यक जातियों का क्या भविष्य है। क्या वे विधायिका में चुने जाने की आशा रखें? क्या उन्हें राज्य-सेवा में कोई पद मिलने की आशा है? उनकी आर्थिक उन्नति के लिए क्या कोई ध्यान देने वाला है? इन परिस्थितियों में भाषायी प्रांत के गठन का अर्थ होगा - स्वराज को किसी एक बहुसंख्यक समुदाय के हाथों में सौंप देना। श्री गांधी के स्वराज की क्या दुर्दशा है। जो लोग समस्या के इस पहलू को नहीं समझते या समझना नहीं चाहते, वे इसे तभी भली-भांति समझेंगे, जब हम भाषायी राज्य जैसे शब्द का प्रयोग न कर जाट राज्य, रेड्डी राज्य या मराठा राज्य कहेंगे।

तीसरा मसला

विचारणीय तीसरा मुद्दा यह है कि क्या भाषावार राज्यों के निर्माण का यह अर्थ लिया जाए कि एक भाषा बोलने वाले सभी लोगों को एक राज्य में इकट्ठा कर दिया जाएगा। क्या महाराष्ट्र राज्य में सभी मराठी-भाषियों को एकत्रित किया जाना है। क्या सभी (तेलुगु-भाषी) आंध्र क्षेत्रों को आंध्र राज्य में मिला दिया जाएगा? एकत्रीकरण का यह प्रश्न केवल नई इकाइयों से ही संबंधित नहीं है।इसका संबंध यू.पी., बिहार और पश्चिमी बंगाल जैसे भाषा पर आधारित वर्तमान प्रांतों से भी है। जैसा कि यू.पी. के प्रसंग में हुआ है, सभी हिन्दी-भाषी लोगों को एक राज्य में समेकित करना क्यों आवश्यक है? जो ऐसे समेकन या एकत्रीकरण की मांग करते हैं, उनसे पूछा जाना चाहिए कि क्या वे अन्य राज्यों के साथ युद्ध करने जा रहे हैं। यदि समेकन से पृथकता का भाव पुष्ट होता हो तो आगे चलकर हमारा भारत ठीक उसी स्थिति में पहुंच जाएगा, जैसी स्थिति इस देश की मौर्य साम्राज्य के पतन या बिखराव के बाद हुई थी। क्या भाग्य हमें उसी ओर धकेल रहा है।

इसका यह अर्थ नहीं कि भाषावार प्रांतों के गठन का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। इसका तो अर्थ केवल इतना है कि भाषावार प्रांत का मुखौटा पहन कर कोई बहुसंख्यक समुदाय शक्ति का दुरुपयोग न करने पाए, अर्थात् भाषावार प्रांतों के निर्माण के साथ ही उन पर निरीक्षण और नियंत्रण के उपाय भी सोचने होंगे।

5

भाषावार राज्यों के संबंध में विचार

1955 में पहली बार प्रकाशित
1955 में संस्करण का पुनर्मुद्रण

प्रस्तावना

भाषायी राज्यों का निर्माण आज एक ज्वलंत प्रश्न है। मुझे खेद है कि बीमारी के कारण मैं उस बहस में भाग नहीं ले सका, जो संसद में हुई थी। न ही मैं उस अभियान में सम्मिलित हो सका, जो देश में लोगों ने अपनी-अपनी विचारधारा के समर्थन में चलाया था। यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है कि मैं इसका मूक-दर्शक नहीं रह सकता। अनेक लोगों ने बिना कारण जाने मुझ पर चुप्पी साधने का दोष लगाया है। इसलिए मैंने दूसरा विकल्प अपनाया है, यानी यह कि मैं अपने विचार लिखित रूप में व्यक्त करूं।

संभव है कि इस पुस्तिका में प्रस्तुत मेरे विचारों और उन सार्वजनिक वक्तव्यों में जो मैंने विगत में दिए हैं, पाठकों को कुछ असंगतियां दिखाई दें। लेकिन मुझे विश्वास है कि मेरे दृष्टिकोण से इस प्रकार के परिवर्तन बहुत ही कम हुए हैं। पहले मैंने जो बयान दिए हैं, वे बिखरे हुए आंकड़ों पर आधारित थे। उस समय इस मसले की पूरी तस्वीर मेरे मस्तिष्क में नहीं थी। इस पर पहली बार मेरी दृष्टि तब पड़ी, जब राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। आलोचकों को मेरे विचारों में जो भी परिवर्तन दिखाई दे, उसका यही औचित्य है।

ऐसे आलोचक के लिए जिसका रवैया शत्रुतापूर्ण है और जो द्वेषभाव रखता है तथा जो मेरे वक्तव्यों की असंगतियों का अनुचित लाभ उठाना चाहता है, मेरा उत्तर सीधा-सच्चा है। इमरसन ने कहा था कि हठ करना गधे का स्वभाव है और मैं गधा नहीं कहलाना चाहता। कोई भी विचारशील व्यक्ति दृढ़ता के नाम पर किसी ऐसे मत से बंधा नहीं रह सकता, जो एक बार व्यक्त कर दिया गया हो। दृढ़ता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। जिम्मेदार व्यक्ति में यह खूबी होनी चाहिए कि जो कुछ उसने सीखा है, उसे भुलाना भी सीख सके। हर जिम्मेदार व्यक्ति में पुनर्विचार करने और अपने विचारों में परिवर्तन लाने का साहस होना चाहिए। यह सही है कि जो कुछ उसने सीखा है, उसे भुला देने और अपने विचारों को नया रूप देने के लिए समुचित तथा पर्याप्त कारणों का होना जरूरी है। सोच-विचार में किसी प्रकार के अंतिम शब्द की गुंजाइश नहीं हो सकती।

भाषावार राज्यों का गठन कितना ही आवश्यक हो, उसका निर्णय किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती से नहीं किया जा सकता। न ही वह किसी ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए,

जिससे केवल दलगत हित ही सिद्ध होता हो। इसका समाधान निर्मम तर्कणा से किया जाना चाहिए। मैंने यही किया है और मैं चाहता हूं कि ऐसा ही मेरे पाठक करें।

23 दिसंबर 1955,
मिलिंद महाविद्यालय,
नागसेन वन, कालिज मार्ग,
औरंगाबाद (दक्षिण)

भीमराव अम्बेडकर

भाग I

आयोग का कार्य

अध्याय 1

भाषावाद ही मूल समस्या

भारत के वर्तमान संविधान में निम्नलिखित राज्यों को मान्यता प्रदान की गई है, जिन्हें अनुसूची में दर्शाया गया है:

भाग 'क' के राज्य	भाग 'ख' के राज्य	भाग 'ग' के राज्य
1. आंध्र	1. हैदराबाद	1. अजमेर
2. असम	2. जम्मू व कश्मीर	2. भोपाल
3. बिहार	3. मध्य भारत	3. कुर्ग
4. बंबई	4. मैसूर	4. दिल्ली
5. मध्य प्रदेश	5. पटियाला	5. हिमाचल प्रदेश
6. मद्रास	6. राजस्थान	6. कच्छ
7. उड़ीसा	7. सौराष्ट्र	7. मणिपुर
3. पंजाब	8. त्रावणकोर-कोचीन	8. त्रिपुरा
9. उत्तर प्रदेश		9. विंध्य प्रदेश

संविधान के अनुच्छेद 3 के द्वारा संसद को नए राज्यों के गठन की शक्ति प्रदान की गई है। यह इसलिए किया गया है कि भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के लिए जो भारी मांग की जा रही थी, उसके लिए समय नहीं था।

लगातार की जा रही इस मांग के अनुसार प्रधानमंत्री ने इस प्रश्न की जांच के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित राज्यों के गठन की सिफारिश की :

प्रस्तावित नए राज्य

राज्य का नाम	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	जनसंख्या (करोड़ों में)	भाषाएं
1. मद्रास	50,170	3.00	तमिल
2. केरल	14,980	1.36	मलयालम
3. कर्नाटक	72,730	1.90	कन्नड
4. हैदराबाद	45,300	1.13	तेलुगु
5. आंध्र	64,950	2.09	तेलुगु
6. बंबई	151,360	4.02	मिश्रित
7. विदर्भ	36,880	0.76	मराठी
8. मध्य प्रदेश	171,200	2.61	हिन्दी
9. राजस्थान	132,300	1.60	राजस्थानी
10. पंजाब	58,140	1.72	पंजाबी
11. उत्तर प्रदेश	113,410	6.32	हिन्दी
12. बिहार	66,520	3.82	हिन्दी
13. पश्चिम बंगाल	34,590	2.65	बंगला
14. असम	89,040	0.97	असमिया
15. उड़ीसा	60,140	1.46	उड़िया
16. जम्मू व कश्मीर	92,780	0.14	कश्मीरी

महत्वपूर्ण बात राज्यों के आकार की तुलना है।

यदि जनसंख्या को मापदंड माना जाए तो परिणाम निम्नलिखित होगा :

आठ राज्य ऐसे हैं, जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या 1 और 2 करोड़ के बीच है।

चार राज्यों की जनसंख्या 2 और 4 करोड़ के बीच है।

एक राज्य की जनसंख्या 4 करोड़ से ऊपर है।

एक राज्य ऐसा है, जिसकी संख्या 6 करोड़ से ऊपर है।

इससे जो परिणाम निकलता है, वह विलक्षण है। स्पष्ट है, आयोग का यह विचार था कि राज्य के आकार का कोई महत्व नहीं है और उन राज्यों के आकार की समानता का कोई महत्व नहीं, जिन्हें मिलाकर परिसंघ गठित होगा।

यही आयोग की पहली और सबसे भयंकर भूल थी, जिसको यदि समय रहते नहीं सुधारा गया तो वह भारत के लिए बहुत महंगी पड़ेगी।

अध्याय 2

भाषावाद की पराकाष्ठा

पहले अध्याय में यह बताया गया है कि राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों का एक परिणाम तो यह है कि आयोग ने जिन विभिन्न राज्यों के गठन का सुझाव दिया है, उनके आकार में असमानता है।

लेकिन इसके अलावा आयोग की सिफारिशों में एक और दोष भी है जो वैसे तो प्रच्छन्न है, लेकिन है वास्तविक, इसलिए कि उत्तर की भाषायी समस्या पर दक्षिण के संबंध में विचार नहीं किया गया। नीचे की सारणी से यह स्पष्ट हो जाएगा।

दक्षिणी राज्य		मध्य राज्य		उत्तरी राज्य*	
नाम	जनसंख्या (करोड़ो में)	नाम	जनसंख्या (करोड़ों में)	नाम	जनसंख्या (करोड़ों में)
मद्रास	3.00	महाराष्ट्र	3.31	उत्तर प्रदेश	6.32
केरल	1.36	गुजरात	1.13	बिहार	3.85
कर्नाटक	1.90	सौराष्ट्र	0.4	मध्य प्रदेश	2.61
आंध्र	1.09	कच्छ	0.5	राजस्थान	1.60
हैदराबाद	1.13			पंजाब	1.72

भाषावार राज्यों के नाम पर भारत के विभाजन की जो योजना बनाई गई है, उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। यह उतनी अनपकारी नहीं है, जितनी आयोग इसे समझता है। इसमें जहर भरा है और यह जहर इसी समय निकाल दिया जाना चाहिए।

भारत संघ का स्वरूप केवल एक विचार प्रस्तुत करता है। यह किसी उपलब्धि का द्योतक नहीं है। ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'अमरीकन कॉमनवेल्थ' में निम्नलिखित घटना का वर्णन किया है, जो बहुत शिक्षाप्रद है। उसने उसमें कहा है:

> कुछ वर्ष पूर्व अमरीका का प्रोटेस्टेंट धर्माध्यक्षीय गिरजा अपने वार्षिक सम्मेलन में उपासना पद्धति पर पुनर्विचार करने में व्यस्त था। उसके विचार में यह वांछनीय था कि प्रार्थना के लिए छोटे वाक्यों की प्रार्थनाओं में सभी लोगों के लिए एक प्रार्थना का समावेश कर लिया जाए और न्यू इंग्लैंड के एक प्रतिष्ठित धर्मतत्वज्ञ ने इन शब्दों के समावेश का प्रस्ताव किया, 'हे प्रभु, हमारे राष्ट्र को आशीर्वाद दे।' यह वाक्य एक दिन तीसरे पहर को तत्काल स्वीकार कर लिया गया, लेकिन दूसरे ही दिन यह फिर विचारार्थ

* मैंने कुछ केन्द्र-स्थित राज्यों को इसलिए शामिल किया है कि भाषा की दृष्टि से वे एक-दूसरे से जुड़े हैं।

प्रस्तुत हुआ। 'राष्ट्र' शब्द पर आम लोगों ने यह कहकर अनेक आपत्तियां उठाई कि इससे राष्ट्रीय एकता की अतिशय मान्यता का भाव प्रकट होता है, तो उसे अस्वीकार कर दिया गया और उसके स्थान पर ये शब्द स्वीकार किए गए, 'हे प्रभु, इन संयुक्त राज्यों को आशीर्वाद दे।'

भारत तो मानसिक तथा नैतिक दृष्टि से स्वयं को संयुक्त राज्य भारत कहलाने का पात्र भी नहीं है। भारत संघ तो संयुक्त राज्य भारत से अभी कोसों दूर है। लेकिन उत्तर के इस समेकन और दक्षिण के विभाजन से यह लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता।

भाग II

भाषावाद की सीमितताएं

अध्याय 3

भाषावार राज्य का पक्ष - विपक्ष

'एक राज्य, एक भाषा' लगभग हरेक राज्य का एक सार्वभौम लक्षण होता है। जर्मनी के संविधान की जांच कीजिए, फ्रांस का संविधान जांचिए, इटली के संविधान की परीक्षा कीजिए, इंग्लैंड का संविधान देखिए और संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान देखिए। 'एक राज्य, एक भाषा' यही नियम है।

जहां कहीं भी इस नियम से विचलन हुआ है, वहीं राज्य के लिए खतरा पैदा हो गया है। मिश्रित भाषावार राज्यों के उदाहरण प्राचीन आस्ट्रियन साम्राज्य और प्राचीन तुर्की साम्राज्य में मौजूद हैं। वे इसलिए नष्ट हो गए, क्योंकि वे बहुभाषी राज्य थे और बहुभाषी राज्यों के सभी गुणावगुण उनमें विद्यमान थे। भारत का भी यही हश्र होगा, अगर यह मिश्रित राज्यों का समूह बना रहा।

एक भाषी राज्य की स्थिरता और बहुभाषी राज्य की अस्थिरता के कारण सर्वथा स्पष्ट हैं। किसी भी राज्य की बुनियाद भाईचारे पर रखी जाती है। यह भाईचारा या सहानुभूति क्या है? संक्षेप में कहा जाए तो यह एकत्व की सामूहिक भावना की अनुभूति होती है, जो उन लोगों को, जिनमें यह भावना है, उन्हें यह अहसास दिलाती है कि वे आपस में भाई-भाई हैं। यह भावना दुधारी भावना होती है। यह किसी के अपनों के प्रति भाईचारे का भाव भी है और दूसरों के प्रति भाईचारे के अभाव की भावना भी। यह 'समजातीयता की चेतना' का भाव है जो एक ओर तो उन लोगों को, जिनमें यह भाव इतना प्रबल होता है कि वे आर्थिक संघर्षों या सामाजिक श्रेणीकरण से उत्पन्न सभी भेदभावों की अवहेलना करते हैं 'एकता के सूत्र में बांधता है', और दूसरी ओर उन्हें उन लोगों से अलग करता है, जो उनके समजातीय नहीं होते। यह किसी अन्य वर्ग के न होने की इच्छा को प्रकट करता है।

इस भाईचारे की भावना का अस्तित्व ही एक स्थिर और लोकतांत्रिक राज्य का आधार है।

भाषावार राज्य इतना आवश्यक क्यों है, उसका यह एक कारण है। लेकिन कोई राज्य एक भाषी ही क्यों हो, इसके कुछ अन्य कारण भी हैं। 'एक राज्य, एक भाषा' का नियम क्यों आवश्यक है, इसके दो कारण हैं।

एक कारण तो यह है कि यदि राज्य में रहने वाले लोगों में भ्रातृत्व-भावना का अभाव हो तो लोकतंत्र बिना संघर्ष के चल ही नहीं सकता। नेतृत्व के लिए दो दलों में लड़ाई-झगड़े और प्रशासन में भेदभाव का व्यवहार, ये दो तत्व किसी भी मिश्रित भाषावार (द्विभाषी) में सदा बने रहते हैं और उनका लोकतंत्र के साथ निर्वाह नहीं हो सकता।

मिश्रित भाषायी राज्य में लोकतंत्र क्यों असफल रहता है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण वर्तमान बंबई राज्य है। मुझे राज्य पुनर्गठन आयोग के इस सुझाव पर आश्चर्य होता है कि वर्तमान बंबई राज्य को यथावत् रहने दिया जाए, ताकि हम यह अनुभव प्राप्त कर सकें कि मिश्रित राज्य किस प्रकार उन्नति कर सकता है। बंबई विगत 20 वर्षों से मिश्रित भाषावार राज्य चला आ रहा है, जहां महाराष्ट्रीयों और गुजरातियों में घोर शत्रुता है, केवल विचार शून्य या अन्यमनस्क व्यक्ति ही इस प्रकार का मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव पेश कर सकता है। मिश्रित भाषावार राज्य में लोकतंत्र की असफलता का एक और दृष्टांत है, भूतपूर्व मद्रास राज्य। मिश्रित राज्य के रूप में संयुक्त भारत का गठन और भारत का भारत और पाकिस्तान के रूप में अनिवार्य विभाजन मिश्रित राज्य में लोकतंत्र संभव न होने के अन्य दृष्टांत हैं।

'एक राज्य, एक भाषा' के नियम का अपनाया जाना क्यों आवश्यक है, इसका दूसरा कारण यह है कि जातीय तथा सांस्कृतिक विरोध का यही एकमात्र समाधान है।

तमिल आंध्रवासियों से और आंध्रवासी तमिलों से क्यों घृणा करते हैं? हैदराबाद के आंध्रवासी महाराष्ट्रीयों से और महाराष्ट्रीय आन्ध्रवासियों से क्यों घृणा करते हैं? इसका सीधा उत्तर है। ऐसा नहीं है कि उन दोनों में कोई स्वाभाविक वैर-भाव है। घृणा का कारण यह है कि उन्हें एक-दूसरे के साथ-साथ रख दिया गया है और वे सरकार जैसी भागीदारी के आम चक्र में भाग लेने के लिए बाध्य कर दिए गए हैं। इसके अलावा इस प्रश्न का कोई और उत्तर नहीं है।

जब तक यह जोर-जबरदस्ती आमने-सामने रहने वाली स्थिति बनी रहेगी, इन दोनों में शांति स्थापित नहीं होगी।

ऐसे लोग भी हैं, जो कनाडा, स्विटजरलैंड और दक्षिण अफ्रीका के उदाहरण देते हैं। सच तो यह है कि इन द्विभाषी राज्यों का अस्तित्व है, लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारत की प्रकृति और कनाडा, स्विटजरलैंड तथा दक्षिण अफ्रीका की प्रकृति सर्वथा भिन्न है। भारत की प्रकृति विभाजन की है तो स्विटजरलैंड, दक्षिण अफ्रीका और कनाडा की एकीकरण की।

यह बात कि वे अब तक एक रहे हैं, स्वाभाविक घटना नहीं है। इसका कारण यह है कि ये दोनों कांग्रेस के अनुशासन से बंधे हुए हैं। लेकिन सवाल यह है कि कांग्रेस कब तक

टिकी रहेगी। कांग्रेस पं. नेहरू से है और पं. नेहरू कांग्रेस से। लेकिन क्या पं. नेहरू अमर हैं? जो भी व्यक्ति इन प्रश्नों पर गौर करेगा, वह इस बात को स्वीकार करेगा कि कांग्रेस 'सूरज और चांद की तरह सदा' नहीं रहेगी। एक न एक दिन उसका अंत होगा। हो सकता है, उसका अगले निर्वाचन के पहले ही अंत हो जाए। जब ऐसा हो जाएगा तो बंबई राज्य में गृह युद्ध छिड़ जाएगा और उसके लिए प्रशासन चलाना दूभर हो जाएगा।

इसलिए हम दो कारणों से भाषावार राज्यों की स्थापना चाहते हैं। लोकतंत्र के लिए मार्ग प्रशस्त करने और जातीय तथा सांस्कृतिक तनाव को दूर करने के लिए।

भाषावार राज्यों की स्थापना की दिशा में भारत सही मार्ग पर अग्रसर है। यह वही रास्ता है, जो सभी राज्यों ने अपनाया है। अन्य भाषावार राज्यों के संबंध में भी शुरू से ऐसा ही होता आया है। जहां तक भारत का संबंध है, उसे यदि अपने लक्ष्य तक पहुंचाना है तो उसे कुछ पीछे की ओर जाना होगा। लेकिन जिस रास्ते पर उसे चलना है, वह उसका जाना-परखा रास्ता है। यह वही रास्ता है, जिस पर दूसरे राज्य चल रहे हैं।

भाषावार राज्य के लाभ गिनवाने के बाद अब मुझे भाषावार राज्य के खतरों की ओर भी इंगित कर देना चाहिए।

भाषावार राज्य,जिसकी राजभाषा उसकी क्षेत्रीय भाषा हो, बहुत आसानी से एक स्वतंत्र राष्ट्र बन सकता है। स्वाधीन राष्ट्र और स्वाधीन राज्य के बीच का मार्ग बहुत संकरा होता है। यदि यह हो जाए तो भारत वैसा आधुनिक भारत नहीं रहेगा, जैसा इस समय है, बल्कि मध्ययुगीन भारत बन जाएगा, जिसमें विभिन्न प्रकार के राज्य होंगे, जो प्रतिद्वंद्विता और युद्ध में लगे रहेंगे।

जाहिर है कि भाषावार राज्यों के गठन में यह खतरा मौजूद है। लेकिन भाषावार राज्यों के न होने का खतरा भी कुछ कम नहीं। जहां तक भाषावार राज्यों के गठन के खतरों का सवाल है, कोई बुद्धिमान और दृढ़ राजनेता उससे बचाव का रास्ता निकाल सकता है। लेकिन मिश्रित भाषावार राज्य के खतरे उनसे कहीं अधिक हैं और उन पर नियंत्रण करना किसी राजनेता के बस की बात नहीं होगी, चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठित क्यों न हो।

इस खतरे का सामना कैसे किया जाए? मेरे विचार में इस खतरे से तभी निपटा जा सकता है, जब संविधान में यह व्यवस्था रखी जाए कि क्षेत्रीय भाषा किसी भी राज्य की राजभाषा नहीं होगी। राज्य की राजभाषा हिन्दी रहेगी और जब तक भारत इस प्रयोजन के लिए योग्य न हो जाए, अंग्रेजी बनी रहेगी। क्या भारतवासी इसे स्वीकार करेंगे? यदि वे इसे स्वीकार नहीं करते तो भाषावार राज्य सहज ही देश के लिए खतरा बन जाएंगे।

एक भाषा जनता को एक सूत्र में बांध सकती है। दो भाषाएं निश्चय ही जनता में फूट डाल देंगी। यह एक अटल नियम है। भाषा, संस्कृति की संजीवनी होती है। चूंकि भारतवासी एकता चाहते हैं और एक समान संस्कृति विकसित करने के इच्छुक हैं, इसलिए सभी भारतीयों का यह भारी कर्तव्य है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में अपनाएं।

कोई भी भारतीय, जो इस प्रस्ताव को भाषावार राज्य के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार नहीं करता, भारतीय कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। वह शत-प्रतिशत महाराष्ट्रीय, शत-प्रतिशत तमिल या शत-प्रतिशत गुजराती तो हो सकता है, किंतु वह सही अर्थ में भारतीय नहीं हो सकता, चाहे भौगोलिक अर्थ में भारतीय हो। यदि मेरा सुझाव स्वीकार नहीं किया जाता तो भारत, भारत कहलाने का पात्र नहीं रहेगा। वह विभिन्न जातियों का एक समूह बन जाएगा, जो एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ाई-झगड़े और प्रतिस्पर्धा में रत रहेगा।

लगता है, भारत और भारतवासियों पर परमेश्वर का भारी प्रकोप है और वह कह रहा है, 'तुम भारतीयों में हमेशा फूट रहेगी और तुम हमेशा दास बने रहोगे।'

भारत के पाकिस्तान से अलग होने पर मुझे खुशी हुई। कहना चाहिए, पाकिस्तान की कल्पना मेरी ही थी। मैंने ही देश-विभाजन की वकालत की थी, क्योंकि मैं यह महसूस करता था कि केवल विभाजन ही ऐसा विकल्प है, जिसके फलस्वरूप हिन्दू न केवल स्वाधीन हो सकेंगे, वरन् मुक्त भी। यदि भारत और पाकिस्तान एक ही राज्य में एकजुट रहते तो हिन्दू स्वाधीन तो हो जाते, किंतु वे मुसलमानों के वशीभूत रहते। स्वाधीन हो जाने मात्र से भारत हिन्दुओं के दृष्टिकोण से स्वतंत्र भारत न रह पाता। यह एक देश की दो राष्ट्रों द्वारा संचालित सरकार बन जाती और इन दोनों में से मुसलमान ही निःसंदेह शासक जाति बन जाते और हिन्दू महासभा और जनसंघ मूक-दर्शक बनकर रह जाते। जब देश का बंटवारा हुआ तो मैंने महसूस किया कि परमेश्वर अपना प्रकोप वापस लेने और भारत को संयुक्त, महान और समृद्ध बनाने के लिए सहमत हो गया है। लेकिन मुझे डर है कि यह प्रकोप फिर हो सकता है, क्योंकि मैं देख रहा हूं कि जो भाषावार राज्यों के गठन का समर्थन कर रहे हैं, उनके मन में यही है कि क्षेत्रीय भाषा को ही उनकी राजभाषा बनाया जाए।

ऐसा संयुक्त भारत के आदर्श के लिए घातक होगा। यदि क्षेत्रीय भाषाएं राजभाषाएं बन गईं तो भारत को एक संयुक्त देश बनाने और भारतीयों को पक्का भारतीय बनाने का आदर्श ही समाप्त हो जाएगा। मैं तो इसका हल ही सुझा सकता हूं। उस पर सोच-विचार करना भारतवासियों का काम है।

अध्याय 4

क्या एक भाषा के लिए एक ही राज्य होना आवश्यक है?

भाषावार राज्य से क्या अभिप्राय है?

इससे अभिप्राय इन दो में से एक हो सकता है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि एक भाषा-भाषियों को एक ही राज्य के अधिकार क्षेत्र में रखा जाए। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि एक भाषा बोलने वाले लोगों को कई राज्यों में वर्गीकृत कर दिया जाए, बशर्ते कि प्रत्येक राज्य के अधिकार क्षेत्र में वे लोग रहें, जो एक ही भाषा बोलते हों। इनमें से कौन सी व्याख्या सही है?

आयोग का मत था कि एक ही भाषा बोलने वाले सभी लोगों के लिए एक ही राज्य का गठन एकमात्र नियम है, जिसका पालन किया जाए।

पाठक मानचित्र 1 पर दृष्टि डालें। उन्हें प्रथम दृष्टि में ही उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच असमानता दिखाई पड़ जाएगी। यह असमानता जबरदस्त है। छोटे राज्यों के लिए बड़े राज्यों का भार सहना असंभव हो जाएगा।

आयोग ने यह महसूस ही नहीं किया कि यह असमानता कितनी खतरनाक है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की असमानता संयुक्त राज्य अमरीका में मौजूद है। लेकिन इससे जो हानि हो सकती थी, उसका परिहार संयुक्त राज्य के संविधान के उपबंधों से हो गया है।

संयुक्त राज्य के संविधान में ऐसे ही एक रक्षोपाय का निर्देश श्री पणिक्कर ने रिपोर्ट में अपने असहमति लेख में किया है (देखें सारणी 2)।

मैं नीचे उनके असहमति लेख का उद्धरण दे रहा हूं :

> मैं संघ के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक समझता हूं कि इकाइयों में समुचित संतुलन बना रहे। यदि असमानता बहुत भारी हुई तो उससे न केवल संदेह और विद्वेष पैदा होगा, बल्कि उससे ऐसी शक्तियों को बल मिलेगा, जिनसे न केवल संघीय ढांचे ही को क्षति पहुंचेगी, वरन् देश की एकता भी खतरे में पड़ जाएगी। इस बात को सभी ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अधिकांश संघीय संविधानों में, जहां इकाई की जनसंख्या और संसाधनों को लेकर व्यापक विभिन्नता मौजूद है, इस विषय में सावधानी बरती गई है कि बड़े राज्यों के प्रभाव और प्राधिकार को सीमित रखा जाए। अतः यदि संयुक्त राज्य अमरीका का ही उदाहरण लिया जाए तो हम देखते हैं कि यद्यपि वहां के राज्यों में जनसंख्या और संसाधनों की दृष्टि से भारी अंतर है और न्यूयार्क राज्य की जनसंख्या नवाडा की जनसंख्या से कई गुना अधिक है, लेकिन संविधान के अनुसार सीनेट में प्रत्येक राज्य को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

इसी मुद्दे पर श्री पणिक्कर ने सोवियत संघ और प्राचीन जर्मनी का भी निर्देश किया है। उनका कहना है:

सोवियत संघ में भी, जहां बृहत रूस की जनसंख्या संघ की अधिकांश अन्य इकाइयों की कुल जनसंख्या से अधिक है, राष्ट्रसभा में प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ा दी गई है, ताकि संघ की अन्य इकाइयों पर बड़ी इकाई की प्रधानता न हो जाए। बिस्मार्क के राज्य में भी यद्यपि जनसंख्या की दृष्टि से प्रशिया की प्रधानता थी, उसे संसद या राज्यसभा में उसके अधिकार से कम प्रतिनिधित्व (एक-तिहाई से कम) दिया गया था और उस संख्या का स्थायी अध्यक्ष पद बवेरिया को प्राप्त था, जो स्पष्ट रूप से यह प्रकट करता है कि यहां भी, जहां एक ही राज्य में राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण था, संघ के हित में यह आवश्यक समझा गया था, ताकि छोटी इकाइयों को अधिक महत्व दिया जाए और साथ

ही प्रशिया का, जिसे लोकसभा (रीखास्टेग) में कहीं अधिक शक्तियां प्राप्त थीं। राज्यसभा (रीखस्राट) में अल्पमत की स्थिति रहे।

श्री पणिकर ने अलबत्ता संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में असमानता की कुरीतियों के विरुद्ध एक अन्य रक्षोपाय का उल्लेख नहीं किया है। हमारे संविधान के अनुसार दोनों सदन प्राधिकार की दृष्टि से समान अधिकारी नहीं हैं। लेकिन संयुक्त राज्य के संविधान में स्थिति भिन्न है। संयुक्त राज्य अमरीका में दोनों सदन प्राधिकार की दृष्टि से समान हैं। यहां तक कि धन-विधेयकों के लिए भी सीनेट की सहमति आवश्यक होती है। भारत में ऐसा नहीं है। इससे जनसंख्या की असमानता में भारी अंतर पड़ जाता है।

राज्यों के बीच जनसंख्या और शक्ति की इस असमानता से देश की निश्चित रूप से हानि होती है। इसलिए इसकी रोकथाम के उपाय करना आवश्यक है।

अध्याय 5

उत्तर बनाम दक्षिण

आयोग ने संयुक्त प्रांत और बिहार में यथापूर्व स्थिति बनाए रखकर और उनके साथ एक नया और बड़ा राजस्थान समेत मध्य प्रदेश जोड़कर राज्यों के बीच केवल असमानता ही पैदा नहीं की है, ऐसा करके उसने उत्तर बनाम दक्षिण की एक नई समस्या भी खड़ी कर दी है।

उत्तर, हिन्दी-भाषी है। दक्षिण, अहिन्दी-भाषी है। अधिकांश लोगों को यह भी नहीं मालूम है कि हिन्दी-भाषी लोगों की संख्या क्या है। यह भारत की कुल जनसंख्या का 48 प्रतिशत है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कोई यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आयोग के इस प्रयास का परिणाम उत्तर का समेकन और दक्षिण का विभाजन होगा।

क्या दक्षिण वाले उत्तर वालों का प्रभुत्व सहन कर सकते हैं?

अब यदि मैं जनता के सामने यह भेद खोल दूं कि जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने के प्रश्न को लेकर भारत के संविधान के प्रारूप पर विचार-विमर्श हो रहा था, कांग्रेस दल में क्या हुआ तो इसे गोपनीयता भंग नहीं कहा जाएगा। कोई भी अनुच्छेद इतना विवादास्पद सिद्ध नहीं हुआ जितना कि अनुच्छेद 115, जो उस प्रश्न से संबंधित था। किसी भी अनुच्छेद पर इतना विरोध नहीं था। किसी अन्य अनुच्छेद पर इतनी गरमा-गरमी नहीं हुई। लंबी बहस के बाद, जब इस प्रश्न पर मतगणना हुई तो पक्ष तथा विपक्ष, दोनों में 78-78 मत पड़े। इस बराबरी का कोई समाधान नहीं हो पाया। काफी समय के बाद जब यही मसला कांग्रेस दल की बैठक में पेश हुआ तो 77 के मुकाबिले में हिन्दी के पक्ष में 78 मत पड़े। हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का स्थान एक मत से जीत लिया। मैं यह तथ्य अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर प्रस्तुत कर रहा हूं, क्योंकि प्रारूप समिति के अध्यक्ष के नाते मुझे कांग्रेस दल के अहाते में प्रवेश करने का अधिकार था।

इन तथ्यों से पता चलता है कि दक्षिण को उत्तर से कितनी अरुचि थी। यदि उत्तर अखंड रहे और दक्षिण का विघटन हो जाए और यदि उत्तर भारत की राजनीति को विषम रूप से प्रभावित करता रहा, तो यही अरुचि घृणा का रूप भी धारण कर सकती है (देखें मानचित्र 1)।

किसी राज्य को केंद्र में इतनी प्रधानता देना खतरनाक है। श्री पणिक्कर ने विषय के इस पक्ष का भी निर्देश किया है। अपने असहमति लेख में वह कहते हैं :

> इकाइयों की समानता के संघीय सिद्धांत की अस्वीकृति से उत्पन्न वर्तमान असंतुलन का यह परिणाम हुआ है कि उत्तर प्रदेश के इतर सभी राज्यों में अविश्वास और विद्वेष की भावना उत्पन्न हो गई है। न केवल दक्षिणी राज्यों में, बल्कि पंजाब, बंगाल और अन्यत्र भी आयोग के समक्ष यह विचार व्यक्त किया गया कि शासन के वर्तमान गठन के फलस्वरूप अखिल भारतीय विषयों में उत्तर प्रदेश की प्रधानता हो गई है। इस भावना के मौजूद होने से शायद ही कोई इन्कार कर सकेगा। कोई इस बात का भी खंडन नहीं करेगा कि यदि इस प्रकार की भावनाएं बनी रहीं और उनका कोई उपचार आज ही नहीं किया गया, तो इससे हमारी एकता को खतरा पैदा हो जाएगा।

उत्तर और दक्षिण में भारी अंतर है। उत्तर रूढ़िवादी है, तो दक्षिण प्रगतिशील। उत्तर में अंधविश्वासी हैं, तो दक्षिण में बुद्धिवादी। दक्षिण शिक्षा की दृष्टि से आगे है, तो उत्तर पिछड़ा हुआ। दक्षिण की संस्कृति आधुनिक है, तो उत्तर की संस्कृति प्राचीन।

क्या प्रधानमंत्री नेहरू 15 अगस्त 1947 को उस यज्ञ में नहीं बैठे थे, जो बनारस के ब्राह्मणों ने एक ब्राह्मण के स्वतंत्र और स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बनने के उपलक्ष में किया था। क्या उन्होंने वह राजदंड ग्रहण नहीं किया था, जो उन ब्राह्मणों ने उन्हें दिया था और वह गंगाजल नहीं पिया था, जो वे लेकर आए थे?

ऐसी कितनी स्त्रियां हैं, जिन्हें हाल ही में सती होने और अपने मृत पतियों की चिता पर बलि हो जाने के लिए विवश नहीं किया गया? क्या हाल ही में राष्ट्रपति ने बनारस जाकर ब्राह्मणों की पूजा नहीं की थी, उनका पाद-प्रक्षलन करके जल-पान नहीं किया?

उत्तर भारत में अब भी सती-साध्वी और नंगे साधू मौजूद हैं। पिछले हरिद्वार मेले के अवसर पर नंगे साधुओं ने कैसा हंगामा किया था। क्या उत्तर प्रदेश में किसी ने उसका विरोध किया?

उत्तर भारत का शासन भला दक्षिण वाले कैसे सहन कर सकते हैं? दक्षिण में उत्तर से अपने को पृथक करने के आसार दिखाई दे रहे हैं।

श्री राजगोपालाचारी ने राज्य पुनर्गठन आयोग सिफारिशों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए वक्तव्य दिया है, जो 27 नवम्बर, 1955 के 'टाइम्स आफ इंडिया.' में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने कहा है :

यदि राज्य पुनर्गठन संबंधी योजनाओं को अगले 15 वर्षों के लिए स्थगित करना असंभव है, तो केन्द्र के पास एक ही विकल्प रह जाता है कि वह भारत पर ऐकिक राज्य के रूप में शासन करे और जिला अधिकारियों तथा जिला बोर्डों का काम क्षेत्रीय आयुक्तों की निगरानी में सीधे निपटाए।

राष्ट्र की शक्ति को उन सीमाओं और खंडों के विवाद में नष्ट करना सर्वथा अनुचित होगा, जिन पर इतिहास-जन्य परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में नहीं, बल्कि ड्राइंग रूप में बैठकर विचार किया गया है।

अपने सामान्य विश्वासों के अतिरिक्त, मैं यह अनुभव करता हूं कि एक विशाल दक्षिणी राज्य की परमावश्यकता है, जिससे कि देश के उस भाग की राजनीतिक विशेषता को बनाए रखा जा सके। दक्षिण का तमिल, मलयालम और अन्य छोटे-छोटे राज्यों में टुकड़े कर देने का यही परिणाम होगा कि हरेक राज्य की अस्मिता धूमिल हो जाएगी और फलस्वरूप भारत की कुल मिलाकर हानि होगी।

श्री राजगोपालाचारी ने अपने विचार पूरी तरह से व्यक्त नहीं किए हैं। लेकिन उन्होंने मुझसे अपनी बात पूरी तरह और खुलकर उस समय कही थी, जब वे राज्याध्यक्ष थे और मैं विधि मंत्री था, जिसे संविधान का प्रारूप तैयार करने का दायित्व सौंपा गया था। मैं श्री राजगोपालाचारी से अपनी सामान्य भेंट के लिए गया था, जो उस समय की परिपाटी थी। ऐसी ही एक भेंट में श्री राजगोपालाचारी ने उस संविधान का हवाला देते हुए, जिसका संविधान सभा निर्माण कर रही थी, मुझसे कहा, ''आप भारी गलती कर रहे हैं। समस्त भारत के लिए एक परिसंघ, जिसमें सभी क्षेत्रों का समान प्रतिनिधित्व हो, सफल नहीं हो पाएगा। ऐसे परिसंघ में भारत का प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति हमेशा हिन्दी-भाषी क्षेत्र से हुआ करेगा। आपको दो परिसंघों की व्यवस्था करनी चाहिए, एक परिसंघ उत्तर के लिए, एक दक्षिण के लिए और उत्तर तथा दक्षिण का एक संयुक्त परिसंघ, जिसके पास कानून बनाने के लिए तीन विषय हों और जिसमें दोनों परिसंघों का समान प्रतिनिधित्व हो।''

ये श्री राजगोपालाचारी के वास्तविक विचार थे। मुझे लगा, जैसे आकाशवाणी हुई हो, क्योंकि ये विचार एक कांग्रेसी के अंतस्तल से निकले उद्‌गार थे। अब मैं श्री राजगोपालाचारी को भविष्यवक्ता मानता हूं, क्योंकि उन्होंने भारत के उत्तर तथा दक्षिण में विभक्त हो जाने की भविष्यवाणी की थी। हमें श्री राजगोपालाचारी की भविष्यवाणी को झुठलाने के लिए हर संभव प्रयास करना चाहिए।

यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि अमरीका में उत्तर और दक्षिण के बीच गृह युद्ध हुआ था। भारत के उत्तर और दक्षिण में भी गृह युद्ध छिड़ सकता है। इस प्रकार के संघर्ष का मार्ग समय प्रशस्त करेगा। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उत्तर और दक्षिण में भारी सांस्कृतिक मतभेद है और सांस्कृतिक मतभेद बहुत जल्दी भड़क जाते हैं।

उत्तर के समेकन और दक्षिण के विघटन की बात सोचते हुए आयोग ने यह महसूस नहीं किया कि वे केवल भाषायी समस्या का हल तलाश नहीं कर रहे हैं, बल्कि एक राजनीतिक समस्या से जूझ रहे हैं। यदि इसी समय ऐसे संकट के निवारण के लिए कदम न उठाए गए, तो यह राजनेताओं के लिए अत्यंत लज्जास्पद बात होगी। लेकिन इसका उपचार कैसे हो?

भाग III

समाधान

अध्याय 6

उत्तर का विभाजन

अब जब कि हम समस्या से अवगत हो चुके हैं, हमें इसका हल ढूंढ़ना चाहिए। हल, जाहिर है, यही हो सकता है कि हम राज्य के आकार का निर्धारण करने के लिए कोई मानदंड अपना लें। इस प्रकार का मानदंड निश्चित करना सरल नहीं है। यदि दो करोड़ की जनसंख्या को मानदंड मान लिया जाए तो दक्षिण के अधिकांश राज्य मिश्रित राज्य बन जाएंगे। इसलिए उत्तरी राज्यों के संकट का सामना करने के लिए दक्षिणी राज्यों का आकार बढ़ाना असंभव है। इसका एकमात्र समाधान यही है कि उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश जैसे उत्तरी राज्यों के टुकड़े कर दिए जाएं। मेरी समझ में नहीं आता कि यह हल कांग्रेस कार्यकारिणी समिति को क्यों नहीं सूझा। यह तो पूरा स्पष्ट है।

उत्तरी राज्यों का विभाजन

जैसा कि मैं कह चुका हूं आयोग ने भाषावार राज्यों की रूपरेखा तैयार करते समय उत्तर का समेकन और दक्षिण का विघटन कर दिया है। मुझे विश्वास है कि आयोग ने ऐसा जान बूझकर नहीं किया है। लेकिन जानबूझकर कर किया या अनजाने में, तथ्य यही है। इसके दुष्परिणाम भी स्पष्ट हैं।

इसलिए यह जरूरी है कि इस स्थिति को सुधार लिया जाए। और इसका एकमात्र तरीका यही है कि (1) उत्तर प्रदेश, (2) बिहार, और (3) मध्य प्रदेश इन तीन राज्यों को छोटी-छोटी इकाइयों में बांट दिया जाए।

इस संबंध में मैं कुछ सुझाव देना चाहता हूं।

इस विभाजन से भाषावार राज्य के मूल सिद्धांतों का कोई विरोध नहीं है, इसलिए कि यदि इन राज्यों का सुझाए गए ढंग से विभाजन किया जाए, तो शेष प्रत्येक राज्य भाषावार राज्य हो जाएगा।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री पंत ने हाल ही में इसी विषय पर संसद में हुई बहस के दौरान कहा कि मुझे उत्तर प्रदेश के बंट जाने पर कोई आपत्ति नहीं है। उन्होंने जो कुछ उत्तर प्रदेश के बारे में कहा, वही बिहार और मध्य प्रदेश पर भी लागू होता है।

उत्तर प्रदेश का विभाजन – मेरा उत्तर प्रदेश के बारे में यह प्रस्ताव है कि उसे तीन राज्यों में विभक्त कर दिया जाए (देखें मानचित्र 2)। इनमें से प्रत्येक राज्य की जनसंख्या लगभग 2 करोड़ हो, जिसे किसी भी राज्य के कारगर प्रशासन के लिए जनसंख्या का मानक आकार मान लिया जाए। इन तीन राज्यों की सीमा रेखाएं कहां खींची जाएं, इसका निर्देश मैंने संलग्न मानचित्र सं. 2 में किया है।

उत्तर प्रदेश के तीन राज्यों की राजधानियां (1) मेरठ, (2) कानपुर, और (3) इलाहाबाद हो सकती हैं। ये तीनों नगर प्रत्येक राज्य के बिल्कुल बीच में स्थित हैं।

बिहार का विभाजन – बिहार के संबंध में मेरा प्रस्ताव यह है कि इसे दो राज्यों में बांटा जाए (देखें मानचित्र 3)। इन दो राज्यों में प्रत्येक की जनसंख्या डेढ़ करोड़ से कुछ अधिक होगी। किसी भी सरकार के लिए प्रशासन के प्रयोजन के लिए यह कोई छोटी जनसंख्या नहीं है।

सीमा-रेखाओं का निर्देश मैंने संलग्न मानचित्र सं. 3 में किया है।

बिहार के इन दो राज्यों की राजधानियां (1) पटना, और (2) रांची हो सकती हैं। ये दोनों राज्यों के ठीक बीच में स्थित हैं।

मध्य प्रदेश का विभाजन – मध्य प्रदेश के हमारे सामने दो रूप हैं, पुराना मध्य प्रदेश और नया मध्य प्रदेश।

पुराने मध्य प्रदेश में निम्नलिखित राज्य आते हैं :

(1) वह प्रांत जो किसी समय मध्य प्रांत और बरार कहलाता था, और

(2) पूर्वी राज्यों के नाम से विदित राज्यों में से कुछ भारतीय राज्य।

मध्य प्रदेश के इस पुराने राज्य की जनसंख्या ढाई करोड़ थी। इसमें 22 जिले थे। इसकी विधानसभा के 223 सदस्य थे।

नए मध्य प्रदेश में जिसकी आयोग ने योजना बनाई है, निम्नलिखित क्षेत्र होंगे :

(1) पुराने मध्य प्रदेश के 14 जिले,

(2) संपूर्ण भोपाल,

(3) संपूर्ण विंध्य प्रदेश,

(4) मध्य भारत जिसमें सुनेल इन्कलेव और मंदसौर जिला होगा, और

(5) राजस्थान के कोटा जिले का सिरोंज उप-खंड।

इस नए मध्य प्रदेश की कुल जनसंख्या 2 करोड़ 60 लाख 10 हजार और क्षेत्रफल लगभग 171.200 वर्गमील होगा।

मेरा सुझाव है कि इसे दो राज्यों में बांटा जाए : (1) उत्तरी मध्य प्रदेश, और (2) दक्षिणी मध्य प्रदेश (देखें मानचित्र 4)।

उत्तरी मध्य प्रदेश के नए राज्य में निम्नलिखित क्षेत्र शामिल होंगे :

(1) संपूर्ण विंध्य प्रदेश और

(2) संपूर्ण भोपाल राज्य।

दक्षिणी मध्य प्रदेश के राज्य में ये होंगे :

(1) संपूर्ण इन्दौर राज्य, और

(2) महाकोशल के 14 जिले।

इस इन्दौर राज्य की जनसंख्या लगभग 2 करोड़ होगी और इस विंध्य प्रदेश की जनसंख्या लगभग 1 करोड़ 30 लाख (देखें मानचित्र 4)।

आयोग ने इस भीमाकार राज्य की रचना क्यों की, यह हमारी समझ से बाहर है। प्रधानमंत्री नेहरू को भी इसकी रचना पर आश्चर्य हुआ था।

हमारी समझ में केवल इतना आता है कि आयोग की शायद यह धारणा रही हो कि एक भाषा, एक राज्य ऐसा सुस्पष्ट आदेश है, जिससे विचलन संभव नहीं। जैसा कि मैं बता चुका हूं, एक भाषा, एक राज्य कभी सुस्पष्ट आदेश हो ही नहीं सकता। वास्तव में 'एक भाषा, एक राज्य' हमारा मापदंड होना चाहिए। और इसीलिए एक भाषा-भाषी अपने को कई राज्यों में बांट सकते हैं।

अध्याय 7

महाराष्ट्र की समस्याएं और समाधान

महाराष्ट्र भी एक और क्षेत्र है, जो विवाद का विषय बना हुआ है। इसके हल के लिए चार प्रस्ताव मैदान में हैं :

(1) बंबई राज्य को यथावत बना रहने दिया जाए, अर्थात् इसे एक मिश्रित राज्य रहने दिया जाए, जिसमें महाराष्ट्र, गुजरात और बंबई तीनों आ जाएं।

(2) वर्तमान राज्य को भंग कर दिया जाए, महाराष्ट्र और गुजरात को अलग-अलग कर दिया जाए और उनके दो पृथक-पृथक राज्य बना दिए जाएं।

(3) संयुक्त महाराष्ट्र बना दिया जाए, जिसका बंबई भी एक राज्य हो।

(4) बंबई को महाराष्ट्र से अलग करके उसे एक पृथक नगर राज्य बना दिया जाए।

मैं यहां अपने प्रस्ताव भी प्रस्तुत करता हूं, जो इस प्रकार हैं :

बंबई को मिश्रित राज्य न रहने दिया जाए।

मैं महाराष्ट्र को चार राज्यों में विभक्त करने के पक्ष में हूं (देखें मानचित्र 5) : (1) महाराष्ट्र नगर राज्य (बंबई), (2) पश्चिमी महाराष्ट्र, (3) मध्य महाराष्ट्र, और (4) पूर्वी महाराष्ट्र।

महाराष्ट्र नगर राज्य - बंबई नगर जिसमें महाराष्ट्र का वह क्षेत्र सम्मिलित हो, जो उसे एक अच्छा और सशक्त नगर राज्य बना सके।

पश्चिमी महाराष्ट्र - (1) थाना, (2)कोलाबा, (3) रत्नागिरी, (4) पूना, (5) उत्तर सतारा, (6) दक्षिण सतारा, (7) कोल्हापुर, और (8) मराठी भाषी क्षेत्र जो कर्नाटक को दे दिए गए हैं।

मध्य महाराष्ट्र - (1) डोंगा, (2) पूर्व खानदेश, (3) पश्चिम खानदेश, (4) नासिक, (5) अहमदनगर, (6) औरंगाबाद, (7) नांदेड़, (8) परभणी, (9) बीड़, (10) उस्मानाबाद, (11) शोलापुर सिटी और शोलापुर जिले का मराठी-भाषी क्षेत्र, और (12) वे मराठी भाषी क्षेत्र, जो तेलंगाना को सौंप दिए गए हैं।

पूर्वी महाराष्ट्र - (1) बुलढाना, (2) यवतमाल, (3) अकोला, (4) अमरावती, (5) वर्धा, (6) चांदा, (7) नागपुर, (8) भंडारा, और (9) वे मराठी भाषी क्षेत्र, जो हिन्दी राज्यों को दे दिए गए हैं।

अब मैं इन प्रस्तावों के गुण-दोषों की जांच करूंगा।

महाराष्ट्रीय मिश्रित राज्य के अधीन रहें

क्या बंबई को मिश्रित राज्य बना रहने दिया जाए। यह बहुत ही असामान्य प्रक्रिया है। कलकत्ता नगर पृथक नगर राज्य नहीं है। मद्रास पृथक नगर राज्य नहीं है। फिर बंबई को ही क्यों अपवाद बनाया जाए?

दूसरा कारण यह है कि यह पहले ही से मिश्रित राज्य है। इस मिश्रित राज्य के अधीन रहने पर महाराष्ट्रीयों का क्या अनुभव है? महाराष्ट्रीयों को इस मिश्रित राज्य में रहने से बहुत नुकसान हुआ। बंबई मंत्रिमंडल में महाराष्ट्रीयों की क्या स्थिति है? आइए मंत्री पदों के बंटवारे पर विचार करें:

गुजराती मंत्री	-	4
मराठी मंत्री	-	4
कन्नड मंत्री	-	1
योग	-	9

विधानसभा में गुजराती सदस्य केवल 106 हैं, मराठी सदस्य 149 हैं, लेकिन इसके बावजूद गुजराती मंत्रियों की संख्या महाराष्ट्रीय मंत्रियों के बराबर है। अब उप-मंत्रियों का विभाजन देखें :

मराठी-भाषी	-	5
गुजराती-भाषी	-	2
कन्नड़-भाषी	-	2
योग	-	9

केवल उप-मंत्रियों में महाराष्ट्रीयों का एक से बहुमत है। लेकिन सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि मंत्रियों में शक्ति और विषय की दृष्टि से किस प्रकार का विभाजन हुआ

है। यह बताता है कि बंबई राज्य के मिश्रित मंत्रिमंडल में महाराष्ट्रीयों को किस प्रकार की शक्ति और प्राधिकार दिया गया है।

मंत्रियों में विषयों का विभाजन

गुजराती मंत्री			महाराष्ट्रीय मंत्री		
1. मोरारजी देसाई	- 105	विषय	1. हीरे	- 49	विषय
2. दिनकर राव देसाई	- 26	विषय	2. निम्बालकर	- 20	विषय
3. जीवराज मेहता	- 43	विषय	3. तपासे	- 15	विषय
4. शांति लाल शाह	- 28	विषय	4. चव्हाण	- 4	विषय
योग	- 202		योग	- 88	

उप-मंत्रियों में विषयों का जो विभाजन हुआ है, वह भी इसी पेटर्न पर किया गया है। उप-मंत्रियों में विषयों का विभाजन

गुजराती उप-मंत्री			महाराष्ट्रीय उप-मंत्री		
1. इन्दुमति सेठ	12	विषय	1. वाडेरेकर	12	विषय
2. बाबूभाई जे. पटेल	3	विषय	2. देशमुख	4	विषय
			3. नरवणे	5	विषय
			4. साठे	5	विषय
			5. पत्की	3	विषय
योग	15		योग	29	

आइए, अब यह देखें कि महाराष्ट्र और गुजरात में विकास कार्यों पर कितना धन खर्च किया जाता है। निम्नलिखित आंकड़ों से यह अनुमान हो जाएगा कि तीन वर्षों के दौरान महाराष्ट्र और गुजरात पर प्रति व्यक्ति व्यय कितना हुआ है:

विकास कार्य पर प्रति व्यक्ति व्यय

	जनसंख्या	1950-51	1951-52	1952-53
1. महाराष्ट्र	2,17,20,091	1.7	2.3	1.8
2. गुजरात	1.18,96,789	2.9	3.1	3.2

कैसा भेदभावपूर्ण व्यवहार है? कैसा पक्षपात है? कैसा अन्याय है? क्या कोई महाराष्ट्रीयों को दोषी ठहरा सकता है, यदि वे बंबई के मिश्रित राज्य के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करें?

इस प्रकार कोई भी महाराष्ट्रीय व्यक्ति अपनी अधीनता की ऐसी स्थिति सहन नहीं कर सकता। इसलिए मिश्रित राज्य का हमेशा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

बंबई नगर की स्थिति

बंबई नगर का क्षेत्र एक विवादास्पद विषय है और यह विवाद बहुत तीव्र बन चुका है। महाराष्ट्रीय चाहते हैं कि यह नगर महाराष्ट्र का भाग बने। गुजराती चाहते हैं कि यह नगर

एक पृथक राज्य हो। इसी विवाद पर सिर-फुटव्वल हुई है, लेकिन इस पर कोई सहमति नहीं हो पाई। इसलिए यह जरूरी है कि मामले की जड़ तक पहुंचा जाए।

गुजराती बंबई को अपना शहर नहीं मानते, लेकिन यह भी नहीं चाहते कि वह उनके हाथों से निकल जाए। चूंकि इस नगर के व्यापार और उद्योग पर उनका नियंत्रण है, इसलिए वे इस पर एक प्रकार का सुविधाधिकार चाहते हैं। मुद्दा है कि यह महाराष्ट्र का अंग बने या इसका पृथक राज्य के रूप में निर्माण किया जाए? इस मुद्दे पर गुजरातियों और महाराष्ट्रीयों में तीव्र मतभेद हैं। महाराष्ट्रीय चाहते हैं कि बंबई नए महाराष्ट्र राज्य का ही अंग बने। गुजराती इसका डटकर विरोध करते हैं। उन्होंने दो विकल्प रखे हैं। एक विकल्प तो यह है कि वर्तमान द्विभाषी बंबई राज्य को तोड़कर गुजरात और महाराष्ट्र की दो भाषायी इकाइयां न बनाई जाएं। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति का निर्णय यह है कि बंबई नगर को एक पृथक राज्य बना दिया जाए।

गुजराती खुश हैं, लेकिन जाहिर है महाराष्ट्रीय इससे नाराज हैं। महाराष्ट्रीयों का रोष बिल्कुल जायज है। महाराष्ट्रीयों के विरुद्ध जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, उनमें कोई दम नहीं है।

पहला तर्क जो दिया गया है, वह यह है कि बंबई शहर की कुल जनसंख्या में मराठी लोगों का बहुमत नहीं है। बंबई की कुल जनसंख्या बहुत भारी है (देखें सांख्यिकीय परिशिष्ट)। मराठी-भाषी लोग 48 प्रतिशत हैं।

जो इस प्रकार का तर्क देते हैं, वे उस तर्क की कमजोरी को महसूस नहीं करते।

निःसंदेह, बंबई नगर में मराठी-भाषी लोग 50 प्रतिशत से कम हैं, लेकिन इसका मूल्यांकन दो कारकों से किया जाना चाहिए। एक तो यह है कि भौगोलिक दृष्टि से कोई यह मानने से इन्कार नहीं करेगा कि बंबई महाराष्ट्र का ही एक भाग है, चाहे महाराष्ट्रीयों का शहर के अंदर अल्पमत ही है। यहां तक कि श्री मोरारजी देसाई ने भी गुजरात प्रदेश कांग्रेस समिति की एक बैठक में भाषण देते हुए कहा था कि बंबई महाराष्ट्र का ही भाग है।

जनसंख्या कारक का मूल्यांकन करते समय जो दूसरा प्रश्न विचारणीय है, वह है शेष भारत से आने वाले लोगों का तांता, जो या तो लाभ कमाने के उद्देश्य से बंबई आते हैं या जीविकोपार्जन के लिए। उनमें से कोई भी बंबई को अपना घर नहीं समझता और इसीलिए उनमें से किसी को बंबई नगर का स्थायी निवासी नहीं समझना चाहिए। उनमें बहुत से तो कुछ महीनों के लिए ही आते हैं और वापस चले जाते हैं।

बंबई केवल महाराष्ट्रीयों के लिए घर है और किसी के लिए नहीं। इसलिए इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कि बंबई शहर में बहुसंख्यक कौन लोग हैं, गैर-महाराष्ट्रीयों को गिनना न तो तर्कसंगत है और न ही उचित।

इसके अतिरिक्त यही नहीं देखा गया कि बंबई में गैर-महाराष्ट्रीयों की जो बाढ़ चली आती है, उसका कारण ऐसे स्थानीय कानून का न होना है, जिसके अनुसार नागरिकता की बढ़ती को रोका जा सके। यदि बंबई राज्य में ऐसा कानून होता तो भारत के सभी भागों से बंबई आने वालों का प्रवाह रोका जा सकता था और महाराष्ट्रीयों का बहुमत बरकरार रखा जा सकता था।

यह भी अनुभव नहीं किया गया कि बंबई में गैर-महाराष्ट्रीयों का प्रवाह इसलिए और भी होता है कि बंबई एक बंदरगाह है ओर यह बंदरगाह इसके पश्चिमी तट पर है। यूरोप से बंबई का रास्ता यूरोप से कलकत्ता या यूरोप से मद्रास की अपेक्षा कहीं छोटा है। यही कारण है कि भारत के अन्य भागों से गरीब लोग भारी संख्या में अपने घर-बार छोड़कर अस्थायी निवास के लिए बंबई आते हैं। बंबई में दूसरे शहरों की तुलना में रोजगार तलाश करना भी आसान है।

सच तो यह है कि इस मामले पर भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। लोग विगत लगभग दो सौ वर्षों से बंबई आते रहे हैं, लेकिन इसके बावजूद इस आवाजाही से महाराष्ट्रीयों की शहर में जनसंख्या 48 प्रतिशत से कम नहीं हुई है। दो सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी इसकी जनसंख्या का स्वरूप मुख्यत: महाराष्ट्रीय ही बना हुआ है। इसका कारण नगर का प्रवासी स्वरूप है (देखें परिशिष्ट 3)। गुजराती लोग तो प्रवासी होते ही हैं।

कुछ अन्य तर्क भी ऐसे हैं, जो बंबई को महाराष्ट्र के एक भाग के रूप में बनाए रखने के पक्ष में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

बंबई भारत का एकमात्र मिश्रित नगर नहीं है। कलकत्ता और मद्रास भी मिश्रित नगर हैं। यदि कलकत्ता, पश्चिम बंगाल का और मद्रास, मद्रास राज्य का भाग हो सकता है, तो बंबई को महाराष्ट्र का भाग बना देने में क्या आपत्ति है? यही वह प्रश्न है, जो प्रत्येक महाराष्ट्रीय पूछेगा। मेरे पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। मेरे मस्तिष्क में एक ही उत्तर आता है, जो यह है कि कांग्रेस की आला कमान का यह विचार है कि महाराष्ट्रीय दूसरों पर शासन करने के योग्य नहीं है। यह महाराष्ट्रीयों के चरित्र पर एक लांछन है और वे उसे हरगिज सहन नहीं करेंगे।

कहा जाता है कि बंबई गैर-महाराष्ट्रीयों की पूंजी के बल पर बना है। हो सकता है ऐसा ही हो। लेकिन क्या मद्रास मद्रासियों की पूंजी के बल पर बनाया गया है? क्या कलकत्ता बंगालियों की पूंजी से बना है? अगर यूरोपीय लोग मद्रास और कलकत्ता में पूंजी निवेश न करते तो ये दोनों गांव ही बने रहते। फिर भला महाराष्ट्रीयों के खिलाफ यह दलील क्यों दी जाती है, जब वे बंबई को अपना बताते हैं। महाराष्ट्रीयों ने बंबई को मजदूर तो दिए ही हैं, जिनके बिना बंबई नगर वह नहीं हो सकता था, जो वह आज है। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि बंबई का अस्तित्व महाराष्ट्र पर ही निर्भर है। उसके विद्युत के संसाधन महाराष्ट्र

में हैं। उसकी जलपूर्ति के साधन महाराष्ट्र में हैं। उसके श्रमिकों के साधन महाराष्ट्र में हैं। महाराष्ट्र किसी भी समय बंबई नगर को मोहनजोदाड़ों में परिवर्तित कर सकता है।

गुजराती लोगों को यह डर है कि महाराष्ट्रीय उनके साथ भेदभाव का व्यवहार करेंगे लेकिन हमारे संविधान के अनुसार भेदभाव इसलिए संभव नहीं है क्योंकि संविधान में उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के आदेश के रूप में मौलिक अधिकारों और उपचारों की सूची दी गई है, जिनके अधीन किसी भी अन्याय का तत्काल निवारण कराया जा सकता है। भेदभाव-जन्य किसी भी प्रकार के अन्याय के लिए संविधान में उपचार की व्यवस्था है। भला गुजरातियों को डरने की क्या आवश्यकता है?

आइए, अब हम इस पर विचार करें कि गुजरातियों को बंबई के एक पृथक नगर राज्य बन जाने से क्या लाभ पहुंचेगा। बंबई राज्य में उनकी आबादी केवल 10 प्रतिशत है। उन्हें बंबई के नगर राज्य की विधानसभा में कितनी सीटें मिल जाएंगी? 10 प्रतिशत भी नहीं। फिर भला 10 प्रतिशत लोग 90 प्रतिशत के मुकाबिले में अपने मुवक्किलों की रक्षा कैसे कर पाएंगे?

यह स्मरणीय है कि महाराष्ट्रीयों और गुजरातियों के बीच जो प्रतिद्वंद्विता की भावनाएं हैं, वे पहले से कहीं अधिक उत्तेजित होती जाएंगी। महाराष्ट्रीय, गुजराती उम्मीदवार को मत नहीं देगा और गुजराती मतदाता किसी महाराष्ट्रीय प्रत्याशी को मत नहीं। अब तक तो गुजराती पैसों से महाराष्ट्र में अपना काम निकाल रहे हैं। लेकिन एक बार आत्म-सम्मान जाग जाए तो पैसा भी कुछ नहीं कर पाएगा। गुजरातियों को इस बात पर विचार करना चाहिए कि परस्पर सद्भाव से अधिक संरक्षण मिल सकता है, या नगर के शासन में छोटी-छोटी भागीदारी से?

वैसे तो महाराष्ट्र का पक्ष फौलाद की तरह मजबूत है, लेकिन कुछ बातें दूसरे पक्ष की ऐसी हैं, जिन पर उन्हें ठंडे दिल से गौर करना चाहिए।

वे चाहते हैं कि बंबई महाराष्ट्र ही में रहे। लेकिन उनके लिए विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर वे चाहते क्या हैं? क्या वे चाहते हैं कि बंबई प्रगति करता रहे, या वे चाहते हैं कि वह पतनशील हो जाए? क्या बंबई महाराष्ट्र में रहते हुए फल-फूल सकता है? इसका प्रकारांतर से यह अर्थ है: क्या महाराष्ट्र बंबई नगर के वर्द्धमान व्यापार और उद्योग-धंधों के लिए आवश्यक पूंजी जुटा सकता है? कोई भी महाराष्ट्रीय इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में नहीं दे सकता। महाराष्ट्रीय वर्षों के बाद इस स्थिति में आ पाएंगे कि पूंजी की आवश्यकता पूरी कर सकें। फिलहाल तो ऐसा संभव नहीं जान पड़ता।

दूसरा मुद्दा यह है : यदि नगर की संपन्नता में गिरावट आ जाए-चाहे वह पूंजी के पलायन के कारण हो या व्यापारिक प्रतिष्ठानों के लोप से - तो बंबई में रहने वाले महाराष्ट्रीयों के जीवन-स्तर पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा? महाराष्ट्रीयों को यह नहीं भूलना चाहिए - चाहे इससे उनके स्वाभिमान को ठेस क्यों न पहुंचती हो - कि वे क्लर्कों ओर कुलियों के देश में रहते हैं। किसी पतनशील नगर में उन्हें कौन रोजगार देगा?

महाराष्ट्रीयों को बंबई के प्रश्न पर इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए। एक सूक्ति है :

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः।

बंबई नगर को पृथक राज्य का दर्जा दिए जाने के लिए एक और कारण भी है। अल्पसंख्यक और अनुसूचित जाति के लोग जो गांवों में रहते हैं, उन पर बहुसंख्यक समुदाय के लोग अत्याचार करते हैं, उनका उत्पीड़न करते है, यहां तक कि वे उनकी हत्या भी कर देते हैं। अल्पसंख्यक समुदायों को शरण चाहिए, एक ऐसा सुरक्षित स्थान चाहिए जहां वे बहुसंख्यक समुदाय के अत्याचार से सुरक्षित रह सकें। यदि संयुक्त महाराष्ट्र बन जाए जिसमें बंबई शामिल हो, तो वे अपनी सुरक्षा के लिए कहां जाएंगे?

इसी प्रकार का अत्याचार उस समय गांवों में रहने वाले ब्राह्मणों, मारवाड़ियों और गुजरातियों के साथ किया जाता था, जब गोडसे ने गांधीजी की हत्या की थी। सभी ब्राह्मण, मारवाड़ी और गुजराती, जो किसी समय गांवों में रहते थे, वहां से भाग निकले। जो अब शहरों-कस्बों में रहते हैं और सुरक्षित हैं और अपने अनुभवों को भुलाकर संयुक्त महाराष्ट्र की मांग कर रहे हैं।

मैं समझता हूं कि यदि महाराष्ट्रीय फिलहाल कांग्रेस आला कमान का निर्णय मान लें, तो उनके लिए यह हितकर सिद्ध होगा।

महाराष्ट्रीयों को बंबई के हाथ से निकल जाने पर कोई डर नहीं होना चाहिए। महाराष्ट्रीयों को कोई भी बंबई से वंचित नहीं कर सकता, न ही उन्हें बंबई से बाहर निकाल सकता है।

बंबई की पृथक राज्य के रूप में रचना पर जो असली आपत्ति है, उसका कारण यह है कि 'बंबई' नाम से यह अर्थ नहीं निकलता कि यह महाराष्ट्र का ही एक अंग है। इसी आपत्ति का निराकरण करने के लिए मेरा यह सुझाव है कि बंबई के नए राज्य का नाम बदल कर इसे कोई और नाम दे दिया जाए, जिससे महाराष्ट्र का बोध होता हो।

मान लीजिए, इस सुझाव के अनुसार यह कहने के बजाए कि बंबई को एक पृथक राज्य बना दिया जाए, यदि यह कहा जाए कि महाराष्ट्र को चार राज्यों में विभक्त कर दिया जाए (1) महाराष्ट्र नगर-राज्य (जो बंबई नगर है), (2) पश्चिमी महाराष्ट्र, (3) मध्य महाराष्ट्र, और (4) पूर्वी महाराष्ट्र; तो बंबई की पृथक राज्य के रूप में रचना करने पर क्या आपत्ति हो सकती है?

इसका मतलब भी तो बंबई का पृथक्करण ही होगा। नगर के नाम में इस प्रकार का परिवर्तन किए जाने पर मैं यह जानना चाहूंगा कि ऐसा कौन महाराष्ट्रीय होगा, जिससे इस आधार पर कि इस योजना से बंबई महाराष्ट्र से पृथक हो जाएगा, बंबई की पृथक नगर-राज्य के रूप में रचना पर आपत्ति हो? यह कह देना कि बंबई को एक पृथक राज्य बना दिया जाए, ऐसा ही है, जैसे यह कहा जाए कि महाराष्ट्र को चार राज्यों में विभक्त कर दिया जाए। यदि महाराष्ट्र को दो या तीन राज्यों में विभक्त करने पर कोई आपत्ति नहीं है, तो उसके चार भागों में विभक्त

कर देने पर क्या आपत्ति हो सकती है? मुझे तो कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। भाषा में समानता की दृष्टि से मेरा सुझाव है कि कलकत्ता को बंगाल राज्य-नगर और मद्रास को तमिल राज्य-नगर के नाम दिए जाएं।

महाराष्ट्रीयों और गुजरातियों के बीच तनाव की स्थिति दूर करने के लिए मैंने यह सुझाव दिया है।

महाराष्ट्र नगर-राज्य अधिशेष राज्य होगा। जो लोग संयुक्त महाराष्ट्र की मांग करते हैं जिसमें बंबई शामिल हो, उन्हें इस अधिशेष से महाराष्ट्र के लिए लाभ मिलने की आशा है।

नगर-राज्य का अधिशेष राजस्व इन दो करों से मिल सकता है (1) संपत्ति कर, और (2) विद्युत कर। यदि बंबई पृथक नगर-राज्य बन जाए तो क्या इन दो स्रोतों से प्राप्त राजस्व का विनियोजन महाराष्ट्र अपने लिए कर सकता है?

बंबई नगर-राज्य संपत्ति कर में से संपत्ति कर की आय ले लेना संभव ही नहीं है। यह स्थानीय कर है, जो स्थान विशेष में स्थित संपत्ति पर लगाया जाता है। इस कर से प्राप्त आय का अधिकारी वही राज्य हो सकता है, जिसमें वह संपत्ति स्थित हो।

जहां तक विद्युत कर का संबंध है, उसमें स्थिति भिन्न है।

जब गुजरात और महाराष्ट्र अलग हो जाएं-और जो हो ही जाएंगे - तो गुजरात अपने ही राज्य में उत्पन्न और खर्च होने वाली बिजली से अर्जित राजस्व की मांग करेगा। महाराष्ट्र अपने ही राज्य में उत्पन्न और खर्च होने वाली बिजली से अर्जित राजस्व का दावा करेगा। बंबई नगर भी राज्य होने के नाते यही करेगा। क्या बंबई को इस प्रकार राजस्व हथियाने की अनुमति दी जाएगी? क्या यह न्याय संगत होगा? बंबई नगर बिजली पैदा नहीं करता, वह बंबई शहर के बाहर महाराष्ट्र में पैदा की जाती है। इसलिए बंबई नगर-राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह बिजली से अर्जित समस्त राजस्व खुद ले ले। उचित तो यह है कि ऐसी स्थिति में साधनों के पृथक्करण और आय के विभाजन का सिद्धांत लागू किया जाए जो राज्य वित्त के सभी विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं।

इसे ठोस आधार प्रदान करने के लिए केन्द्र को चाहिए कि वह विद्युत का करारोपण अपने अधीन ले ले और होने वाली आय को महाराष्ट्र के चार राज्यों में उनकी आवश्यकता के अनुरूप बांट दें-

(1) बंबई, (2) पश्चिमी महाराष्ट्र, (3) मध्य महाराष्ट्र और (4) पूर्वी महाराष्ट्र

इससे बंबई के पृथक्करण के कारण इन तीनों महाराष्ट्रों पर पड़ने वाले आर्थिक दबाव में कमी आ जाएगी।

संयुक्त या विभाजन

मैं कह चुका हूं कि बंबई को एक नया क्षेत्र देकर इसे एक पृथक नगर-राज्य बना दिया जाए। अब यह प्रश्न रह जाता है कि शेष महाराष्ट्र का क्या किया जाए। मैं बता चुका हूं कि शेष महाराष्ट्र को तीन राज्यों में बांट दिया जाए।

प्राचीन-काल से ही महाराष्ट्र तीन राज्यों में बंटा रहा है। 'महावंश' में अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भारत के विभिन्न भागों में भेजे गए प्रचारकों के संदर्भ में इस तथ्य का उल्लेख है। लेकिन आगे चलकर पाली साहित्य में 'त्रय महाराष्ट्रिका' अथवा तीन महाराष्ट्रों का हवाला दिया गया है। इससे पता चलता है कि पुरातन-काल से ही तीन महाराष्ट्र चले आते हैं। इसलिए मेरा प्रस्ताव कुछ नया नहीं है। जनसंख्या, क्षेत्र और राजस्व का विभाजन अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में दर्शाया गया है। संलग्न मानचित्र सं. 5 में तीनों खंडों में से प्रत्येक का क्षेत्रफल और सीमाएं बताई गई हैं।

फिलहाल क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से इन तीन खंडों में कोई बात आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होती। आदिकाल से ही इन्हें 'त्रय महाराष्ट्र' ही कहा जाता रहा है।

इस प्रकार के विभाजन से भाषा के सिद्धांत पर कोई आंच नहीं आती। वास्तव में, यदि इन तीनों महाराष्ट्रों की एक ही भाषा हो तो इससे मराठी भाषा के विकास में भी सहायता मिलेगी, बशर्ते कि ऐसा करना उन तीनों के लिए संभव हो।

जहां तक इसकी व्यवहार्यता का प्रश्न है, उस पर मैं आगे चलकर विचार करूंगा। मेरा इरादा इस पर अलग से एक विशेष अध्याय लिखने का है। उस जमाने में बंबई को कौन जानता था? वरना वही महाराष्ट्र का चौथा भाग होता।

शेष तीन भागों से जिसे मैंने पूर्वी महाराष्ट्र कहा है, पहले ही से पृथक् राज्य बन चुका है। आवश्यकता इस बात की है कि इसे अलग ही रहने दिया जाए। इसकी एक सुव्यवस्थित प्रशासन व्यवस्था है, सुव्यवस्थित राजस्व व्यवस्था है और सुव्यवस्थित न्यायिक व्यवस्था है यह हिन्दी-भाषी लोगों के बंधन से मुक्त हो चुका है।

अब एक ही समस्या शेष है कि महाराष्ट्र के अधीन आने वाले उस क्षेत्र को जो इस समय बंबई राज्य का भाग है और हैदराबाद राज्य के मराठवाड़ा क्षेत्र को किस प्रकार विभक्त किया जाए।

इन दोनों का एक ही में विलय करने और उसे तीसरे से जोड़ने के बजाए जिसे मैं पूर्वी महाराष्ट्र कहता हूं, बंबई के महाराष्ट्र वाले भाग और मराठवाड़ा को दो समान राज्यों में क्यों न विभक्त कर दिया जाए? मेरी यही योजना है। मैं बंबई राज्य के महाराष्ट्र वाले भाग के छह जिलों को अंतरित करके उसे मराठवाड़ा का भाग बनाना चाहता हूं (देखें मानचित्र 5)। तीनों महाराष्ट्रों के क्षेत्रफल और जनसंख्या का विभाजन नीचे दर्शाया गया है:

तीनों महाराष्ट्र राज्यों की जनसंख्या, क्षेत्रफल और राजस्व लगभग निम्नानुसार होगा

राज्य का नाम	कुल जनसंख्या (करोड़ों में)	कुल क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	कुल राजस्व	कुल खर्च
पश्चिमी महाराष्ट्र	1,26,77,316	30,028	26,24,20,441	अज्ञात
मध्य महाराष्ट्र	1,24,09,044	55,482	21,63,80,095	,,
पूर्वी महाराष्ट्र	80,27,130	39,004	09,41,11,012	,,
योग	3,31,13,490	1,24,514	57,29,11,548	

अब मैं अपनी योजना के समर्थन में कारण बताना चाहता हूं। मैं पहले कह चुका हूं कि महाराष्ट्र हमेशा से तीन भागों में बंटा रहा है। यह एक ऐतिहासिक तर्क है। इससे कम से कम यह पता चलता है कि जिसे संयुक्त महाराष्ट्र कहा जाता है, उसकी परंपरा, रहन-सहन और सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति समान नहीं है। जिन लोगों को संयुक्त महाराष्ट्र लेने की जल्दी है, वे शायद इस पर गंभीरता से विचार न करें। लेकिन वर्तमान स्थिति से उभरने वाले कुछ अन्य तर्क भी हैं, जिनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। मैं उनमें से कुछ की ओर संकेत करता हूं।

मेरा पहला तर्क यह है एक अकेली सरकार संयुक्त महाराष्ट्र जैसे विशाल राज्य पर शासन नहीं कर सकती।

मराठी-भाषी क्षेत्र की कुल जनसंख्या 3,30,83,490 है। कुल क्षेत्र जिसमें मराठी-भाषी जनता आबाद है 1,74,514 वर्गमील है। यह इतना विशाल क्षेत्र है कि किसी भी एक राज्य के लिए इस पर सफलतापूर्वक शासन करना असंभव है। जो महाराष्ट्रीय संयुक्त महाराष्ट्र की बात करते हैं, उन्हें अपने महाराष्ट्र के क्षेत्रफल और जनसंख्या की विशालता का अनुमान ही नहीं है। लेकिन एकमात्र महाराष्ट्रीय राज्य ही क्यों? यह बात मेरी समझ से बाहर है। पृथक महाराष्ट्र राज्य की मांग करना एक बात है, लेकिन एकमात्र महाराष्ट्र राज्य सर्वथा भिन्न बात है। मैं ऐसे पृथक महाराष्ट्र के पक्ष में हूं, जो गुजरातियों से भी अलग हो और हिन्दी-भाषी लोगों से भी अलग हो। लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि स्वतंत्र महाराष्ट्र का एक ही राज्य क्यों बनाया जाए। महाराष्ट्रीयों का उत्तर प्रदेश पर आक्रमण करने का तो कोई इरादा है नहीं और इसलिए उनका कोई संयुक्त मोर्चा हो यह भी जरूरी नहीं।

मराठों के दृष्टिकोण से भी इस प्रकार का समेकन क्यों हो? सतारा के मराठे का औरंगाबाद के मराठे से क्या संबंध? नासिक के मराठे से रत्नागिरी के मराठे का क्या लगाव? सतारावासी मराठा औरंगाबाद के मराठा की समस्याओं से क्या हमदर्दी या लगाव रख सकता है? इसी प्रकार नासिक में रहने वाले मराठों को रत्नागिरी के मराठों की समस्याओं से क्या दिलचस्पी होगी? समेकन का कोई मतलब नहीं है और उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता।

वर्तमान बंबई के मंत्रीमंडल में जितने भी मराठा मंत्री हैं, सभी सतारा या नासिक जिले के हैं। कोई भी कोंकण का नहीं है।

दूसरी बात गौर करने की यह है कि महाराष्ट्र के तीनों भागों में कोई आर्थिक समानता नहीं है। मराठवाड़े की निजाम ने सर्वथा उपेक्षा ही की है। इस बात की क्या गारंटी है कि अन्य दो महाराष्ट्र उस महाराष्ट्र के हितों की देखभाल करेंगे, जिसे मैंने मध्य महाराष्ट्र की संज्ञा दी है।

महाराष्ट्र के तीनों भागों में औद्योगिक समानता तीसरा मुद्दा है, जिस पर विचार किया जाना है। पश्चिमी महाराष्ट्र और पूर्वी महाराष्ट्र औद्योगिक दृष्टि से सुविकसित हैं। लेकिन मध्य महाराष्ट्र की क्या स्थिति है? उसके औद्योगिक विकास की क्या गांरटी है? क्या पश्चिमी महाराष्ट्र और पूर्वी महाराष्ट्र, मध्य महाराष्ट्र के औद्योगिक विकास में रूचि दिखाएंगे?

चौथी बात जिस पर गौर किया जा सकता है, वह एक ओर तो यह है कि पूर्वी और पश्चिमी महाराष्ट्र और दूसरी ओर पूर्वी और मध्य महाराष्ट्र में शिक्षा की असमानता है। उनके बीच की असमानता भी अच्छी खासी है। यदि मध्य महाराष्ट्र पूना विश्वविद्यालय के अधीन चला गया तो उसका भाग्य फूटा।

मुझे मराठवाड़ा की भारी चिंता है। उस पर विगत 200 वर्षों से निजाम का शासन था। निजाम ने इस क्षेत्र की घोर उपेक्षा की और उसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। मराठवाड़ा में कोई एक मील जमीन ऐसी नहीं मिलेगी, जहां नहरी सिंचाई होती हो। वहां के ताल्लुक क्षेत्रों में शायद ही कोई हाईस्कूल हो। निजाम की लोक सेवा में मराठवाड़ा के युवक का नाम-निशान नहीं मिलेगा। मैं अपनी जानकारी और अनुभव के आधार पर यह बात कह रहा हूं। लोग न केवल गरीब हैं, बल्कि अज्ञानी भी हैं। उन्हें धनी-मानी लोगों ने दोनों तरफ से दबोच रखा है। जब उनके रोजगार के रास्ते बंद हो जाएंगे, तो उनकी और भी दुर्गति होगी।

मैं यह सोचकर कांप उठता हूं कि जब मराठवाड़ा पूना विश्वविद्यालय के अधीन चला जाएगा, तो उसका क्या हश्र होगा। पूना विश्वविद्यालय के अधीन स्कूल-कॉलेजों में शिक्षा का स्तर इतना ऊंचा है कि मराठवाड़ा का कोई लड़का शायद ही परीक्षा पास कर सके। पूर्ण सम्भव है कि संयुक्त महाराष्ट्र के लिए जिस प्रकार के पागलपन का प्रदर्शन किया जा रहा है, उससे अकेले और सबके लिए समान विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए पागलपन पैदा होगा।

उधर संयुक्त महाराष्ट्र की रचना हुई और इधर पूना और नागपुर के ब्राह्मणों ने नौकरियों के लिए मराठवाड़ा पर धावा बोला।

महाराष्ट्र के तीन भागों में विभक्त किए जाने का एक और कारण भी है।

बंबई की विधानसभा में विधायकों की कुल संख्या 315 है, जिसमें से 149 सदस्य मराठी-भाषी हैं। बंबई की विधान परिषद में सदस्यों की कुल संख्या 72 है, जिसमें 34 मराठी-भाषी हैं। जाहिर है कि बंबई राज्य का मुख्यमंत्री - मराठी-भाषी होना चाहिए था।

श्री हीरे मुख्यमंत्री-पद के लिए उम्मीदवार के रूप में खड़े हुए थे, लेकिन उन्हें कांग्रेस की आला कमान ने बिठा दिया। न केवल श्री हीरे को बिठा दिया गया, बल्कि उन्हें मुख्यमंत्री के पद के लिए मोरारजी देसाई का नाम प्रस्तावित करने के लिए बाध्य किया गया। एक महाराष्ट्रीय नेता का यह कैसा निरादर था। और यह भी देखने की बात है कि कांग्रेस की आला कमान की दृष्टि में महाराष्ट्रीयों की राजनीतिक सूझबूझ का कितना मूल्य है? मराठा मंत्रियों की यही अक्षमता विषयों के उस विभाजन से भी स्पष्ट हो जाती है, जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है।

उपरिलिखित तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मराठों में राजनीतिक सूझबूझ की कमी है। उनमें कोई भी तिलक या गोखले या रानाडे जैसा प्रतिष्ठित नहीं है। आज महाराष्ट्रीय की कोई कीमत नहीं है। कांग्रेस में जो महाराष्ट्रीय हैं उनको कोई नहीं पूछता। इसलिए यह परमावश्यक है कि महाराष्ट्रीयों को राजनीति में प्रशिक्षण दिया जाए। यह राजनीतिक प्रशिक्षण जनता को सत्ता का हस्तांतरण हो जाने के कारण बुनियादी महत्व का बन गया है। 'मराठा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है : एक अर्थ में तो इससे तात्पर्य उन सब लोगों से होता है, जो मराठी-भाषा बोलते हैं। दूसरे अर्थ में उसका अभिप्राय उन लोगों से होता है, जो जाति के मराठे हैं। वे सभी मराठे कहलाते हैं। लेकिन लोग मराठी बोलने वाले मराठों और जाति के मराठों में अंतर नहीं समझते।

जो लोग महाराष्ट्र पर शासन करने वाले हैं, वे भाषा के कारण मराठे नहीं हैं, बल्कि मराठा जाति के हैं, चाहे ब्राह्मणों की आशाएं कुछ भी क्यों न हों। अब इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मराठे राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक पिछड़े हुए समुदाय के लोग हैं। यह एक बुनियादी बात है कि उन्हें राजनीतिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। यदि एक ही महाराष्ट्र हो तो केवल एक ही मराठे को मुख्यमंत्री के पद के लिए और पांच-छह को मंत्री-पद के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि तीन महाराष्ट्र राज्य हों तो तीन मराठों को मुख्यमंत्री के रूप में और तीस मराठों को मंत्रियों के पद के लिए प्रशिक्षण दिया जा सकता है। हम अपने नेताओं को शिक्षित करने में सहायता देकर वास्तव में अपनी ही सेवा कर सकते हैं।

मराठों को शिक्षित करने का एक ही तरीका है कि उन्हें अपनी क्षमताओं का विकास करने और उन क्षमताओं का उपयोग करने के लिए और अधिक अवसर प्रदान किए जाएं। तीन महाराष्ट्रों की रचना से ही यह संभव हो सकता है।

एक कहानी सुनिए, जो अवसर के लिए बहुत प्रासंगिक है: एक छोटी बच्ची का बाप उसे घुमाने के लिए जंगल में ले गया। बच्ची ने देखा कि बड़े पेड़ों की जड़ में छोटी-छोटी झाड़ियां उग आई हैं। जब वैसी ही झाड़ियां उसे हर पेड़ के नीचे दिखाई पड़ीं, तो उसने अपने बाप से पूछा कि बड़े पेड़ों के नीचे ये छोटी झाडियां बढ़ती क्यों नहीं। चूंकि बाप वनस्पति विज्ञानी नहीं था, इसलिए उसके प्रश्न का उत्तर न दे सका और उसने कहा, "अरे मैं क्या

जानूं?'' लेकिन फिर भी उसने महसूस किया कि बच्ची का सवाल बहुत सार्थक है। वह किसी कालिज में अध्यापक था। दूसरे दिन जब वह कालिज गया तो उसने वनस्पति विज्ञानी के अपने साथी से वही प्रश्न किया। वनस्पति विज्ञानी ने उत्तर दिया, ''अरे, इसका जवाब तो बहुत आसान है। बड़े वृक्ष सूर्य की सारी किरणों का फायदा खुद ही उठा लेते हैं और झाडियां किरणों से वंचित रह जाती हैं। यही कारण है कि वे पनप नहीं पातीं।'' मराठवाड़ा के लोगों को इस कहानी से जो शिक्षा मिलती है, उसे नहीं भूलना चाहिए।

संयुक्त महाराष्ट्र के पक्ष में केवल एक ही तर्क है और वह यह कि यह रामायण में वर्णित, राम और भरत, दो भाइयों के लंबे विछोह के बाद हुए पुनर्मिलन जैसा है। यह मूर्खतापूर्ण तर्क है, जिस पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कुछ ऐसे महाराष्ट्रीय भी हैं जो पश्चिमी महाराष्ट्र के साथ ऐसी राजनीतिक संधि करके संतुष्ट हैं, जिसमें उन्हें कुछ रियायतें दी गई हैं। संधियों का महत्व कागज की रद्दी से बढ़कर कुछ नहीं होता। उन्हें लागू नहीं किया जा सकता। राजनीतिक संधियां करने के बजाए जो लागू नहीं की जा सकतीं, क्या यह बेहतर नहीं है कि शक्ति हाथ में आ जाए?

बंबई सरकार में महाराष्ट्रीयों ने जो कुछ किया है, वह कितना घटिया और तुच्छ है। यदि महाराष्ट्रीयों के अत्युन्नत और सुशिक्षितजनों का यह व्यवहार है तो मराठवाड़ा के लोगों से क्या अपेक्षा की जा सकती है?

मैं मराठवाड़ा या मध्य महाराष्ट्र के लोगों को यह परामर्श देना चाहता हूं कि अपने ही राज्य के लिए आग्रह करें, ताकि वे अपना भाग्य संवार सकें।

खोए हुए क्षेत्र की पुनर्प्राप्ति

क्या सभी मराठी भाषी लोगों को एक ही राज्य में ठूंस दिया जाए? या उन्हें दो या उससे अधिक राज्यों में बांट दिया जाए।

अगला प्रश्न यह है कि बंबई के पृथक्करण के बाद शेष बचे भाग का क्या किया जाए। शेष भाग के भी दो हिस्से हैं : (1) गुजरात, और (2) महाराष्ट्र। मेरी चिंता महाराष्ट्र के बारे में है। आयोग ने भाषायी प्रांतों की रचना करते समय मराठी भाषी क्षेत्र गैर-मराठी भाषी क्षेत्रों को दे दिए हैं। इस प्रकार सम्मिलित न किए गए क्षेत्रों की संख्या इस प्रकार है :

1. बेलगाम ताल्लुक बेलगाम शहर सहित
2. खानपुर ताल्लुक
3. चिकोरी ताल्लुक जिसमें निपानी शामिल हैं
4. सूप ताल्लुक
5. कारवार ताल्लुक
6. बीदर में निलंग ताल्लुक

7. बीदर में अहमदपुर तहसिल
8. बीदर में उदगीर तहसिल
9. आदिलाबाद में राजगीर तहसिल
10. विदर्भ का कुछ भाग, जो पड़ोसी हिन्दी-भाषी राज्य को दे दिया गया।

जिन महाराष्ट्रीयों को महाराष्ट्र से अलग किया गया है, उनकी संख्या 13,89,648 है।

आयोग को बंबई के मिश्रित राज्य को रोके रखने के लिए दो अत्यंत महत्वपूर्ण उद्देश्य पूरे करने पड़े थे। एक था, बंबई को महाराष्ट्रीयों के हाथों में न जाने देने का। आयोग ने ऐसा एक मिश्रित राज्य स्थापित करके किया। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि महाराष्ट्रीयों और गुजरातियों के बीच समानता स्थापित की। बंबई राज्य की भावी विधानसभा में इन दोनों में समानता जो आयोग की योजना का ही एक अंग थी बहुत आवश्यक थी, क्योंकि पुरानी विधानसभा में कर्नाटक के सदस्य, जिन पर गुजराती अपने बहुमत के लिए निर्भर थे, नए कर्नाटक राज्य में उन्हें नहीं मिल पाते। आयोग ने मराठी-भाषी लोगों को गैर मराठी-भाषी राज्यों के सुपुर्द करके महाराष्ट्र के पंख काट दिए। इस प्रकार की राजनीतिक बर्बरता का और कोई कारण नहीं जान पड़ता।

आयोग ने महाराष्ट्र के साथ जो यह अन्याय किया, उसका अब प्रतिकार किया जाना चाहिए, और सौभाग्य की बात है कि ऐसा करना संभव भी है। मिश्रित राज्य के प्रस्ताव की अब कोई प्रासंगिकता नहीं है, न ही महाराष्ट्रीयों और गुजरातियों के बीच समानता आवश्यक रही है।

अध्याय 8

समस्या के सिद्धांतों का सारांश

पाठक की सुविधा के लिए मैं नीचे उन सिद्धातों का सार प्रस्तुत कर रहा हूं, जो भाषायी राज्यों की रचना के मूल में होने चाहिएं। उनका पिछले पृष्ठों में उल्लेख हो चुका है, लेकिन वे बिखरे हुए हैं। यहां मैं उन्हीं सिद्धांतों को दोहराता हूं :

(1) मिश्रित राज्य अपनाने का विचार सर्वथा त्याग दिया जाना चाहिए।

(2) प्रत्येक राज्य एक भाषी होना चाहिए, अर्थात् एक राज्य, एक भाषा।

(3) एक राज्य, एक भाषा के फार्मूले को एक भाषा, एक राज्य से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए।

(4) एक भाषा, एक राज्य के फार्मूले का अर्थ यह है कि सभी लोग जो एक भाषा बोलते हैं, एक ही शासन के अधीन रखे जाएं, चाहे क्षेत्रफल, जनसंख्या और उस भाषा के बोलने वालों की परिस्थितियों में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो। बंबई को शामिल करके एक संयुक्त महाराष्ट्र का निर्माण करने के लिए किए गए आंदोलन के मूल में यही विचार निहित है। यह एक बेतुका फार्मूला है,

जिसकी कोई मिसाल नहीं मिलती। इसका परित्याग किया जाना चाहिए। एक ही भाषा बोलने वाले लोगों को एक से अधिक राज्यों में बांटा जा सकता है, जैसा कि संसार के अन्य भागों में किया जाता है।

(5) एक ही भाषा बोलने वाले लोगों को कितने राज्यों में बांटा जाए, यह इन बातों पर निर्भर होगा : (1) कारगर प्रशासन की अपेक्षाएं, (2) विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताएं, (3) विभिन्न क्षेत्रों के लोगों की भावनाएं, और (4) बहुमत तथा अल्पमत के लोगों का अनुपात।

(6) ज्यों-ज्यों राज्य का क्षेत्रफल बढ़ता है, अल्पसंख्यकों का बहुसंख्यकों के साथ अनुपात घटता जाता है और अल्पसंख्यकों की स्थिति नाजुक हो जाती है तथा बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करने के अवसर कई गुना बढ़ जाते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि राज्यों का आकार छोटा हो।

(7) बहुसंख्यकों के अत्याचार को रोकने के लिए अल्पसंख्यकों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए संविधान में संशोधन किया जाना चाहिए और बहु-सदस्य निर्वाचन क्षेत्र (दो या तीन) पर आधारित पद्धति के लिए, जिसमें संचित मतदान की व्यवस्था हो, प्रावधान किए जाने चाहिएं।

भाग IV

भाषावार राज्यों की समस्याए

अध्याय 9

व्यवहार्यता

क्या तीन महाराष्ट्रीय राज्य बने रह सकते हैं? क्या उनका राजस्व उनके व्यय के लिए पर्याप्त हो सकता है? ऐसा प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक है।

यह बात नहीं कि इस प्रकार का प्रश्न केवल महाराष्ट्र के संबंध में ही किया जा सकता है। यही प्रश्न भारत के अनेक राज्यों के बारे में भी किया जा सकता है।

मैं कराधान जांच समिति की जिसके अध्यक्ष डा. जॉन मथाई थे, रिपोर्ट के भाग III के "क" और "ख" भाग के राज्यों तथा केन्द्रीय सरकार से संबंधित चार विवरण उद्धृत करता हूं (देखें सारणी 4, 5, 6 और 7)। इन विवरणों से निम्नांकित प्रस्ताव सामने आते हैं।

(1) राज्यों में एक वर्ष विशेष तक कोई घाटा नहीं हुआ था। वे सब जीवनक्षम थे। कांग्रेस के सत्तारूढ़ होने के बाद से राज्य टिक नहीं पाए।

(2) जब से कांग्रेस सत्तारूढ़ हुई, उत्पादन शुल्क से होने वाली आय घटनी शुरू हो गई। और अब तो समाप्त प्राय: है।

(3) आयकर और बिक्री कर में भारी वृद्धि हुई है।

यही वे कारण हैं, जिनसे पता चलता है कि राज्यों की व्यवहार्यता क्यों समाप्त हो गई हैं।

उत्पाद शुल्क से होने वाली आय एक मिथ्या सिद्धांत पर बलि कर दी गई, जिसका न कोई अर्थ है और न ही कोई वास्तविकता।

जहां तक नशाबंदी की नीति का संबंध है जो कांग्रेस ने अपनाई थी, निम्नलिखित निष्कर्ष बेखटके और बिना किसी चुनौती की आशंका के निकाले जा सकते हैं :

(1) राजस्व की एक भारी राशि व्यर्थ ही गंवा दी गई।

(2) जनता ने मद्यपान करना नहीं छोड़ा। अवैध शराब का भारी मात्रा में उत्पादन हो रहा है और वह चोरी छिपे जनता को बेची जा रही है।

(3) इससे सरकार ने जो धन खोया वह अवैध निर्माता ने पा लिया।

(4) मद्यनिषेध ने समाज को भ्रष्ट कर दिया है। पहले तो परिवार में केवल पुरुष सदस्य ही शराब पीते थे क्योंकि वे ही शराब की दुकानों पर जा सकते थे। अब अवैध शराब का निर्माण घर-घर में होने लगा है। जो शराब अब घरों में बनती है उसे पुरुष, स्त्री दोनों पीते हैं।

(5) मद्यनिषेध के कारण सरकार को राजस्व की हानि तो हुई ही है, इसके अलावा उसे शराबबंदी लागू करने के लिए पुलिस पर भी अधिक खर्च करना पड़ता है, हालांकि पुलिस उसे लागू करने के लिए कुछ नहीं करती।

इस मद्यनिषेध से क्या फायदा है, जो निषेध नाम मात्र को भी नहीं करता? कांग्रेस ने मद्यनिषेध को सारे भारत में लागू करने की धमकी दी है। ईश्वर कांग्रेस को चिरायु करे। कहावत है कि ईश्वर जिसे नष्ट करना चाहता है, पहले उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है। यही वह कांग्रेसियों के साथ कर रहा है।

मेरे लिए इतना ही यह देना पर्याप्त है कि कांग्रेस को एक ही विकल्प चुनना होगा, या तो जीवित रहे, या मद्यनिषेध जारी रखे।

भूमि राजस्व के बारे में यही कह देना पर्याप्त है कि वह निश्चित रूप से बढ़ाया जा सकता है। लेकिन कांग्रेस तो वोट खो देने के डर से खेतिहर को छूना ही नहीं चाहती यही कारण है कि वह बिक्री कर और आय कर जारी रखकर ही धनार्जन करना चाहती है, जिनमें दोनों का ही शहरी वर्गों पर भारी दबाव पड़ता है।यह बात सारणी 6 से स्पष्ट हो जाएगी।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन क्षमता की कोई समस्या नहीं है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि कांग्रेस अपनी कराधान नीति पर पुनर्विचार करे।

जीवन क्षमता कराधान सहन करने की क्षमता और कर लगाने की इच्छा पर निर्भर है। क्षमता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, आवश्यकता इच्छाशक्ति की है।

भारत की समस्त कराधान प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता है। यह संविधान को बदल देने का प्रश्न है। लेकिन मैं इस समय इस पर चर्चा नहीं कर सकता, मैं उसे किसी और अवसर के लिए उठाए रखता हूं।

अध्याय 10

बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक

यथार्थवादिता ही राजनीति का मूल है। इसमें शास्त्रीयता का तत्व नगण्य है। अत: इससे निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी राजनीतिक योजना पर निर्णय लेने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि बुनियाद-खाके पर विचार किया जाए।

कोई भी मुझसे यह पूछ सकता है कि "बुनियाद-खाका" से मेरा क्या अभिप्राय है। मैं समझता हूं कि बुनियाद-खाके का अर्थ, किसी समुदाय की सामाजिक संरचना से है, जिस पर राजनीतिक योजना लागू की जाने वाली है।

यह बताने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है कि राजनीतिक संरचना सामाजिक संरचना पर ही टिकी होती है। सच तो यह है कि सामाजिक ढांचे का राजनीतिक ढांचे पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वही उसकी कार्य प्रणाली में संशोधन कर सकता है। वही उसे रद्द भी कर सकता है, बल्कि चाहे तो उसका खाका भी उड़ा सकता है।

भारत के संदर्भ में सामाजिक ढांचा जाति-व्यवस्था पर खड़ा है, जो हिन्दू सभ्यता और संस्कृति की विशिष्ट परिणति है।

जाति-व्यवस्था इतनी जानी-मानी है कि इसके स्वरूप को समझाने में किसी को समय नहीं लगता। कोई भी सीधे यह बता सकता है कि भाषावार राज्यों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा।

फिर भी जाति व्यवस्था के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं, जिनका उल्लेख किया जा सकता है:

(1) जातियों का विभाजन इस प्रकार किया गया है कि किसी भी क्षेत्र विशेष में एक जाति प्रधान है, जब कि दूसरी जो छोटी जातियां है, प्रधान जाति की वंशवर्ती हैं, क्योंकि वे अपेक्षया छोटी जातियां हैं प्रधान जाति पर उनकी आर्थिक निर्भरता है, क्योंकि गांव की अधिकांश भूमि उसी प्रधान जाति की संपत्ति है।

(2) जाति-व्यवस्था का प्रमुख लक्षण केवल असमानता ही नहीं है, बल्कि उस पर श्रेणीगत असमानता की व्यवस्था की भी छाया है। सभी जातियां बराबर की नहीं हैं। उनमें भी ऊंच-नीच का भेद है। उनमें घृणा का आरोही मान है और तिरस्कार का अवरोही।

(3) किसी भी जाति में अनन्यता और गर्व का भाव उसी प्रकार होता है, जैसे राष्ट्र में। इसलिए जिस प्रकार छोटे और बड़े राष्ट्रों को एक समूह कहा जाता है, वैसे ही जाति समूह कहना भी अनुचित नहीं है।

मुझे खेद है कि मैं इन बातों को तथ्यों और अंकों के द्वारा स्पष्ट नहीं कर सकता। जनगणना ही इन मुद्दों पर सूचना का एकमात्र साधन है और उससे मुझे कोई सहायता नहीं मिल सकी है। पिछली जनगणना में जातियों की सारणियां नहीं दी गई थीं, जो कि प्रारंभ ही से भारतीय गणना का मुख्य लक्षण रहा है। भारत सरकार के गृह मंत्री, जो इस भूल के लिए उत्तरदायी हैं, का यह मत है कि यदि कोई शब्द, शब्दकोश में न मिले तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि जिस तथ्य का वह शब्द निर्देश करता है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। ऐसे लेखक की क्षुद्र बुद्धि पर मुझे तरस आता है।

जाति-व्यवस्था का जो प्रभाव राजनीति पर पड़ा है, वह सर्वथा स्पष्ट है। इसका दिलचस्प हिस्सा यह देखना है कि इसका चुनावों पर क्या प्रभाव पड़ा है जो प्रतिनिधि सरकार की बुनियाद है, जिस पर एकल सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था खड़ी होती है। इसके जो प्रभाव होते हैं, उनका सार नीचे दिया जा रहा है :

(1) मतदान हमेशा सांप्रदायिकता के आधार पर होता है। मतदाता अपने समुदाय के प्रत्याशी को मत देता है, श्रेष्ठ प्रत्याशी को नहीं।

(2) बहुसंख्यक समुदाय मात्र सांप्रदायिक बहुमत से सीट जीत जाता है।

(3) अल्पसंख्यक समुदाय को बहुसंख्यक समुदाय के प्रत्याशी को मत देने के लिए बाध्य किया जाता है।

(4) अल्पसंख्यक समुदाय के इतने मत नहीं होते कि उनका उम्मीदवार बहुसंख्यक समुदाय द्वारा खड़े किए गए उम्मीदवार के विरुद्ध सीट जीत ले।

(5) उच्चतर (प्रधान) समुदायों का मतदाता श्रेणीबद्ध असमानता की सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित होने के कारण अल्पसंख्यक समुदाय के किसी उम्मीदवार को अपना वोट देने की उदारता कभी नहीं जुटा सकता। बल्कि इसके विपरीत अल्पसंख्यक समुदाय का मतदाता, जिसका सामाजिक स्तर निम्न है अपना मत बहुसंख्यक समुदाय के प्रत्याशी को देकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है। यह एक और कारण है, जिससे अल्पसंख्यक समुदाय का उम्मीदवार चुनाव हार जाता है।

यह देखा गया है कि कांग्रेस हमेशा विजयी होती हैं। यह कोई नहीं पूछता कि कांग्रेस ही क्यों जीतती है? इसका एक ही उत्तर है कि कांग्रेस बहुत लोकप्रिय है। लेकिन कांग्रेस लोकप्रिय क्यों है? इसका सही उत्तर यह है कि कांग्रेस हमेशा ऐसे उम्मीदवार खड़े करती है जो उन जातियों के हैं, जिनका निर्वाचन क्षेत्र में बहुमत है। जाति और कांग्रेस का चोली-दामन का साथ है। कांग्रेस की जीत का एकमात्र कारण यह है कि वह जाति व्यवस्था का अनुचित लाभ उठाती है।

जाति व्यवस्था के ये अशुभ परिणाम भाषायी राज्यों की रचना के फलस्वरूप निश्चय ही और भी गहरे हो जाएंगे। अल्पसंख्यक समुदायों को कुचल दिया जाएगा। यदि कुचला

गया तो उन पर अत्याचार होगा और इनका उत्पीड़न किया जाएगा। उनके साथ भेदभाव बरता जाएगा और उनके साथ कानून की दृष्टि में न समानता का व्यवहार किया जाएगा, न सार्वजनिक जीवन में उन्हें बराबरी के अवसर प्रदान किए जाएंगे।

लार्ड एक्टन ने राष्ट्रों के इतिहास और उनकी विचारधाराओं में होते आए परिवर्तनों का अच्छा वर्णन किया है:

> प्राचीन यूरोपीय व्यवस्था में राष्ट्रों के अधिकारों को न तो सरकारें मान्यता देती थीं और न ही जनता उनकी बलपूर्वक मांग करती थी। राष्ट्रों का नहीं, बल्कि शासक परिवारों का हित शासन के नियंत्रण का आधार था और प्रशासन चलाते समय जनता की इच्छाओं का कोई ख्याल नहीं रखा जाता था। जहां हर प्रकार की स्वतंत्रता को दबाया जाता हो, वहां राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांगों की उपेक्षा किया जाना भी आवश्यक होता है और फेनेलन के कथनानुसार इस युग में राजकुमारी राजतंत्र तो अपने दहेज के साथ ले जाती थी।
>
> राष्ट्र पहले तो बहुत निर्जीव से थे, लेकिन जब उनमें चेतना आई तो :
>
> वे पहले तो अपने वैध शासकों की रक्षा के लिए उनके विजेताओं के विरुद्ध उठ खड़े हुए। उन्होंने अपहर्ताओं का शासन स्वीकार नहीं किया। आगे चलकर ऐसा समय आया, जब उन्होंने इसलिए बगावत का झंडा उठाया कि उनके शासकों ने उनके साथ अन्याय किया था। इस प्रकार के विद्रोहों के भड़कने का कारण कुछ ऐसी शिकायतें थीं, जो निश्चित रूप से सिद्ध हो चुकी थीं उसके बाद फ्रांस की क्रांति हुई, जिससे सब कुछ बदल गया। उसी ने जनता को यह सीख दी कि वे अपनी इच्छाओं,आवश्यकताओं को अपने उस अधिकार का सर्वोच्च मापदंड मानें, जिनके अनुसार वे जो कुछ करना चाहें, कर सकते हैं। उसने जनता की प्रभुसत्ता के विचार का उद्घोष किया, जिसे न अतीत नियंत्रित कर सका था और न ही तत्कालीन राज्य।

जाति भी राष्ट्र ही होती है, किन्तु एक जाति का दूसरी जाति पर शासन उसी प्रकार स्वीकार्य नहीं हो सकता, जिस प्रकार एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर। लेकिन मान लीजिए कि इस मुद्दे को इतना लंबा न खींचा जाए, बल्कि बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों तक ही सीमित कर दिया जाए, फिर भी यह प्रश्न तो शेष रह ही जाता है : बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों पर शासन करने का क्या अधिकार है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कुछ भी बहुसंख्यक करते हैं, वह सही होता है। फिर अल्पसंख्यकों को क्या शिकायत है?

जो लोग बहुमत के शासन पर निर्भर रहते हैं, यह तथ्य भूल जाते हैं कि बहुमत भी दो प्रकार का होता है (1) सांप्रदायिक बहुमत, और (2) राजनीतिक बहुमत।

राजनीतिक बहुमत अपनी वर्ग-रचना में परिवर्तित होता रहता है। राजनीतिक बहुमत बढ़ता रहता है। सांप्रदायिक बहुमत पैदा होता है। राजनीतिक बहुमत में प्रवेश खुला रहता है। सांप्रदायिक बहुमत का द्वार बंद रहता है। राजनीतिक बहुमत की राजनीति को बनाने-बिगाड़ने की सभी को स्वतंत्रता होती है। सांप्रदायिक बहुमत की राजनीति उसके अपने सदस्यों द्वारा बनाई जाती है, जो उसी में जन्में हैं।

भला किसी सांप्रदायिक बहुमत द्वारा उस अधिकार-पत्र को कैसे हथियाने दिया जाए, जो राजनीतिक बहुमत को शासन चलाने के लिए दिया गया था? इस प्रकार के अधिकार-पत्रों का सांप्रदायिक बहुमत को दिया जाना आनुवंशिक सरकार की स्थापना करने और उस बहुमत की निरंकुशता के लिए मार्ग प्रशस्त करने के समान है। सांप्रदायिक बहुमत की यह निरंकुशता महज एक कल्पना नहीं है, यह अनेक अल्पसंख्यकों का अनुभव रहा है, चूंकि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के लिए यह अनुभव हाल ही का है, इसलिए उसका विवेचन अनावश्यक है।

आखिर इसका इलाज क्या है? इसमें संदेह नहीं कि इस सांप्रदायिक तानाशाही को रोकने के लिए कुछ रक्षोपाय आवश्यक हैं। प्रश्न यह उठता है कि वे रक्षोपाय क्या हो सकते हैं? पहला रक्षोपाय तो यह है कि बहुत बड़ा राज्य न बनाया जाए। बहुत बड़े राज्य का उसमें रहने वाले अल्पसंख्यकों पर क्या असर पड़ता है, इसे बहुत से लोग समझ नहीं पाते। जितना बड़ा राज्य होगा, अल्पसंख्यकों का बहुसंख्यकों से अनुपात उतना ही छोटा होगा। एक उदाहरण लें - यदि महाविदर्भ पृथक रहता तो हिन्दुओं का मुसलमानों से अनुपात 4 : 1 होता और संयुक्त महाराष्ट्र में अनुपात 14 : 1 होता। यही स्थिति अछूतों की होती। समेकित बहुसंख्यकों का एक छोटा-सा पत्थर यदि अल्पसंख्यकों की छाती पर रख दिया जाए तो सह्य होगा। लेकिन विशाल पर्वत का बोझ वे नहीं झेल सकेंगे। वह तो अल्पसंख्यकों को कुचल कर रख देगा। इसलिए छोटे राज्यों का निर्माण अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान कर सकता है।

दूसरा रक्षोपाय यह है कि विधानसभा में उनके प्रतिनिधित्व का प्रावधान किया जाए। संविधान में जो पुराने किस्म के उपायों का प्रावधान था, वे दो थे (1) आरक्षित स्थानों की एक विशेष संख्या, और (2) पृथक निर्वाचक मंडल। इन दोनों रक्षोपायों का नए संविधान में परित्याग कर दिया गया है। मेमनों के शरीर से ऊन उतार ली गई है। वे ठिठुर रहे हैं। उन पर कुछ ऊन चढ़ानी जरूरी है।

पृथक निर्वाचक मंडल अथवा स्थानों का आरक्षण नहीं किया जाना चाहिए। केवल बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (दो या तीन के) पर्याप्त हैं, जिनमें एकल सदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली के बजाए, जो वर्तमान संविधान में सम्मिलित हैं, संचित मतदान की व्यवस्था हो। इससे भाषायी राज्यों के बारे में अल्पसंख्यकों के जो भय हैं, वे दूर हो जाएंगे।

भाग V

दूसरी राजधानी की आवश्यकता

अध्याय 11

उत्तर तथा दक्षिण के बीच तनाव दूर करने का उपाय

क्या भारत दूसरी राजधानी बनाने में समर्थ है? यह कह देने से कि भारत की इस समय एक राजधानी है, समस्या से पिंड नहीं छुडाया जा सकता। यदि भारत की राजधानी ऐसे स्थान पर स्थित नहीं हैं, जो सभी के लिए संतोषजनक हो, तो अब समय आ गया है कि इस प्रश्न पर विचार किया जाए।

अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद से अब तक भारत की एक ही राजधानी रही है और वह दिल्ली है। अंग्रेजों के आगमन के पहले भारत की हमेशा दो राजधानियां रही हैं। मुगलों के शासन-काल में भारत की दिल्ली में एक राजधानी थी और कश्मीर में श्रीनगर दूसरी। जब अंग्रेज आए, तब उनकी भी दो राजधानियां थी, एक कलकत्ता और दूसरी शिमला। जब वे कलकत्ता छोड़कर दिल्ली आ गए, तब भी उन्होंने शिमला को अपनी ग्रीष्मकालीन राजधानी बनाए रखा। जो दो राजधानियां मुगलों और अंग्रेजों ने कायम रखीं, उनका कारण जलवायु संबंधी परिस्थितियां थीं। चाहे अंग्रेज हों या मुगल, किसी के लिए भी लगातार बारह महीनों तक दिल्ली या कलकत्ता में रहना संभव नहीं था। दिल्ली की गर्मी मुगलों के लिए असह्य थी, इसीलिए उन्होंने गर्मी के महीनों के लिए श्रीनगर को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। इसी प्रकार कलकत्ता की गर्मी अंग्रेज सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने भी एक दूसरी राजधानी स्थापित की। मौसम की इन परिस्थितियों में अब तीन और परिस्थितियां जोड़ी जानी चाहिएं। मुगलों या अंग्रेजों के राज्य में जनता की सरकार नहीं थी। लेकिन अब हमारे यहां जनता का राज्य है और उसी जनता की सुविधा एक महत्वपूर्ण कारण है। दिल्ली दक्षिण के लोगों के लिए बहुत असुविधाजनक है। उनके लिए यहां की ठंड और यहां तक की दूरी दोनों कष्टकर हैं। गर्मी के महीनों में तो उत्तर भारत के लोगों को भी बड़ा कष्ट होता है। वे तो इसलिए कोई शिकायत नहीं करते कि वे अपने निवास स्थानों के और सत्ता-स्थल के निकट हैं। इस कारण दक्षिण भारतीयों की भावनाएं हैं और तीसरा है प्रतिरक्षा। दक्षिण भारतीयों का विचार है कि उनके देश की राजधानी उनसे बहुत दूर स्थित है और उन पर उत्तर भारत के लोगों का शासन है। तीसरा कारण जाहिर है और ज्यादा महत्वपूर्ण है। वह यह है कि दिल्ली एक सहज भेद्य स्थान है। इसकी पड़ोसी देशों से दूरी बमबारी के लिए बहुत थोड़ी है। यद्यपि भारत अपने पड़ोसियों के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रहने के लिए प्रयत्नशील है, फिर भी यह मान लेना उचित नहीं है कि भारत को कल युद्ध का सामना नहीं करना पड़ेगा,

और यदि युद्ध छिड़ गया तो भारत सरकार को दिल्ली छोड़कर अन्यत्र अपनी सुविधा की राजधानी बनानी पड़ेगी। वह कौन-सी जगह है, जहां भारत सरकार जाएगी? हमारी समझ में तो एक ही स्थान आता है और वह है, कलकत्ता। लेकिन कलकत्ता में भी तिब्बत से बमबारी का खतरा हो सकता है। हालांकि भारत और चीन में आज भी मैत्री संबंध हैं, लेकिन यह मैत्री कब तक चलेगी कोई भी निश्चय के साथ नहीं कह सकता। भारत और चीन में कभी भी टकराव पैदा हो सकता है। और ऐसी स्थिति में कलकत्ता को राजधानी बनाना बेकार है। दूसरा शहर जिस पर केंद्र सरकार के शरण-स्थल के रूप में विचार किया जा सकता है, बंबई है। लेकिन बंबई एक बंदरगाह है और भारतीय नौसेना, केन्द्र सरकार के बंबई आ जाने पर उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्या किसी चौथी जगह के बारे में भी सोचा जा सकता है? मेरी दृष्टि में ऐसी जगह हैदराबाद हो सकती है। हैदराबाद, सिकंदराबाद और बोलारम को मुख्य आयुक्त के प्रांत के रूप में गठित करके उसे भारत की दूसरी राजधानी बनाया जा सकता है। हैदराबाद भारत की राजधानी की सभी आवश्यकताएं पूरी करता है। उसकी सभी राज्यों से समान दूरी है। जो भी निम्नांकित सारणी पर दृष्टिपात करेगा, यह महसूस करेगा :

	दिल्ली से मील	हैदराबाद से मील
बंबई	798	440
कलकत्ता	868	715
मद्रास	1,198	330
कर्नूल	957	275
त्रिवेंद्रम	1,521	660
पटियाला	124	990
चंडीगढ़	180	1,045
लखनऊ	275	770

प्रतिरक्षा की दृष्टि से यह व्यवस्था केन्द्र सरकार को सुरक्षा प्रदान करेगी। उसकी भारत की सभी नगरों से समान दूरी है। इससे दक्षिण भारत के लोगों को भी यह संतोष होगा कि उनकी सरकार कभी उनके यहां भी रहती है। सरकार सर्दी के मौसम में और कुछ अन्य महीनों के दौरान हैदराबाद में रह सकती है। हैदराबाद में वे सभी सुविधाएं हैं, जो दिल्ली में उपलब्ध हैं, और यह दिल्ली से कहीं बेहतर शहर भी है। इसमें वह सारा वैभव विद्यमान है, जो दिल्ली में है। यहां इमारतें सस्ती हैं और सुंदर भी, बल्कि दिल्ली से कहीं अच्छी हैं। वे सब बिकाऊ भी हैं। अगर कोई कमी है तो यह कि इसमें संसद भवन नहीं है, जो भारत सरकार बड़ी आसानी से बनवा सकती है। यह ऐसा स्थान है, जहां संसद सालभर बैठकर काम कर सकती है, जो उसके लिए दिल्ली में करना संभव नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि हैदराबाद

को भारत की दूसरी राजधानी बनाने में क्या आपत्ति हो सकती है। अच्छा हो यदि यह काम इसी समय हो जाए, जब हम राज्यों का पुनर्गठन कर रहे हैं।

हैदराबाद, सिकंदराबाद और बोलारम को मिलाकर भारत की दूसरी राजधानी बना दिया जाए। सौभाग्य की बात है कि ऐसा बड़ी आसानी से किया जा सकता है और इससे समस्त दक्षिण भारत, महाराष्ट्र और आंध्र, सभी को संतोष होगा।

उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव की स्थिति दूर करने का यह एक और उपाय है।

भाग VI

मानचित्र

मानचित्र सं. 1

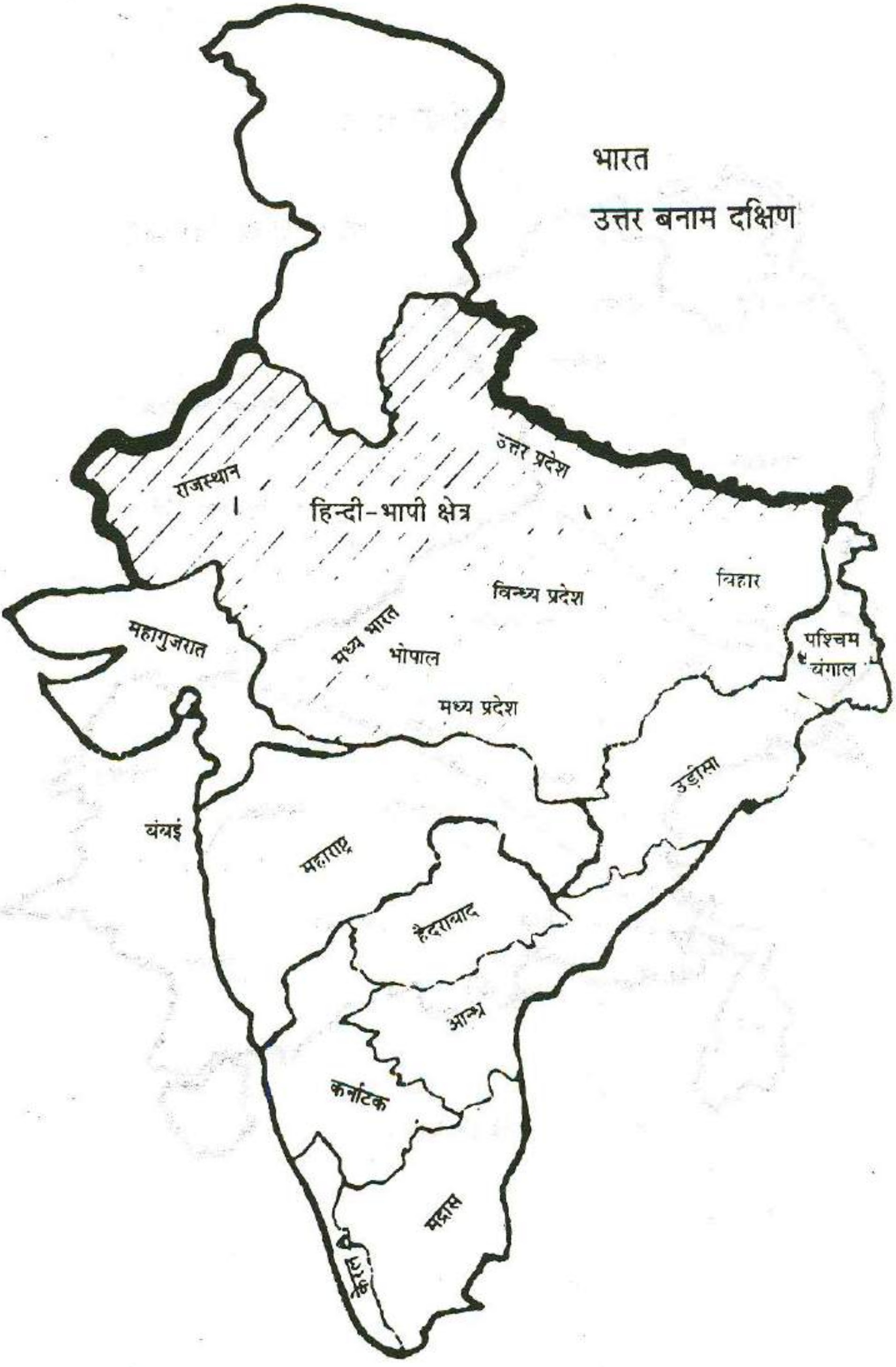
भारत
उत्तर बनाम दक्षिण
राजस्थान
हिन्दी-भाषी क्षेत्र
उत्तर प्रदेश
विन्ध्य प्रदेश
बिहार
पश्चिम बंगाल
महागुजरात
मध्य भारत
भोपाल
मध्य प्रदेश
उड़ीसा
बंबई
महाराष्ट्र
हैदराबाद
आन्ध्र
कर्नाटक
मद्रास
केरल

मानचित्र सं. 2

उत्तर प्रदेश का विभाजन
देहरादून
गढ़वाल
अल्मोड़ा
पश्चिमी उत्तर प्रदेश
MEERUT
मध्य उत्तर प्रदेश
अलीगढ़
शाहजहांपुर
एटा
आगरा
लखनऊ
गोरखपुर
कानपुर
रायबरेली
फैजाबाद
बांदा
इलाहाबाद
बनारस
झांसी
पूर्वी उत्तर प्रदेश

मानचित्र सं. 3

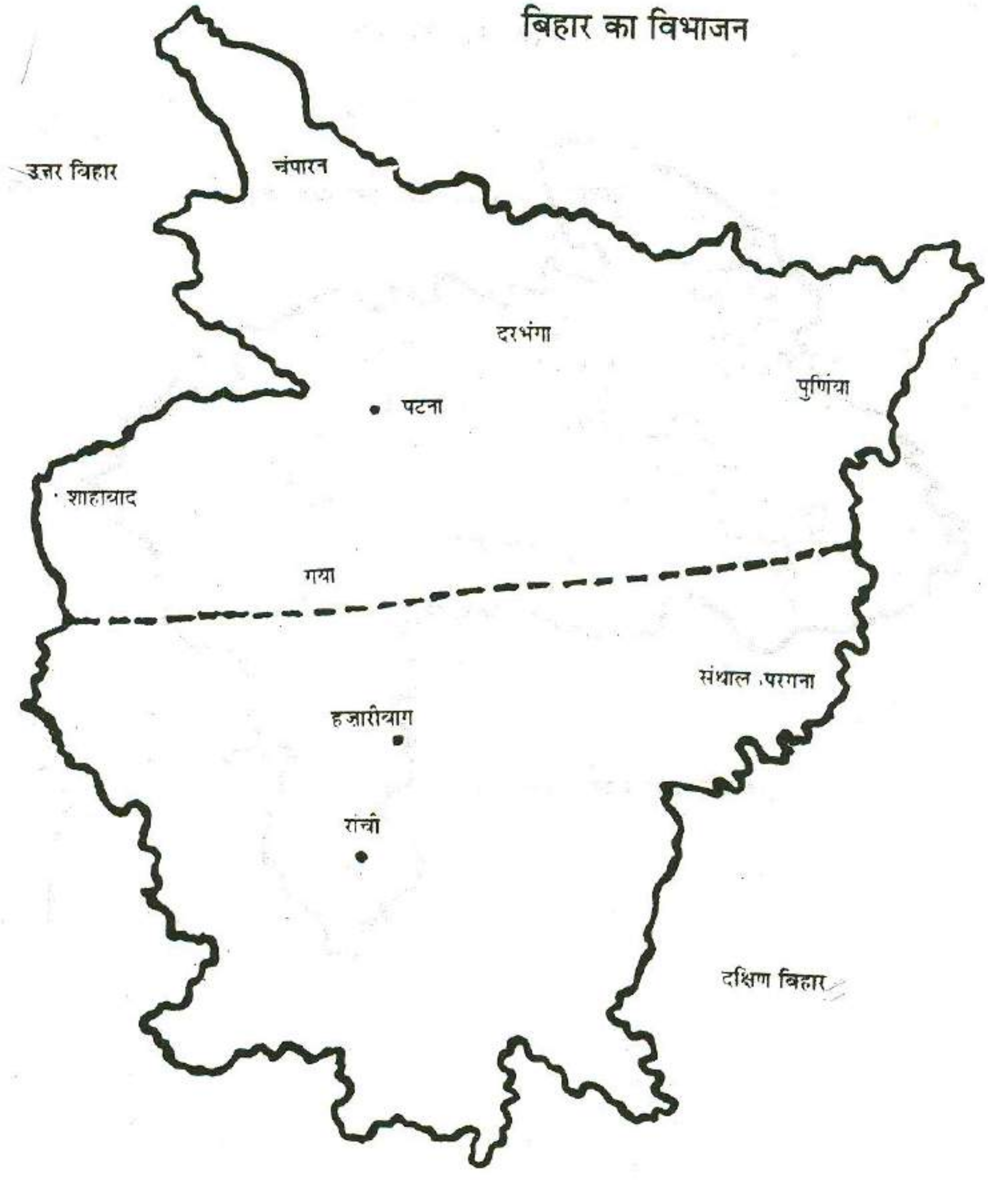
बिहार का विभाजन
उत्तर विहार
चंपारन
दरभंगा
पुर्णिया
पटना
शाहाबाद
गया
संथाल परगना
हज़ारीबाग
रांची
दक्षिण बिहार

मानचित्र सं. 4

मध्य प्रदेश का विभाजन

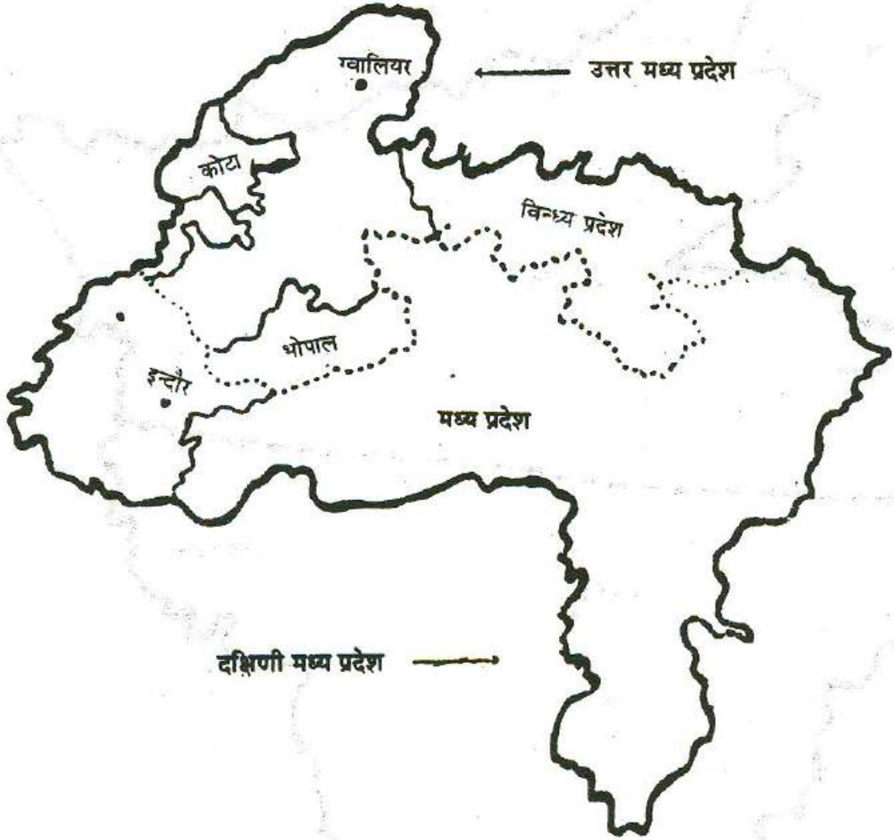

मानचित्र सं. 5

महाराष्ट्र का विभाजन

भाग VII

सांख्यिकीय परिशिष्ट

परिशिष्ट 1

भाषावार परिवारों के अनुसार जनसंख्या

भाषायी समूह	बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या	मातृभाषा तथा गौण भाषा के रूप में बोलने वालों की संख्या 1931 (द्विभाषियों की संख्या दो बार दर्शाई गई है)	बोलने वालों की संख्या 1931	मातृभाषा के रूप में बोलने वालों की संख्या केवल 1931	कालम 4 और 5 का अंतर (1931 में वृद्धि + 1931 कमी-)	कालम 4 और 3 का अंतर (वृद्धि + कमी-)
1	2	3	4	5	6	7
क. भारत और बर्मा की भाषा	225	366,430,537	315,525,177	349,887,527	+34,362,350	+50,905,360
(i) आस्ट्रिक भाषाएं-						
1. इंडोनेशियाई भाषाएं	2	6,542	5,561	6,542	+981	+981
2. मोन-ख़मेर भाषाएं	10	734,204	549,917	726,578	+176,661	+184,287
3. मुंडा भाषाएं*	7	4,710,685	3,973,873	4,609,588	+635,715	+736,812
(ii) तिब्बत-चीनी भाषाएं-						
1. तिब्बत-बर्मी भाषाएं	128	14,167,611	11,959,011	12,982,840	+1,023,829	+2,208,600
2. ताई-चीनी भाषाएं	11	1,150,220	926,335	1,027,656	+101,321	+223,885
3. मान और कारन भाषाएं*	17	1,351,291	1,114,617	1,342,278	+227,661	+236,674
(iii) द्रविड भाषाएं-						
1. द्रविड़ भाषाएं	7	47,032,874	37,285,594	41,454,593	+4,168,999	+9,747,280
2. मध्यवर्ती भाषाएं	5	3,661,277	3,056,598	3,609,418	+552,820	+604,679

1	2	3	4	5	6	7
3. आंध्र भाषा	1	28,195,824	23,601,492	26,373,727	+2,772,235	+4,594,332
4. उत्तर-पश्चिम भाषा	1	231,581	184,368	207,049	+22,681	+47,213
(iv) इंडो-यूरोपीय भाषाएं-						
1. ईरानी भाषाएं	3	2,457,134	1,981,675	2,270,466	+288,791	+475,459
2. दार्दिक भाषाएं	5	1,354,031	1,304,319	1,522,936	+218,617	+49,712
3. इंडो-आर्य भाषाएं	19	2,61,105,909	229,560,555	253,699,403	+24,138,848	31,545,354
(v) अवर्गीकृत भाषाएं-						
1. अंडमानी	2	466	580	466	+144	-114
2. बुरुशस्की	1	26,076	-	26,076	+26,076	+26,076
3. जिप्सी बोलियां +	6	25,999	15,018	25,999	+10,981	+10,981
4. वे भाषाएं जिनका विवरण नहीं दिया गया और जो नहीं भेजी गई		‡ 29,813	5,664	2,912	+2,752	+24,149
ख. अन्य एशियाई देशों और अफ्रीका की भाषाएं	17	305,386	211,894	302,324	+90,430	+93,492
ग. यूरोप की भाषाएं	10	452,099	319,112	339,706	+20,594	+132,987

(*) इन दो भाषाओं का सही वर्गीकरण संदिग्ध है। पिज़िलुस्की इन्हें ताई मानता है (मैलेट एंड कोहेन, लैंग्वेज़ डु मोंड 380), लेकिन यह संभाव्य है कि ये आस्ट्रिक भाषाओं की सजातीय हों।

+ ये बोलियां विभिन्न भारतीय भाषाओं से निकली हैं और इनमें ऐसे भिन्न तत्व हैं कि उन्हें एक परिवार में रखना और दूसरे में न रखना उचित नहीं।

‡ इनमें पर्वतीय और गौण भाषाएं शामिल हैं (27,841)।

परिशिष्ट 2

संयुक्त राज्य अमरीका का क्षेत्रफल तथा जनसंख्या

राज्य का नाम				क्षेत्रफल वर्गमील	जनसंख्या 1944 में स्थापित
1				2	3
1. अरकान्सास	--	--	--	53,102	1,776,446
2. अलबामा	--	--	--	51,609	2,818,083
3. इंडियाना	--	--	--	36,291	3,419,707
4. इडाहो	--	--	--	83,557	531,573
5. इलिनॉइस	--	--	--	56,400	7,729,720
6. उटाह	--	--	--	84,916	606,994
7. एरिओना	--	--	--	1,13,909	638,412
8. ओकलाहोमा	--	--	--	69,919	2,064,679
9. ओरेगॉन	--	--	--	96,981	1,214,226
10. ओहियो	--	--	--	41,222	638,667
11. कॉनेक्टिक्ट	--	--	--	5,009	1,176,807
12. कान्सास	--	--	--	82,276	1,774,447
13. केन्टकी	--	--	--	40,395	2,630,194
14. केलिफोर्निया	--	--	--	1,58,693	8,746,989
15. कोलोरैडो	--	--	--	1,04,247	1,147,269
16. जोवा	--	--	--	56,280	2,269,759
17. वर्जीनिया	--	--	--	40,815	3,119,115
18. टेक्सास	--	--	--	267,339	6,876,248
19. टेनिसि	--	--	--	42,246	2,870,158
20. डेला वेयर	--	--	--	2,057	283,802
21. नार्थ केरोलिना	--	--	--	52,712	3,534,545
22. नार्थ डकोटा	--	--	--	70,665	528,071
23. नेब्रास्का	--	--	--	77,237	1,213,792
24. नेवाडा	--	--	--	110,540	156,445
25. न्यू जर्सी	--	--	--	7,836	4,167,840

1				2	3
26. न्यू मेक्सिको	--	--	--	121,666	532,212
27. न्यूयार्क	--	--	--	49,576	12,632,890
28. न्यू हैंपशायर	--	--	--	9,304	457,231
29. पेनिसिलवानिया	--	--	--	45,332	9,247,088
30. फ्लोरिडा	--	--	--	58,560	3,367,217
31. मिनेसोटा	--	--	--	84,008	2,508,663
32. मिशिगन	--	--	--	58,216	5,429,641
33. मिसिसिपी	--	--	--	47,716	2,175,877
34. मिसुरी	--	--	--	69,674	3,589,538
35. मैन	--	--	--	33,215	793,600
36. मैसाच्युसैट्स	--	--	--	8,257	4,162,815
37. मोनटाना	--	--	--	1,47,138	464,999
38. मेरीलैंड	--	--	--	10,577	2,127,874
39. रोड-आइलैंड	--	--	--	1,214	778,972
40. लुइज़ियाना	--	--	--	48,523	2,535,385
41. वर्जीनिया	--	--	--	40,815	3,119,115
42. वर्मोन्ट	--	--	--	9,609	310,941
43. वाशिंगटन	--	--	--	68,192	2,055,378
44. विस्कॉन्सिन	--	--	--	56,154	2,975,910
45. वेस्ट वर्जीनिया	--	--	--	24,181	1,715,984
46. व्योमिंग	--	--	--	97,914	257,108
47. साऊथ कैरोलिना	--	--	--	31,055	1,923,354
48. साऊथ डेकोटा	--	--	--	77,047	558,629

परिशिष्ट 3

1941 की जनगणना में दर्ज समुदायों के अनुसार बंबई नगर की जनसंख्या निम्न प्रकार है :

हिन्दू	--	--	-	8,99,398
अनुसूचित जातियां	--	--	--	1,21,352
मुसलमान	--	--	--	2,51,518
भारतीय ईसाई	--	--	--	1,22,683
एंग्लो इंडियन	--	--	--	8,787
पारसी	--	--	--	58,813
सिख	--	--	-	2,418
जैन	--	--	-	33,281
बौद्ध	--	--	-	912
जनजातियां	--	--	--	4,606
अन्य	--	--	-	29,847
योग	--	--	-	1,489,883

1941 में हुई जनगणना के अनुसार बंबई नगर का क्षेत्रफल 30 वर्गमील था।

परिशिष्ट 3 क

भारत में अंतरप्रांतीय आप्रवास तथा उत्प्रवास
भारत के अंदर हुए प्रवास में 1921 की तुलना में विभिन्नता

प्रांत या राज्य	निवल लाभ+ या हानि-	1931 आप्रवासी	1931 उत्प्रवासी	निवल लाभ + या हिनि -	1921 आप्रवासी	1921 उत्प्रवासी	1921-31 में विभिन्नता आप्रवासी	1921-31 में विभिन्नता उत्प्रवासी
1	2	3	4	5	6	7	8	9
प्रांत या राज्य								
लाभ हुआ								
असम	+1,241,011	1,314,047	73,036	+1,140,752	1,216,661	75,909	+97,386	-2,873
बंगाल	+771,936	1,726,370	954,434	1,132,192	1,817,775	685,581	-91,405	+268,853
बर्मा	+593,324	617,521	24,197	+553,471	572,530	19,059	+44,991	+5,138
बंबई	+596,707	1,188,901	592,194	+472,023*	1,039,622	567,599*	+256,074	+318,280*
मध्य प्रांत और								
बरार	+27,003	649,064	422,061	+197,323	603,924	406,601	+45,140	+15,460
मैसूर	+215,462	340,700	125,238	+210,064	309,850	99,786	+30,850	+25,452
दिल्ली	+189,736	259,163	69,427	+113,158	°182,485	69,327	+76,678	+100
बड़ौदा	+127,907	333,077	105,176	+10,674	231,880	221,206	+101,197	-16,030
मध्य भारत एजेंसी	+115,566	598,102	482,536	+58,056	544,688	486,632	+53,414	-4,096
त्रावण कोर	+83,919	133,852	49,933	+49,732	71,973	22,241	+61,879	+27,692
अजमेर-मारवाड़	+44,029	104,938	60,909	+66,033	108,452	42,419	-3,514	+18,490
कोचीन	+41,424	87,214	45,790	+15,792	39,689	23,897	+47,525	+21,893

1	2	3	4	5	6	7	8	9
कुर्ग	+ 35,388	38,619	3,231	+ 30,988	33,838	2,850	+ 4,781	+ 381
बलूचिस्तान	+ 23,779	66,542	42,763	+ 5,924	66,166	60,242	+ 376	– 17,479
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	+ 21,187	111,868	90,681	+ 50,835	118,395	67,560	– 6,527	+ 23,121
अंडमान-निकोबार	+ 13,703	14,255	582	+ 14,080	14,396	316	– 141	+ 236
प्रांत तथा राज्य जिन्हें हानि हुई								
सिक्किम	– 4,782	2,403	7,212	– 2,297	1,836	4,133	+ 594	+ 3,079
ग्वालियर	– 14,471	281,350	296,821	+ 632	289,657	289,025	– 8,307	+ 7,796
जम्मू-कश्मीर	– 33,266	61,189	94,445	– 22,685	61,561	84,246	– 372	+ 10,029
पंजाब	– 67,792	635,025	702,817	+ 60,940	591,885	530,942	+ 43,140	+ 171,875
हैदराबाद	– 19,788	312,814	332,602	– 166,326	197,127	363,453	+ 115,687	– 30,851
पश्चिम भारत राज्य एजेंसी	– 186,890	106,795	293,685	बंबई में शामिल				
राजपूताना	– 516,898	329,913	864,811	– 625,650	242,234	867,893	+ 87,670	– 21,082
मद्रास	– 888,339	246,892	1,135,231	– 718,183	196,609	914,792	+ 50,283	+ 220,439
संयुक्त प्रांत	– 1,063,143	494,308	1,557,451	– 974,642	425,152	1,399,794	+ 69,156	+ 157,657
बिहार-उड़ीसा	– 1,291,567	466,563	1,758,130	– 1,567,968	387,068	1,955,036	+ 79,495	– 196,906

* पश्चिमी भारत एजेंसी सम्मिलित है

° पंजाब राज्य एजेंसी शामिल है

टिप्पणी : प्रांतों के आंकड़ों में शेष राज्यों के जो उनसे संलग्न हैं, आंकड़े शामिल हैं सिवाय मद्रास के जहां उनमें कोचीन-त्रावणकोर को शामिल नहीं किया गया है।

परिशिष्ट 4

प्रांतीय/राज्य-राजस्व

	उपज (करोड़ रुपये)					कुल राजस्व में शेयर (प्रतिशत)				
	1921-22	1936-37	1938-39	1944-45	1953-54 (परिशोधित प्राक्कलन)	1921-22	1936-37	1938-39	1944-45	1953-54 (परिशोधित प्राक्कलन)
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
कुल राजस्व	58.48	74.86	76.78	193.87	462.04	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0
भू-राजस्व	29.08	25.96	25.40	30.21	69.20	49.7	34.7	33.1	15.6	15.0
राज्य-उत्पाद शुल्क	15.67	13.63	13.08	43.42	44.81	26.8	18.2	17.0	22.4	9.7
स्टांप	10.14	10.80	9.53	15.20	23.50	17.3	14.4	12.4	7.8	5.1
पंजीकरण	1.07	1.11	1.09	2.39	3.91	1.8	1.5	1.4	1.2	0.9
सामान्य बिक्रीकर	-	-	-	7.91	57.25	-	-	-	4.1	12.4
वन (निवल)	0.66	0.71	0.63	4.58	10.82	1.1	0.9	0.8	2.4	2.3
सिंचाई कर्म जिनके लिए पूंजीगत लेखे रखे जाते हैं (निवल)	5.55	7.53	7.57	10.14	8.09	9.5	10.0	9.9	5.2	1.8
राजस्व का हस्तांतरण और केन्द्र से प्राप्त अनुदान (-)	9.02	2.67	6.45	36.89	117.92	-	3.6	8.4	19.1	25.6

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
आयकर में राज्यों में सौंपा गया हिस्सा										
शेयर	3.09	0.04	1.47	25.75	56.90	5.3	0.1	1.9	13.3	12.3
राज्यों को सौंपे गए जूट शुल्क का हिस्सा	-	2.13	2.51	1.48	-	-	2.8	3.3	0.8	-
राज्यों को सौंपे गए केन्द्रीय उत्पाद शुल्क का हिस्सा	-	-	-	-	15.94	-	-	-	-	3.5
केन्द्र से प्राप्त अनुदान आदि	12.11	0.50	2.47	9.66	45.08	-	0.7	3.2	5.0	9.8

1921-22 के लिए जो आंकड़े दिए गए हैं, उनमें बर्मा के लिए आंकड़े शामिल नहीं हैं, लेकिन उनमें सिंध को बंबई के भाग के रूप में शामिल किया गया है। 1936-37 के लिए आंकड़ों में बर्मा, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत शामिल नहीं हैं। 1938-39 और 1944-45 के लिए आंकड़े 9 प्रांतों के लिए है, जिनमें सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत शामिल नहीं हैं।

1953-54 के लिए आंकड़े भाग 'क' भाग 'ख' और भाग 'ग' के छह राज्यों से संबंधित हैं।

निधियों से हस्तांतरण शामिल नहीं है, वनों के अंतर्गत हुई आय सकल आय में से घटाकर निवल रूप में दर्शाई गई है, अन्य सार्वजनिक उपयोगिताएं और राज्य उपक्रम के लिए निवल आय (कार्यपालन व्यय घटाने के बाद) को शामिल किया गया है।

परिशिष्ट 5
राज्यों की राजस्व लेखा संबंधी बजट-स्थिति

भाग - 'क' राज्य

	1950–51	1951–52	1952–53	1953–54 (परिशोधित प्राक्कलन)	1954–55 (बजट प्राक्कलन)
राजस्व	214.37	315.60	229.32	357.49	367.17
व्यय	293.08	309.10	329.37	371.64	400.89
अधिशेष (+) या घाटा(–)	+1.29	+6.50	–0.15	–14.15	–33.72
अधिशेष (+) या घाटा(–) जिसमें राजस्व आरक्षित निधि में या उससे अंतराण शामिल नहीं हैं।	–3.15	–2.25	–12.01	–20.82	– 39.86

परिशिष्ट 6

राज्यों की राजस्व लेखा संबधी बजट-स्थिति

भाग - 'ख' राज्य

	1950-51	1951-52	1952-53	1953-54 + (परिशोधित प्राक्कलन)	1954-55 (बजट प्राक्कलन)
राजस्व	93.33	106.70	108.12	112.21	121.76
व्यय	81.93	100.53	105.88	115.85	127.65
अधिशेष (+) या घाटा(-)	+1.45	+ 6.17	+ 3.24	- 3.64	- 5.89
अधिशेष (+) या घाटा(-) जिसमें राजस्व आरक्षित निधि में या उससे अंतराण शामिल नहीं हैं।	+ 1.45	+ 5.97	+ 3.24	- 3.64	- 5.89

+ 1953-54 के आंकड़ों में मद्रास के मिश्रित राज्य के बजट प्राक्कलन शामिल हैं और परिशोधित प्राक्कलन वादक छह मास के लिए ही उपलब्ध हो पाए हैं।

परिशिष्ट 7
केन्द्रीय राजस्व (चुने हुए वर्षों के लिए)

	1921-22		1936-37		1938-39		1944-45		1953-54 (परिशोधित प्राक.)	
कुल राजस्व	80.00	100	81.45	100	82.90	100	334.40	100	394.34	100
सीमा शुल्क (निवल)	31.61	39.5	38.11	46.8	40.51	48.9	39.77	11.9	160.00	40.6
आय पर कर (निवल)	18.74	23.4	15.33	18.8	13.74	16.6	80.52	24.1	69.31	17.6
निगम कर	-	-	-	-	2.04	2.5	84.22	25.2	38.40	9.7
केन्द्रीय उत्पाद शुल्क (निवल)	2.80	3.5	13.35	16.4	8.66	10.5	38.14	11.4	78.00	19.8
नमक शुल्क	6.34	7.9	8.81	10.8	8.12	9.8	9.29	2.8	-	-
वाणिज्यिक विभाग										
रेल (निवल अंशदान)	(-) 9.09	-	-	-	1.37	1.7	32.00	9.6	7.50	1.9
डाक-तार (निवल)	-	-	0.14	0.2	0.19	0.2	10.25	3.1	2.02	0.5

* कुल राजस्व में अफीम, सिंचाई, वन, बिजली और सड़क परिवहन के अंतर्गत होने वाली निवल आय शामिल है। 1921-22 और 1936-37 के लिए दिए गए आंकड़े भी शामिल हैं। 1938-39 और 1944-45 के आंकड़े अविभाजित भारत से संबंधित हैं।

परिशिष्ट 8

भारत संघ के समुदायों की जनसंख्या

	हिन्दू									मुसलमान		
राज्य	जनसंख्या			अनुसूचित जातियां			अन्य					
	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
मद्रास	49,841	24,800	25,040	8,152	4,064	4,088	35,095	17,466	17,630	3,927	1,939	1,987
बंबई	29,384	15,184	14,200	2,526	1,217	1,256	20,691	10,680	10,011	2,463	1,321	1,142
पश्चिम बंगाल	21,837	11,834	10,003	3,520	1,847	1,673	11,206	6,160	5,046	5,544	3,011	2,533
संयुक्त प्रांत	56,346	29,542	26,804	11,913	6,128	5,803	34,923	18,411	16,512	8,692	4,574	4,117
पूर्वी पंजाब	12,697	6,853	5,844	1,028	540	487	4,489	2,435	2,053	4,424	2,380	2,047
बिहार	36,546	18,325	18,220	4,344	2,135	2,269	22,263	11,252	11,010	4,719	2,340	2,379
मध्य प्रांत और बरार	19,948	9,845	9,802	3,310	1,639	1,671	10,920	5,491	5,428	811	425	387
असम	7,685	4,068	3,617	377	203	174	2,885	1,564	1,321	1,754	939	815
उड़ीसा	13,768	6,706	7,062	1,965	906	956	8,187	3,963	4,224	166	81	85
अजमेर	589	310	279	1	0,5	0,5	390	198	182	90	49	41

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	34	21	12	–	–	–	8	6	3	8	6	2
बिलासपुर	110	57	53	16	8	7	93	48	45	1	0.8	0.6
भोपाल	785	410	375	187	96	91	410	215	195	110	59	51
कुर्ग	169	92	76	26	15	11	105	56	49	14	9	6
कच्छ	501	239	262	39	19	20	279	135	144	117	57	60
दिल्ली	918	535	383	123	69	53	445	262	182	305	176	128
हिमाचल प्रदेश	935	495	441	229	120	109	672	356	316	29	16	13
मणिपुर	512	249	263	–	–	–	304	148	156	30	15	15
त्रिपुरा	513	272	241	12	6	6	336	178	158	124	66	57

	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
विन्ध्य प्रदेश	3,569	1,819	1,750	399	202	197	2,851	1,455	1,397	95	49	46
मध्य भारत	7,141	3,734	3,407	437	221	216	5,025	2,648	2,377	475	251	224
पेपसू	3,424	1,868	1,557	214	112	102	978	530	448	899	483	416
राजस्थान	13,085	6,868	6,217	–	–	–	9,878	5,196	4,682	1,256	663	593
सौराष्ट्र	3,556	1,809	1,747	242	122	120	2,737	1,402	1,336	436	220	226
त्रावणकोर कोचीन	7,493	3,742	3,751	537	269	268	3,902	1,931	1,971	543	276	268
हैदराबाद	16,339	8,347	7,992	2,928	1,487	1,442	10,382	5,303	5,073	2,097	1,080	1,017
कश्मीर	4,022	2,130	1,892	113	61	53	694	369	325	3,074	1,627	1,446
मैसूर	7,329	3,763	3,566	1,405	723	682	5,282	2,702	2,580	485	258	227

परिशिष्ट 9
मुख्य जातियों के आंकड़े

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं
अग्री	265,285	बंबई
अहर, अहीर, गोपी, घोसी, ग्वाला, गोला, गोवारी, गौरा कवुंडन इडाइयन	14,170,032	अधिकांश प्रांत
अहोम	249,434	असम
अरायन, कुंजड़ा, कोइरी, काच्छी मुराव	5,048,849	अधिकांश प्रांत
अरोड़ा, भनसाली, लोहाना	1,499,407	बलूचिस्तान, बंबई, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, पश्चिम भारत के राज्य,
बाभन, भुईंहार	1,113,541	बिहार-उड़ीसा, उ.प्र., म.प्रांत
बैद्या	110,739	बंगाल
बैगा, भैना, बिंजवार, भारीया, काडर, भूमिया, भुंजिया, भुइया, घटवार, नाइया, पाओ	1,050,760	बंगाल, बिहार-उड़ीसा, मध्य प्रांत, मध्य भारत, राजपूताना, सिक्किम
बैरागी	838,285	अधिकांश प्रांत
बलोच	1,333,215	बलूचिस्तान, बंबई, पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत
बनिया,, भाटिया, चेट्टी, खत्री कमाटी (वैश्य)	5,176,383	अधिकांश प्रांत
बंजारा, लुम्बाड़ी, लबना, लमनी	951,022	बंबई, मध्य प्रांत, मध्य भारत, ग्वालियर, हैदराबाद, मैसूर, राजपूताना
बारिया, भालिया, चौधरा, गेडिया, खांट, कोली, कोतवाल, नाइकदा, पटेलिया, पाटनवाडिया, ठाकरदा, तलबदा, वल्वी	3,418,643	अधिकांश प्रांत
बौरी, बागड़ी	1,671,481	बंगाल, बिहार-उड़ीसा, राजपूताना
बावरिया, बावुरी, बओरी, बागड़ी, वागड़ी, बधिक	309,720	अधिकांश प्रांत

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं
बयार, बरमनु, धनगर, मुसहर	811,746	बंगाल, बिहार-उड़ीसा, यू.पी. मध्य भारत
बेदर, बोया	991,536	बंबई, मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रांत
भंडारी, इडिगा, इरुवन, सियाल	1,253,403	बिहार - उड़ीसा, कोचीन, मैसूर, मद्रा, त्रावणकोर, राजपूताना, बड़ोदा
भंगी	797,599	अजमेर-मारवाड़, बंबई, संयुक्त प्रांत, बड़ौदा, ग्वालियर, राजपूताना, पश्चिम भारतीय राज्य
भरवाड़, धनगर, गड़रिया, कुरुबा	1,816,283	अधिकांश प्रांत
भट, ब्रह्मभट्ट, चारण, जसौंधी	397,274	" "
भाटरा, परधाना, परजा	353,183	मद्रास, मध्य प्रांत और बरार
भील, बरेला, भिलाला, ढांका मंकर, मावची, पठिया, रठिया, तादवी	1,454,144	अधिकांश प्रांत
भिश्ती, भोई, धीमर, झीवर झींवर, कहार, माछी, तियार	3,575,941	अधिकांश प्रांत
बोहरा	212,752	बंबई, बड़ोदा, मध्य भारत, ग्वालियर मध्य प्रांत, राजपूताना, पश्चिमी भारत राज्य, त्रावणकोर
ब्राह्मण	15,207,277	अधिकांश प्रांत
ब्रहुई	224,415	बलुचिस्तान, बंबई
चमार, खल्पा, सामगरा	12,195,516	अधिकांश प्रांत
चासा, राजू	835,236	बंगाल, बिहार और उड़ीसा
चासी, कजबर्ता (महिस्या)	2,381,266	बंगाल
चूहड़ा	721,981	पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, पंजाब, दिल्ली
घानुक, कांदरा	758,671	बिहार और उड़ीसा, बंगाल, मध्य प्रांत मध्य भारत, अजमेर-मारवाड़, राजपूताना, दिल्ली, ग्वालियर,
धोबी, पारित, वनरन, वेलुटेट्दन	3,161,428	अधिकांश प्रांत
डोम, डोंबर, बांसफोड़ धरकर, ढोली	907,776	,, ,,

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं
ढोर, चकलियां	671,926	बंबई, मध्य प्रांत, मद्रास, कोचीन, त्रावणकोर, पश्चिम भारत के राज्य,
दुसाध	1,400,878	बंगाल, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रांत
फकीर	820,577	पंजाब, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, राजपूताना, मध्य भारत, एजेंसी ग्वालियर
गारो, हाजोंग, कचारी, मेच, रभा	695,648	असम, बंगाल
गोंड, धनवर, कलोटा, कमार, करवार, कोलम, कोंध कोंडा, डोरा, कोया, मरिया, मुरिया, नगरची	4,719,222	अंडमान और निकोबार, बंगाल, बिहार-उड़ीसा, बंबई, मध्य प्रांत और बरार, मद्रास और संयुक्त प्रांत, मध्य भारत, हैदराबाद, ग्वालियर, राजपूताना, मध्य भारत,
गूजर	2,430,669	अजमेर-मारवाड, बंबई, मध्य प्रांत, बरार, दिल्ली, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, संयुक्त प्रांत, मध्य भारत, राजपूताना
गुरिया, हलवाई	246,583	बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रांत, मध्य भारत, राजपूताना, ग्वालियर
हज्जाम, अंबट्टन, भंडारी, केलाशी, म्हाली, नाडिग, नाई, 'नाई-ब्राह्मण', नापित, नहावी, पंडिथर, वेल्लूक्ट्टलवन	3,725,860	अधिकांश प्रांत
हाड़ी	418,830	असम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास
जाट	8,377,819	पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, संयुक्त प्रांत, कश्मीर, राजपूताना
जोगी	111,586	ग्वालियर, मध्य भारत और एजेंसी राजपूताना, जम्मू कश्मीर
काईकोलान	419,078	मद्रास, कोचीन, त्रावणकोर

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं.
कलार	1,017,179	अजमेर-मारवाड, बंगाल, मध्य प्रांत और बरार, संयुक्त प्रांत, बड़ोदा, मध्य भारत, ग्वालियर, हैदराबाद, राजपूताना, सिक्किम
कल्लावन, मरवन	948,630	मद्रास, कोचीन, त्रावणकोर
कमलन 'विश्वब्राह्मण'		
पांचाल	7,735,393	अधिकांश प्रांत
करेन	1,367,673	बर्मा
कायस्थ, करण, प्रभु	2,946,228	अधिकांश प्रांत
केवट, कैबर्त्त	1,813,278	असम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रांत और बरार, संयुक्त प्रांत
कोलिटा	109,250	बिहार और उड़ीसा, मध्य प्रांत-बरार,
कोष्टी, देवंग	921,201	बंगाल, बंबई, मध्य प्रांत और बरार, मद्रास, मध्य भारत, हैदराबाद, मैसूर, ग्वालियर, कोचीन
खंडायत, पाइक	1,060,587	बिहार और उडीसा, बंगाल, मद्रास
किसान	431,044	बंगाल, बिहार और उड़ीसा, संयुक्त प्रांत,
खासी, सिनटेंग	232,595	असम, अंडमान और निकोबार
खटिक, चिक	412,520	संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बंगाल, दिल्ली, अजमेर-मारवाड, बलूचिस्तान, हैदराबाद, राजपूताना, ग्वालियर
कोरी, काटिया, बलई, चौपाल, जूगी	2,165,953	अधिकांश प्रांत
कोरकू, कोरवा	246,765	बिहार और उड़ीसा, मध्य प्रांत, मध्य भारत, संयुक्त प्रांत
कुम्हार, कुसवन	3,580,143	अधिकांश प्रांत
कुन्बी, कर्बी, कुर्मी, क्षत्रिय, कापू, कपेवार, रड्डी, वक्कलिगा, वेलेल्ला	11,082,108	,, ,, ,, ,,
लंब्बाई	374,829	कुर्ग, मद्रास, मैसूर, त्रावणकोर
लोधी	1,742,470	मध्य प्रांत, बरार, संयुक्त प्रांत, बंगाल, दिल्ली, राजपूताना, हैदराबाद, ग्वालियर,
लुशेई, सोकटे, थाडो	192,520	असम, बंगाल, बर्मा

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं
महार, मेहरा, ढेढ़, वनकर,		
होलिया, पुलयन, चेरुमन	4,729,405	अधिकांश प्रांत
माला	852,050	मध्य प्रांत और बरार, मद्रास
माली, फुलमाली, सैनी		
मालाकर	2,332,143	अधिकांश प्रांत
मल्लाह, गोरिया, गोंढ़ी	894,951	बंगाल, बिहार - उड़ीसा, संयुक्त प्रांत, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, मध्य भारत, ग्वालियर, राजपूताना
मंग, मेघ, मेघवाल, मदगी,		
मदिगा	2,556,765	अधिकांश प्रांत
मपिल्ला	139,621	त्रावणकोर, कोचीन, कुर्ग, बर्मा
मराठा	6,113,061	बंबई, मध्य प्रांत और बरार, ग्वालियर, हैदराबाद, बड़ोदा, मैसूर, मध्य भारत
मेथी	330,545	असम, बर्मा
मीना, मेव	1,110,479	अधिकांश प्रान्त
मीरासी	283,635	पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, राजपूताना, अजमेर-मारवाड, जम्मु और कश्मीर, मध्य भारत, ग्वालियर
मोची, जिंगर, डबगर,	1,026,405	अधिकांश प्रांत
मोमिन	3,122,100	अधिकांश प्रांत
मुंडा, मवासी, हो, कोल,		
खरवार, खरिया, भोगिया,		
भूमजी, कोरा	2,315,276	बिहार और उड़ीसा, बंगाल, मध्य प्रांत और बरार, मध्य भारत, संयुक्त प्रांत, राजपूताना
नागा	272,529	असम, बर्मा, ग्वालियर
नामशूद्र	2,265,476	असम, बंगाल
नायर	1,550,641	मद्रास, त्रावणकोर, कोचीन
नेपाली	371,906	अधिकांश प्रांत
नूनिया, ओड, बेलदार,		
बींड, रेगड़	561,926	,, ,, ,, ,,
ओरांव	1,021,334	बंगाल, बिहार और उड़ीसा, मध्य प्रांत औ

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं
		बरार,
पल्लन	825,224	मद्रास
पन, पनका, गंडा, पैडी,		
बराइक	1,241,322	बंगाल, बिहार और उड़ीसा, मध्य प्रांत और बरार, मद्रास, मध्य भारत
पराइयां, तुरी	1,277,365	मद्रास, बंबई, बड़ोदा, कोचीन, पश्चिम भारतीय राज्य, कुर्ग
पासी, अरख	1,743,166	बिहार और उड़ीसा, संयुक्त प्रांत, बंगाल, मध्य भारत
ओइंजारा, सराहीरा, घुनिया	865,254	संयुक्त प्रांत, बंबई, राजपूताना, ग्वालियर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, मध्य भारत, मैसूर, पश्चिमी भारत के राज्य, जम्मू और कश्मीर
राजभर, रज्झर, रजवार, भार	630,708	संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा, बंगाल, मध्य प्रांत और बरार
राजपूत	10,747,001	अधिकांश प्रांत
संथाल, सौंता,		
करमाली	2,524,472	बंगाल, बिहार और उड़ीसा, मध्य भारत,
सौन	480,131	संयुक्त प्रांत, मध्य भारत
सवारा, सांवर, सावर		
सहारिया	675,628	बिहार - उड़ीसा, मध्य प्रांत, मद्रास, संयुक्त प्रांत, मध्य भारत, राजपूताना, ग्वालियर
शाहा, सुनरी	533,825	बंगाल, मद्रास, सिक्किम
शान	900,204	बर्मा
शिल्पकार	333,036	संयुक्त प्रांत
सिंगफो, काचिन	156,253	बर्मा, असम
तलावला, दुबला	229,190	बंबई, बड़ोदा, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के राज्य
तंबोली, बराई	452,423	बंगाल, संयुक्त प्रांत, मध्य भारत, राजपूताना ग्वालियर, बड़ोदा
तकंक्षत्रिय	926,274	अधिकांश प्रांत

जाति	संख्या	मुख्य स्थान जहां पाए जाते हैं
तंती, तट्वा, भुलिया, चदर, सली	1,132,563	बंगाल, बिहार और उड़ीसा, बंबई, मध्य प्रांत और बरार
तेलगा	1,669,559	मध्य भारत
तेली, तीली, चक्कन, गनिग, चांची, वाणियां	5,024,496	मद्रास, हैदराबाद, कुर्ग
ठक्कर, राठी, रावत, कणैत, घिरथ	714,503	बंबई, पंजाब, मध्य भारत, ग्वालियर, जम्मू और कश्मीर, राजपूताना

परिशिष्ट 10

विभिन्न समुदायों की सापेक्ष जनसंख्या

भारत में, प्रांतों में और राज्यों में 10,000 व्यक्तियों का धर्म के अनुसार विवरण, 1921 और 1931

प्रांत आदि	वर्ष	हिन्दू	मुसलमान	बौद्ध	जनजाति	ईसाई	सिख	जैन	अन्य
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
भारत	1921	6,856	2,174	366	309	150	103	37	5
	1931	6,824	2,216	365	236	179	124	36	20
प्रांत	1921	6,606	2,407	465	280	123	96	18	5
	1931	6,548	2,469	468	213	142	118	17	25
अजमेर-मारवाड़ा	1921	7,356	2,055	-	96	112	4	372	5
	1931	7,755	1,734	-	27	124	6	348	6
अंडमान-निकोबार	1921	3,278	1,515	979	3,387	586	144	-	111
	1931	2,586	2,280	988	3,379	496	220	-	51
असम	1921	5,434	2,896	17	1,479	168	1	5	-
	1931	5,720	3,196	17	825	235	3	3	1
बलूचिस्तान	1921	920	8,731	4	-	159	182	-	4
	1931	894	8,744	1	1	174	181	1	4

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
बंगाल	1921	4,327	5,399	57	181	31	-	3	2
	1931	4,304	5,487	63	105	36	-	2	1
बिहार-उड़ीसा	1921	8,284	1,085	-	533	76	1	1	-
	1931	8.231	1,132	-	544	91	1	1	-
बम्बई	1921	7,658	1,974	1	64	137	4	111	51
	1931	7,605	2,039	1	59	145	10	92	49
बर्मा	1921	368	380	8,506	534	195	4	1	12
	1931	390	399	8,430	444	226	7	1	103
मध्य प्रांत और बरार	1921	8,354	405	-	1,160	30	1	49	1
	1931	8,601	440	-	872	33	3	50	1
कुर्ग	1921	7,733	795	1	1,265	194	-	12	-
	1931	8,939	844	-	-	210	-	5	2
दिल्ली	1921	6,569	2904	-	-	273	57	96	1
	1931	6,285	3,253	1	-	267	101	84	9
मद्रास	1921	8,864	671	-	137	322	-	6	-
	1931	8,831	707	-	75	380	-	7	-
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	1921	666	9,162	-	-	47	125	-	-
	1931	590	9,184	-	-	51	175	-	-

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
पंजाब	1921	3,181	5,533	1	–	159	1,109	17	–
	1931	2,684	5,655	2	–	176	1,299	15	169
संयुक्त प्रांत	1921	8,509	1,428	–	–	44	3	15	1
	1931	8,440	1,484	–	–	42	10	14	–
राज्य	1921	7,748	1,343	12	415	250	126	104	2
	1931	7,771	1,347	12	316	307	141	101	5

टिप्पणी : – रिक्त स्थान यह बताता है कि प्रति 10,000 संख्या नगण्य है। असम के संबंध में खासी राज्यों को 1921 के आंकड़ों में शामिल किया गया है। अन्यथा सभी राज्यों को प्रांतों से अलग रखा गया है।

भाग III

नायक और नायक-पूजा

6

रानाडे, गांधी और जिन्ना

18 जनवरी 1943 को पूना के

गोखले मेमोरियल हॉल में

महादेव गोविंद रानाडे

के 101वें जयंती समारोह

में दिया गया भाषण

1943 में पहली बार प्रकाशित

1943 में संस्करण का पुनर्मुद्रण

6.4.43

My dear Manohar,

Pray excuse me for not replying to your letter of the 19th March earlier than to-day. I am glad you liked my address on Ranade. I share your regret over the omission of the part dealing with Phule. I am however far from losing sight of its importance. I will take some occasion to enlarge it and publish it. I don't know what Thackers have done with Ranade. I have not had any news from them. I am busy now with the new edition of Pakistan. I am writing three more chapters. They will be very short. I propose to set out in these chapters my conclusions. I thank you

प्रोफेसर एम.बी. चिटनिस को लिखे गए डा. अम्बेडकर के हस्तलिखित अंग्रेजी पत्र की प्रतिकृति यहां इस उद्देश्य से प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि पाठक उनके सुलेख से अवगत हो सकें।

संपादक

प्रस्तावना

पूना की दकन सभा ने मुझे स्वर्गीय न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे के 101 वें जन्मदिन पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। जन्मदिन 18 जनवरी 1940 को मनाया जाना था। मैं आमंत्रण को स्वीकार करने के लिए अधिक उत्सुक नहीं था। इसका कारण था। मैं जानता था कि रानाडे संबंधी किसी भाषण में सामाजिक या राजनीतिक समस्याओं पर मेरे विचारों को टाला नहीं जा सकता था और वे श्रोताओं को और शायद दकन सभा के सदस्यों को भी बहुत प्रीतिकर नहीं लगेंगे। पर अंतत: मैंने उसे स्वीकार कर लिया। जब मैंने यह भाषण दिया था तो उस समय इसे प्रकाशित करने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी। महापुरुषों की जयंतियों पर दिए गए भाषण साधारणतया अवसर-विशेष के लिए होते हैं। उनका अधिक स्थायी मूल्य नहीं होता। मैंने यह नहीं सोचा था कि मेरा भाषण इसका अपवाद है, परंतु मेरे कुछ उत्पाती मित्र हैं। वे इस समूचे भाषण को छपा हुआ देखने के लिए उत्सुक रहे हैं और इसे छपवाने के लिए आग्रह करते रहे हैं। मैं इस विचार के प्रति तटस्थ व उदासीन हूं। इसका जो प्रचार-प्रसार हुआ है उससे मैं पूर्णतया संतुष्ट हूं। उससे अधिक की मुझे कोई आकांक्षा व इच्छा नहीं है। साथ ही, यदि कुछ लोग ऐसे हैं जो यह सोचते हैं कि इसे गुमनामी के अंधेरे में गुम होने से बचाना आवश्यक है, तो उनको निराश करने का कोई कारण मुझे नहीं दीख पड़ता।

प्रकाशित भाषण में और दिए गए भाषण में दो प्रकार से अंतर है। पहला तो यह कि भाषण का खंड X भाषण देते समय छोड़ दिया गया था, ताकि उसे नियत समय के अंदर पूरा किया जा सके। इस खंड के बिना भी इस भाषण को देने में डेढ़ घंटा लगा था। दूसरा अंतर यह है कि खंड VIII के एक बड़े हिस्से को छोड़ दिया गया है। इसमें रानाडे की फुले के साथ तुलना की गई थी। इसे छोड़ देने के दो कारण हैं। एक तो यह कि तुलना पर्याप्त रूप से इतनी पूर्ण तथा विस्तृत नहीं थी कि दोनों व्यक्तियों के साथ न्याय किया जा सके। दूसरा कारण यह है कि उस समय पर्याप्त कागज के मिलने में कठिनाई थी। उससे मुझे भाषण के कुछ अंश को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। अत: मुझे इस अंश का त्यागना ही सबसे उपयुक्त प्रतीत हुआ।

भाषण को विचित्र परिस्थितियों में प्रकाशित किया जा रहा है। साधारणतया समीक्षाएं प्रकाशन के बाद होती हैं। इस मामले में स्थिति उल्टी है। कोढ़ में खाज यह है कि समीक्षाओं

में भाषण की अत्यंत कठोर शब्दों में निंदा की गई है। मुख्यत: यह प्रकाशकों का सिरदर्द है। मुझे खुशी है कि प्रकाशक जोखिम को जानता है और उसे उठा रहा है। इसके बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल यह कहना है कि यह भाषण मेरे मित्रों के इस विचार की पुष्टि करता है कि इसमें ऐसी सामग्री है, जिसका क्षणिक से अधिक मूल्य है। जहां तक मेरा संबंध है, मैं समाचार-पत्रों में प्रकाशित इस भाषण की निंदा से तनिक भी उद्विग्न नहीं हूं। इसकी निंदा का आधार क्या है ? और इसकी निंदा करने के लिए कौन आगे आया है?

मेरी निंदा इसलिए की जाती है कि मैंने श्री गांधी और श्री जिन्ना की उस गड़बड़ी के लिए आलोचना की, जो उन्होंने भारतीय राजनीति में फैलाई। अत:मुझ पर यह आरोप लगाया जाता है कि ऐसा करके मैंने उनके प्रति घृणा और अनादर की भावना व्यक्त की है। इस आरोप के उत्तर में मुझे यह कहना है कि मैं एक आलोचक रहा हूं और आलोचक ही मुझे रहना चाहिए। हो सकता है कि मैं गलती कर रहा हूं, परंतु मैंने हमेशा यह महसूस किया है कि गलती करना बेहतर है, बजाए इसके कि दूसरों से मार्गदर्शन प्राप्त किया जाए या चुपचाप बैठा जाए तथा स्थिति को बिगड़ने दिया जाए। जो लोग मुझ पर यह आरोप लगाते हैं कि मैं उनके प्रति घृणा की भावना से प्रेरित हूं, वे दो बातों को भूल जाते हैं। पहली बात तो यह है कि यह तथाकथित घृणा किसी ऐसी बात से उत्पन्न नहीं हुई है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। यदि मैं उनके विरुद्ध हूं तो उसका कारण यह है कि मैं समझौता चाहता हूं। मैं कोई न कोई समझौता चाहता हूं। मैं किसी एक आदर्श समझौते की प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं हूं। न मैं किसी ऐसे व्यक्ति को सहन कर सकता हूं, जिसकी इच्छा तथा सहमति पर समझौते की मान-मर्यादा व प्रतिष्ठा निर्भर करे और जो मुगले आजम की तरह व्यवहार करे। दूसरी बात यह है कि यदि व्यक्ति का प्रेम तथा घृणा प्रबल नहीं है तो वह यह आशा नहीं कर सकता कि वह अपने युग पर कोई प्रभाव छोड़ सकेगा और ऐसी सहायता प्रदान कर सकेगा, जो महान सिद्धांत्तों तथा संघर्ष की अपेक्षी ध्येयों के लिए उचित हो। मैं अन्याय, अत्याचार, आडंबर तथा अनर्थ से घृणा करता हूं और मेरी घृणा उन सब लोगों के प्रति है, जो इन्हें करते हैं। वे इनके दोषी हैं। मैं अपने आलोचकों को यह बताना चाहता हूं कि मैं अपने घृणा-भावों को वास्तविक बल व शक्ति मानता हूं। वह केवल उस प्रेम की अभिव्यक्ति है, जो मैं उन ध्येयों व उद्देश्यों के लिए प्रकट करता हूं, जिनके प्रति मेरा विश्वास है। उसके लिए मुझे किसी प्रकार की शर्म महसूस नहीं होती। अत: श्री गांधी तथा श्री जिन्ना की मैंने जो आलोचना की है, उसके लिए मैं कोई क्षमा-याचना या खेद प्रकट नहीं करता, क्योंकि इन दोनों महानुभावों ने भारत की राजनीतिक प्रगति को ठप्प कर दिया है।

मेरी निंदा कांग्रेसी समाचार-पत्रों द्वारा की जाती है। मैं कांग्रेसी समाचार-पत्रों को भलीभांति जानता हूं। मैं उनकी आलोचना को कोई महत्व नहीं देता। उन्होंने कभी भी मेरे

तर्कों का खंडन नहीं किया है। वे तो केवल मेरे हर कार्य की आलोचना, भर्त्सना व निंदा करना जानते हैं। वे तो मेरी हर बात की गलत सूचना देते हैं, उसे गलत तरीके से प्रस्तुत करता है और उसका गलत अर्थ लगाते हैं। मेरे किसी भी कार्य से कांग्रेसी पत्र प्रसन्न नहीं होते। यदि मैं कहूं कि मेरे प्रति कांग्रेसी पत्रों का यह द्वेष व बैर-भाव अछूतों के प्रति हिन्दुओं के घृणा-भाव की अभिव्यक्ति ही है, तो अनुचित नहीं होगा। उनका यह द्वेष मेरे प्रति वैयक्तिक हो गया है, यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेसी पत्रों को तब भी कष्ट होता है, जब मैं उस जिन्ना की आलोचना करता हूं, जो विगत अनेक वर्षों से कांग्रेस की आलोचना का विषय तथा लक्ष्य रहा है। कांग्रेसी पत्र इन गालियों की बौछार मुझ पर करते हैं। वे कितनी भी तीखी तथा गंदी क्यों न हों, मुझे अपने कर्तव्य का पालन करना है। मैं मूर्तिपूजक नहीं हूं। मैं तो मूर्तिभंजक हूं। मेरा आग्रह है कि मैं यदि श्री गांधी तथा श्री जिन्ना से घृणा करता हूं तो मैं उन्हें केवल पसंद नहीं करता, मैं उनसे घृणा नहीं करता। उसका कारण यह है कि मैं भारत से अधिक प्रेम करता हूं। यह एक राष्ट्रवादी की सच्ची निष्ठा है। मुझे आशा है कि मेरे देशवासी किसी न किसी दिन यह सीख लेंगे कि देश, व्यक्ति से कहीं महान होता है। श्री गांधी या जिन्ना की पूजा और भारत की सेवा में आकाश-पताल का अंतर है और वे परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं।

भीमराव अम्बेडकर

22, पृथ्वीराज रोड, नई दिल्ली.
15 मार्च 1943.

रानाडे, गांधी और जिन्ना

1

मैं आपको यह बता दूं कि इस निमंत्रण से मैं बहुत प्रसन्न नहीं हूं। मुझे यह आशंका है कि हो सकता है कि मैं इस अवसर के साथ न्याय न कर सकूं। एक वर्ष पहले जब बंबई में रानाडे की जन्मशती मनाई गई थी तो माननीय श्रीनिवास शास्त्री को बोलने के लिए निमंत्रित किया गया था। अनेक कारणों से वह उस कार्य के लिए सुयोग्य व्यक्ति थे। अपने जीवन के कुछ भाग के लिए वह रानाडे के समकालीन होने का दावा कर सकते हैं। उन्होंने रानाडे को बहुत नजदीक से देखा था और वह रानाडे के इस कार्य के प्रत्यक्ष साक्षी थे, जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया था। उन्हें उनका मूल्यांकन करने तथा उनकी उनके सहकर्मियों के साथ तुलना करने का अवसर मिला था। अतएव वह रानाडे के संबंध में अपने विचार विश्वास के साथ प्रतिपादित कर सकते थे और उनको अपने वैयक्तिक संपर्क के कारण आत्मीयता के साथ व्यक्त कर सकते थे। वह रानाडे के जीवन की झांकी व किस्से बताकर श्रोताओं के समक्ष उनके जीवन-चरित्र पर प्रकाश डाल सकते थे। परंतु मेरे पास इनमें से कोई भी योग्यता नहीं है। रानाडे के साथ मेरा संबंध बहुत ही कम रहा है, यहां तक कि मैंने उनको देखा भी नहीं था। रानाडे के संबंध में केवल दो घटनाओं की मुझे याद है। पहली घटना का संबंध उनके निधन से है। मैं सतारा हाईस्कूल में पहली कक्षा का विद्यार्थी था। 16 जनवरी 1901 को हाईस्कूल बंद कर दिया गया था और उस दिन हम लड़कों ने छुट्टी मनाई थी। हमने जब यह पूछा कि स्कूल बंद क्यों कर दिया गया तो हमें यह बताया गया कि रानाडे की मृत्यु हो गई है। उस समय मेरी आयु लगभग 9 वर्ष की थी। मैं रानाडे के विषय में कुछ नहीं जानता था कि वह कौन थे, उन्होंने क्या किया था। अन्य लड़कों की भांति मैं भी छुट्टी होने पर प्रसन्न था और इस बात को जानने की कोई चिंता व परवाह नहीं थी कि कौन मर गया है। एक और घटना जो मुझे रानाडे की याद दिलाती है, वह पहली घटना के बहुत बाद की है। एक बार मैं अपने पिताजी के पुराने कागजों के कुछ बंडलों को देख रहा था। उस समय उनमें मुझे एक ऐसा कागज मिला, जिससे यह आभास मिला कि वह 'महार जाति' के कमीशंड तथा नॉन कमीशंड अधिकारियों द्वारा भारत सरकार को 1892 में जारी किए गए उन आदेशों के विरुद्ध भेजी गई एक याचिका थी, जिन आदेशों में सरकार

ने सेवा में महारों की भर्ती पर रोक लगाई थी। पूछताछ करने पर मुझे यह बताया गया कि यह हरजाना प्राप्त करने के लिए याचिका की एक प्रतिलिपि है। इसे रानाडे ने पीड़ित महारों की सहायता के लिए लिखा था। इन दो घटनाओं के अलावा मुझे रानाडे के विषय में कोई बात याद नहीं है। उनके संबंध में व्यक्तिगत रूप से मैं कुछ नहीं जानता। यह केवल वह जानकारी है, जो मुझे उनके काम के विषय में पुस्तक पढ़कर तथा उनके विषय में दूसरे लोगों के कथनों से मिली है। आपको मुझसे यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि मैं व्यक्तिगत अनुभव की कोई ऐसी बात कहूं, जिसमें या तो आपकी रुचि हो या आपको उससे शिक्षा मिले। एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति के रूप में उनके विषय में मेरे क्या विचार हैं और उनका आज भारतीय राजनीति में क्या स्थान है, मैं वही आपको बताना चाहता हूं।

2

जैसा कि आप भलीभांति जानते हैं कि रानाडे के कुछ मित्र हैं, जो उनको एक महापुरुष के रूप में चित्रित करने में झिझक नहीं करते और कुछ अन्य लोग ऐसे हैं, जो उसी समान आग्रह से उनको वह स्थान प्रदान नहीं करते। फिर सच्चाई क्या है ? परंतु यह प्रश्न मेरे विचार से एक और प्रश्न पर निर्भर होना ही चाहिए। वह प्रश्न है कि क्या इतिहास महापुरुषों का जीवन-चरित्र होता है। यह प्रश्न प्रासंगिक भी है और महत्वपूर्ण भी। क्योंकि यदि महापुरुष इतिहास के निर्माता नहीं तो कोई कारण नहीं कि हम सिनेमा के सितारों से अधिक ध्यान उनकी ओर दें। इस संबंध में अलग-अलग विचार हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस बात पर जोर देते हैं कि एक व्यक्ति कितना भी महान हो, समय ही उसका सृजनहार है, समय ही उसको बनाता है। समय ही सब कुछ करता है। वह कुछ नहीं करता। जिन लोगों का यह विचार व मत है, मेरे विचार से वे इतिहास की गलत व्याख्या करते हैं। ऐतिहासिक परिवर्तनों के कारणों के संबंध में तीन अलग-अलग मत रहे हैं। हमारे पास इतिहास के ऑगेस्टिनियन सिद्धांत हैं। उसके अनुसार इतिहास केवल एक दैवी योजना की अभिव्यंजना है। उसके अंतर्गत मानव-जाति को युद्ध तथा पीड़ा झेलते हुए उस समय तक निरंतर बने रहना है, जब तक वह दैवी योजना कयामत के दिन पूरी न हो सके। बकिल का मत है कि इतिहास की रचना भूगोल तथा भौतिकी ने की है। कार्ल मार्क्स ने तीसरा मत प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार इतिहास आर्थिक शक्तियों का प्रतिफल है। इन तीनों में से कोई भी यह स्वीकार नहीं करता कि इतिहास महापुरुषों की जीवनी होता है। वास्तव में, वे इतिहास के निर्माण में व्यक्ति को कोई स्थान नहीं देते। केवल धर्म-विज्ञानियों को छोड़कर और कोई भी इतिहास के ऑगेस्टिनियन सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता। जहां तक बकिल तथा मार्क्स का संबंध है, यद्यपि उनके कथन में सत्यता है, परंतु उनके मत पूर्ण सत्य को निरुपित नहीं करते। उनका यह मत बिल्कुल गलत है कि इतिहास के निर्माण में व्यक्ति से इतर शक्तियां ही सब कुछ होती हैं और व्यक्ति का उसे बनाने में कोई हाथ नहीं होता है। व्यक्ति से इतर शक्तियां एक

निर्धारी कारक होती हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। परंतु यह बात भी स्वीकार की जानी चाहिए कि व्यक्ति से इतर शक्तियों का प्रभाव व्यक्ति पर निर्भर करता है। चकमक हर स्थान पर विद्यमान नहीं हो सकता, परंतु जहां विद्यमान होता है, वहां अग्नि उत्पन्न करने के लिए चकमक से चकमक को रगड़ने के लिए मनुष्य की आवश्यकता होती है। बीज सर्वत्र नहीं पाए जाते। परंतु वे जहां पाए जाते हैं, वहां भी मनुष्य की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें बोने के लिए जमीन को कमाना पड़ता है, जमीन को भुरभुरा करना पड़ता है। उसे अनुकूल बनाने के लिए खाद-पानी देना पड़ता है और इस तरह नींव पड़ती है, कृषि की। अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहां धातुएं नहीं पाई जातीं, परंतु जहां पर पाई जाती हैं वहां भी उनसे वे मशीनें तथा उपकरण बनाने के लिए मनुष्य की आवश्यकता पड़ती है, जो कि सभ्यता तथा संस्कृति के आधार स्तंभ हैं।

सामाजिक शक्तियों को ही देखें। विभिन्न प्रकार की अनेक दुखद स्थितियां उत्पन्न होती हैं। ऐसी ही एक प्रकार की स्थिति वह है, जिसका वर्णन थायर ने थियोडोर रुजवेल्ट के जीवन-चरित्र में किया है। वह कहते हैं :

''प्रत्येक वर्ग, दल या संस्था में एक ऐसा समय आता है, जब उसका विकास रुक जाता है, उसकी धमनियां कठोर हो जाती हैं, उसके युवा वर्ग का कोई स्वप्न ही नहीं होता उसके वृद्धजन कोई स्वप्न ही नहीं देखते, वे अपने अतीत में ही खोए रहते हैं और हताश होकर अतीत को ही शाश्वत बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। राजनीति में भी जब घोर जड़ता की यह प्रक्रिया आ जाती है, तब हम उसे दूर करने का प्रयास नहीं करते। परिवर्तित तथा नवीन परिस्थितियों के साथ स्वयं को समायोजित करने में असमर्थ पाकर हम वापस अतीत में चले जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार एक बूढ़ा आदमी अपनी पुरानी आराम कुर्सी में धंस जाता है।''

दूसरी प्रकार की स्थिति अपकर्ष की स्थिति नहीं, बल्कि विनाश की स्थिति है। इसकी संभावना जब भी कोई संकट होता है, उस समय तो रहती ही है। पुराने तरीके, पुरानी आदतें तथा पुराने विचार समाज का उत्थान व उत्कर्ष करने तथा उसका मार्गदर्शन करने में असफल रहते हैं। जब तक उनमें नवीनता नहीं आती, तब तक उनके जीवित रहने की संभावना नहीं होती। कोई भी समाज निर्विघ्न नहीं चलता। उसमें अपकर्ष तथा विनाश की संभावनाओं के भूचाल आते ही रहते हैं। प्रत्येक समाज को उनका सामना करना पड़ता है। कुछ जीवित रहते हैं, कुछ नष्ट हो जाते हैं और कुछ में गतिहीनता और अपकर्ष होने लगता है। यह क्यों होता है ? क्या कारण है कि कुछ जीवित रहते हैं ? कार्लाइल ने इसका उत्तर दिया है। वह अपनी विशिष्ट शैली में कहते हैं :

''जरूरी नहीं कि कोई युग नष्ट-भ्रष्ट हो ही, यदि वह पर्याप्त महान एवं विद्वान व्यक्ति को प्राप्त कर ले। यदि समय की सही मांग को पहचानने वाले ज्ञानचक्षु हों, उसे सही मार्ग दिखाने का साहस एवं शौर्य हो तो किसी भी युग का उद्धार हो सकता है।''

मुझे यह उन लोगों के लिए एक बिल्कुल निर्णायक उत्तर प्रतीत होता है, जो इतिहास के बनाने में मनुष्य को कोई स्थान प्रदान करने से इन्कार करते हैं। संकट-काल का मुकाबला नए तरीकों की खोज से किया जा सकता है। जब कोई नया मार्ग व तरीका नहीं मिलता तो समाज का पतन हो जाता है। समय संभावित नवीन मार्ग प्रस्तुत कर सकता है। परंतु सही मार्ग पर चलना समय का काम नहीं है। यह काम मनुष्य का है। अतएव मनुष्य इतिहास के निर्माण का एक साधन है और पर्यावरण संबंधी शक्तियों के, चाहे दैवी हों या सामाजिक, भले ही सर्वप्रथम हों, पर वे अंतिम चीज नहीं हैं।

3

महापुरुष किसे कहा जा सकता है ? यदि पूछा जाए कि क्या सिकंदर, अत्तिला, सीजर तथा तैमूरलंग जैसे शूरवीर योद्धा हैं, तो प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। वीर योद्धा युग निर्माता होते हैं और व्यापक परिवर्तन लाते हैं। वे अपनी विजय के प्रचंडनाद से अपने समकालीन व्यक्तियों को स्तंभित और चकित कर देते हैं। वे महान हो जाते हैं। वे इसकी प्रतीक्षा नहीं करते कि लोग उन्हें महान कहें। जैसे हिरनों के बीच में शेर होता है, वैसे ही वे मनुष्यों के बीच होते हैं। परंतु यह बात भी उतनी ही सच है कि मानव-जाति के इतिहास पर उनका स्थायी प्रभाव बहुत ही कम होता है। उनकी विजय संकुचित हो जाती है और यहां तक कि नेपोलियन जैसे महान सेनानायक को भी अपनी समूची विजय सफलताओं के बाद फ्रांस को मूल से भी लघु आकार में देखना और छोड़ना पड़ा। जरूरत पड़ने पर जब उन पर कुछ दूरी से दृष्टिपात किया जाता है तो विश्व के समूचे कार्य-व्यापार में वे केवल सामयिक महत्व की दीख पड़ती हैं और जिस समाज में घटित होती हैं, उस पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डालतीं। उनके जीवन तथा नैतिक आचरण का वृत्त रोचक हो सकता है, परंतु वे समाज को प्रभावित नहीं करते और समूचे समाज के स्वरूप को बदलने के लिए वे कोई प्रभाव नहीं छोड़ते तथा कोई परिवर्तन नहीं लाते।

जब प्रश्न किसी ऐसे व्यक्ति के विषय में पूछा जाता है जो सेनाध्यक्ष नहीं है तो उत्तर देना कठिन हो जाता है। क्योंकि उस समय यह प्रश्न जांच व कसौटी का प्रश्न हो जाता है और अलग लोगों की अलग-अलग जांच व कसौटी होती है।

नायक-पूजा के प्रबल पक्षधर कार्लाइल की अपनी एक निजी कसौटी व जांच थी। उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में उसका उल्लेख किया है :

लेकिन विशेष रूप से महापुरुष के बारे में मैं अति आग्रह से यह कहने का साहस करूंगा कि इस पर तो विश्वास किया ही नहीं जा सकता कि वह सत्यनिष्ठ के अलावा वह कुछ और भी हो सकता है. . . कोई व्यक्ति तभी समर्थ होगा, जब, वह सर्वप्रथम सत्यनिष्ठ हो, उसे मैं निष्ठावान व्यक्ति कहूंगा निष्ठा कैसी गहन, अति खरी निष्ठा। सभी वीर-गुणी व्यक्तियों का सर्वोपरि प्रधान लक्षण है।''

कार्लाइल ने नि:संदेह सच्चाई की अपनी कसौटी की परिभाषा विशेष रूप से स्पष्ट शब्दों में दी है और ऐसा करने में उसने अपने पाठकों को इस बात की भी चेतावनी दी है कि इसकी व्याख्या करने में सच्चाई के विषय में उनके विचार हैं :

''वह सच्चाई नहीं, जो स्वयं को सच्चा कहती है : ओह, बिल्कुल नहीं! वह वास्तव में अति तुच्छ बात है ; एक छिछली, आत्म-श्लाघी, स्व-आरोपित सच्चाई जो बहुधा मुख्यत: अभिमान एवं अहंकार पूर्ण होती है। महापुरुष की सच्चाई इस प्रकार की होती है कि उसके विषय में वह कुछ बोल ही नहीं सकता, उसका उसे बोध ही नहीं होता। इसके विपरीत मेरा विचार है कि वह पाखंड से अधिक सचेत रहता है। महापुरुष तो कभी भी अपने को ईमानदार कहकर आत्म-प्रशंसा नहीं करता, वह उससे कोसों दूर रहता है; वह शायद स्वयं से भी यह नहीं पूछता कि क्या वह ऐसा है : बल्कि मैं तो यह कहूंगा कि उसकी सच्चाई तो स्वयं उस पर भी निर्भर नहीं करती, वह सच्चाई का पल्ला छोड़ ही नहीं सकता।''

लार्ड रोजबरी ने एक और कसौटी नेपोलियन के संबंध में प्रस्तुत की। नेपोलियन जितना महान जनरल था, उतना ही महान प्रशासक भी था। क्या नेपोलियन महान था ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय रोजवरी ने निम्नलिखित भाषा का प्रयोग किया :

''यदि 'महान' से अभिप्राय नैतिक और प्रतिभा संबंधी गुणों के समन्वय से है तो वह निश्चित रूप से महान नहीं है। परंतु वह असाधारण तथा सर्वोच्च होने के अर्थ में महान है। इसमें हमें कोई संदेह नहीं हो सकता। यदि महानता का अर्थ प्राकृतिक शक्ति, प्रधानता, मानवता से परे किसी मानवीयता से है, तब नेपोलियन निश्चय ही महान है। उस वर्णनातीत चिंगारी के अलावा जिसे हम प्रतिभा कहते हैं, वह बुद्धि तथा शक्ति के ऐसे समन्वय का प्रतीक है, जिसकी शायद कभी भी न तो बराबरी की गई और न ही कभी उसे लांघा गया।''

एक तीसरी कसौटी है, जिसे दार्शनिकों ने बताया है या यदि और ठीक-ठीक कहें तो इसे लोगों ने बताया है, जो मानवीय कार्यव्यापार के दैवी-निर्देश में विश्वास करते हैं। महापुरुष कौन होता है, उसके विषय में उनकी अवधारणा अलग है। उनके विचारों को संक्षेप में रोजबरी ने इस प्रकार व्यक्त किया है-''महापुरुष विश्व में एक महान प्राकृतिक या अलौकिक शक्ति के रूप में अवतरित होता है। वह समाज की गंदगी की सफाई करता है तथा उसे सही मार्ग पर ले जाता है। वह शुद्धिकारक तथा संकटमोचक वरदान होता है। वह एक विराट कार्य में लगा होता है, जो अंशत: सकारात्मक तथा मुख्यत:नकारात्मक होता है, परंतु सबका संबंध सामाजिक पुनरुद्धार से होता है।

इनमें से सही व सच्ची कसौटी कौनसी है ? मेरे विचार से सभी कसौटियां अपूर्ण हैं, कोई भी पूर्ण नहीं है। सच्चाई तो महापुरुष की कसौटी होनी ही चाहिए। कलेमेन्सो ने एक बार कहा था कि अधिकांश राजनेता दुष्ट व बदमाश होते हैं। राजनेता अनिवार्यत:महापुरुष नहीं होते और जिन लोगों के अनुभव पर उसने अपना मत कायम किया, वे स्पष्टत:ऐसे लोग

हैं, जिनमें सच्चाई का अभाव रहा है। फिर भी, कोई भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि सच्चाई इसकी प्रमुख या एकमात्र कसौटी ही है, क्योंकि सच्चाई ही काफी नहीं होती। एक महापुरुष में सच्चाई तो होनी चाहिए, क्योंकि समूचे नैतिक गुणों के संगम के बिना कोई भी व्यक्ति महान नहीं कहला सकता। परंतु एक व्यक्ति को महान बनाने में केवल सच्चाई के अलावा भी कोई गुण होना चाहिए। एक व्यक्ति सच्चा हो सकता है, परंतु फिर भी वह मूर्ख हो सकता है। एक मूर्ख व्यक्ति एक महान व्यक्ति के ठीक विपरीत होता है। एक व्यक्ति इसलिए महान होता है कि वह समाज को संकट की घड़ी में से उबारने के लिए मार्ग ढूंढ लेता है। परंतु मार्ग को ढूंढने में उसकी सहायता क्या चीज कर सकती है ? वह ऐसा केवल प्रतिभा की सहायता से कर सकता है। प्रतिभा प्रकाश है। इसके अलावा और कोई चीज काम नहीं करती। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि सच्चाई के बिना कोई व्यक्ति महान नहीं हो सकता। क्या एक महान व्यक्ति को बनाने के लिए यह पर्याप्त है ? इस अवस्था में मेरे विचार से हमें एक प्रसिद्ध व्यक्ति और एक महान व्यक्ति में अंतर समझना चाहिए। क्योंकि मेरा निश्चय है कि एक महान व्यक्ति एक प्रसिद्ध व्यक्ति से बहुत ही भिन्न होता है। एक व्यक्ति की सच्चाई, ईमानदारी या निष्कपटता तथा प्रतिभा जैसे गुण उसे अपने साथियों की तुलना में प्रसिद्ध व्यक्ति होने के लिए पर्याप्त होते हैं। परंतु वे उसे एक महान व्यक्ति के पद व सम्मान तक पहुंचाने के लिए पर्याप्त नहीं होते। एक महान व्यक्ति में मात्र एक प्रसिद्ध व्यक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक होना चाहिए। वह अधिक चीज क्या होनी चाहिए? यहां पर दार्शनिक द्वारा दी गई महान व्यक्ति की परिभाषा का महत्व सामने आता है। एक महान व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्य की गतिशीलता से प्रभावित होना चाहिए और उसे समाज के अंकुश तथा अपमार्जक के रूप में काम करना चाहिए। ये वे तत्व हैं, जिनसे एक महान व्यक्ति की एक प्रसिद्ध व्यक्ति से अलग पहचान की जा सकती है और इन्हीं में सर्वोत्तम कार्यों के सम्मान तथा आदर के उसके अधिकार निहित हैं।

4

क्या रानाडे एक महापुरुष थे? उनका व्यक्तित्व नि.संदेह महान था। वह भीमकाय व्यक्ति थे। वह आशावादी स्वभाव, मिलनसार तथा हंसमुख मनोवृत्ति एवं बहुमुखी क्षमता वाले व्यक्ति थे। उनमें सच्चाई थी, जो सब नैतिक गुणों का संगम है और उनकी सच्चाई उस प्रकार की थी, जिसका वर्णन कार्लाइल ने किया है। वह दंभपूर्ण आत्म-श्लाघी सच्चाई नहीं थी। वह स्वाभाविक सच्चाई थी। वह एक मूलभूत व स्वाभाविक विशेषता थी, उसमें बनावट नहीं थी। वह न केवल डीलडौल तथा सच्चाई की दृष्टि से बड़े थे, बल्कि प्रतिभा के भी धनी थे। रानाडे एक उच्च प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। इसमें किसी व्यक्ति को संदेह नहीं हो सकता। वह उच्च न्यायालय के मात्र एक वकील तथा न्यायाधीश ही नहीं थे, बल्कि वह प्रथम श्रेणी के अर्थशास्त्री, प्रथम श्रेणी के इतिहासकार, प्रथम श्रेणी के शिक्षाविद तथा प्रथम

श्रेणी के धर्मतत्वज्ञ भी थे। वह राजनीतिज्ञ नहीं थे। कदाचित, यह अच्छी बात है कि वह राजनीतिज्ञ नहीं थे। क्योंकि यदि वह राजनीतिज्ञ होते, तो हो सकता है कि वह महान व्यक्ति न हो सकते। जैसा कि अब्राह्म लिंकन ने कहा था, ''राजनीतिज्ञ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनका हित लोक-हित से अलग होता है और जिनको अर्थात् उनमें से अधिकांश को समूह के रूप में लिया जाता है और वे ईमानदार मनुष्यों से काफी हटकर होते हैं।'' रानाडे यद्यपि राजनीतिज्ञ नहीं थे, परंतु राजनीति के पारंगत विद्यार्थी थे। वास्तव में, भारत के इतिहास में रानाडे के समकक्ष व्यापक विद्वता, प्रचंड बुद्धि तथा दूरदृष्टि वाले किसी व्यक्ति को ढूंढना कठिन होगा। ऐसा कोई भी विषय नहीं था, जिसे उन्होंने छुआ न हो और जिसमें उन्होंने गूढ़ता व महारत हासिल न की हो। उनका अध्ययन विशाल स्तर का था और वह हर प्रकार से पूर्ण विद्वान थे। वह न केवल अपने समय के मापदंड के अनुसार, बल्कि किसी भी मापदंड के अनुसार महान थे। जैसा कि मैने कहा है, महान व्यक्ति बनने का कोई भी दावा सच्चाई तथा प्रतिभा में से किसी एक पर या इनके संयुक्त रूप पर निर्भर नहीं होता। यदि रानाडे में ये दो गुण ही होते और इनसे अधिक गुण न होते तो उनको महान नहीं कहा जा सकता था। महान व्यक्ति होने की उनकी उपाधि, उन्होंने जो सामाजिक कार्य किए थे, जिस तरीके से वे कार्य किए, उस पर निर्भर करती है। इस संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता। रानाडे को एक इतिहासवेत्ता, अर्थशास्त्री या शिक्षाविद की अपेक्षा एक समाज सुधारक के रूप में ही अधिक जाना जाता है। उनका संपूर्ण जीवन ही समाज सुधार के लिए अनवरत अभियान में समर्पित रहा। समाज सुधारक के रूप में उनकी जो भूमिका रही है, वही उनके महान होने की उपाधि का आधार है। रानाडे में साहस तथा दूरदृष्टि दोनों ही थे, जिनकी आवश्यकता सुधारक के लिए होती है। जिन परिस्थितियों में उनका जन्म हुआ था, उनमें उनके साहस और दूरदृष्टि का बराबर का महत्व था। जिस कालखंड में वह जन्में थे, उसमें यह बात केवल अचरज की बात होती कि उनमें पैगम्बर की सी दूरदृष्टि थी। मैंने तो यह बात यहूदी दृष्टिकोण से कही है। रानाडे का जन्म 1842 में किर्की के युद्ध से लगभग 24 वर्ष बाद हुआ था। उस युद्ध में मराठा साम्राज्य का अंत हो गया था।

मराठा साम्राज्य के पतन ने विभिन्न लोगों के अन्दर विभिन्न प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कीं। नातू जैसे कुछ लोग इस बात से प्रसन्न थे कि ब्राह्मण पेशवा का अभिशप्त शासन समाप्त हो गया है। परंतु इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि महाराष्ट्र में अधिकांश लोग इस घटना से स्तंभित रह गए थे। जब समूचा भारत विदेशी गिरोहों के बढ़ते कदमों से घिरता जा रहा था और भारत की जनता को तिल-तिल करके क्रमश: दास बनाया जा रहा था, तब यहां महाराष्ट्र के नन्हे से कोने में एक हट्टी-कट्टी जाति रहती थी, जो यह जानती थी कि स्वतंत्रता क्या होती है? उसने स्वतंत्रता के लिए भरपूर लड़ाई लड़ी थी और मीलों तक इसकी स्थापना की थी। अंग्रेजों की विजय से उनकी यह अनमोल थाती समाप्त हो गई थी। इस बात की

कल्पना की जा सकती है कि महाराष्ट्र की सर्वोत्तम प्रतिभा किस प्रकार पूर्णतया भौचक व हैरान हो गई थी और उसके सामने पूर्णतया अंधेरा छा गया था। ऐसी महान विपत्ति के प्रति क्या स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती थी? यह होनी के आगे आत्म-समर्पण और घुटने टेकने के अलावा और क्या हो सकता है ? इस पर रानाडे की क्या प्रतिक्रिया हुई? यह अत्यंत भिन्न रूप में हुई। आशा थी कि जो गिरे हैं, वे उठेंगे भी, वास्तव में उनके अंदर एक नया विश्वास उपजा जो इस आशा का आधार था। मैं उनके ही शब्दों को उद्धृत करता हूं :

''मैं अपने धर्म के दो सिद्धांतों के प्रति अनन्य आस्था व्यक्त करता हूं। हमारा यह देश आशावाद का साकार रूप है। हमारी यह जाति श्रेष्ठ जाति है।''

वह आशा तथा विश्वास के नवीन मूसा सिद्धांत को केवल प्रस्तुत करके ही चुप नहीं बैठे। उन्होंने इस आशा की प्राप्ति के प्रश्न पर भी अपना ध्यान दिया। इसकी पहली आवश्यकता, वास्तव में पतन के कारणों का निष्पक्ष विश्लेषण करने की थी। रानाडे ने यह महसूस किया कि यह पतन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में कुछ कमजोरियों के कारण हुआ था और जब तक इन कमजोरियों को दूर नहीं किया जाता, तब तक आशा व आकांक्षा पूरी नहीं हो सकती। अतएव उन्होंने नवीन सिद्धांत के बाद कर्तव्य के लिए आह्वान किया था। यह कर्तव्य हिन्दू समाज में सुधार करने के कर्तव्य के अलावा कोई और कर्तव्य नहीं था। अतएव सामाजिक सुधार उनके जीवन का एक प्रमुख उद्देश्य हो गया था। उनके अंदर सामाजिक सुधार की भावना विकसित हुई और इसका बढ़ावा देने में उन्होंने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। इसके लिए उन्होंने जो तरीके अपनाए, उनमें बैठकें करना, शिष्ट मंडल भेजना, भाषण व उपदेश, लेख, साक्षात्कार व पत्र शामिल थे। ये सब कार्य उन्होंने निरंतर व अथक उत्साह के साथ किए। उन्होंने अनेक सभाओं, सोसाइटियों की स्थापना की। उन्होंने कई पत्रिकाओं को स्थापित किया। परंतु वह इससे संतुष्ट नहीं हुए। वह सामाजिक सुधार के काम को बढ़ावा देने के लिए कुछ ऐसी चीजें चाहते थे, जो अपेक्षाकृत और अधिक स्थायी और अधिक व्यवस्थित हों। अतएव उन्होंने सापाजिक सम्मेलन (सोशियल कांफ्रेंस) नामक एक अखिल भारतीय संगठन की स्थापना की। वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक सहायक के रूप में चला। सामाजिक बुराइयों पर चर्चा करने के लिए वर्षानुवर्ष बैठकें होती थीं। रानाडे हर वर्ष उसके वार्षिक अधिवेशनों में उपस्थित होते थे, जैसे कि यह उनकी तीर्थयात्रा हो वह सामाजिक सुधार के हेतु कार्य व उद्देश्यों को प्रोत्साहित करते थे।

सामाजिक सुधार के कार्य व हेतु को प्रोत्साहित करने में रानाडे ने बहुत उत्साह दिखाया। इस पीढ़ी के बहुत से लोग ऐसे दावे पर शायद हंसेंगे। जेल में जाना भारत में शहादत का काम हो गया है। इसे देशभक्ति का काम तथा साहस का काम माना जाता है। अधिकांश लोग जो अन्यथा ध्यान देने के अयोग्य होंगे और जिनके मामले में यह कहना ठीक ही हो सकता था कि वे बदमाश व दुष्ट थे जिन्होंने राजनीति को अपने अंतिम सहारे के रूप में अपना लिया था, जेल में जाकर वे शहीद हो गए हैं और उन्होंने नाम तथा प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है, जो

कम से कम कहने के लिए तो अति विस्मयकारी है। यदि जेल के जीवन में वैसी यातनाएं होतीं, जिन्हें तिलक जैसे व्यक्तियों तथा उनकी पीढ़ी के लोगों ने सहा था तो इस विचार में कुछ सार होता। जेल के जीवन में आज कोई आतंक या भय नहीं रहा है। यह अब केवल नजरबंदी का मामला हो गया है। राजनीतिक कैदियों को अब अपराधी नहीं माना जाता। उनको एक अलग श्रेणी में रखा जाता है। उनको किसी कठिनाई या परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता। उनकी प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा को कोई ठेस नहीं पहुंचती और उनको अलग भी नहीं रखा जाता। इसके लिए किसी प्रकार के साहस की आवश्यकता नहीं। परंतु तब भी जब जेल के जीवन में, जैसा कि तिलक के समय में था, वास्तव में यातनाएं थीं। राजनीतिक बंदी एक समाज सुधारक से अधिक साहस रखने का दावा नहीं कर सकते थे। अधिकांश लोग यह महसूस नहीं करते हैं कि समाज एक व्यक्ति के विरुद्ध सरकार की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में अत्याचार तथा दमनचक्र चला सकता है। दमन के जो साधन तथा क्षेत्र समाज के समक्ष खुले हैं, वे सरकार के समक्ष खुले साधनों तथा क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक हैं और वे उनसे अधिक प्रभावी भी हैं। दंड संहिता में ऐसे कौन से दंड की व्यवस्था है, जिसकी तुलना बहिष्कार के दंड की गंभीरता तथा मात्रा से की जा सके? अधिक साहस किसमें होता है? उस समाज सुधारक में जो समाज को चुनौती देता है और अपने लिए बहिष्कार की सजा को आमंत्रित करता है, या उस राजनीतिक बंदी में जो सरकार को चुनौती देता है और केवल कुछ महीनों की या कुछ सालों की जेल की सजा पाता है? इनमें एक और भी अंतर है, जिसे समाज सुधारक तथा राजनीतिक देशभक्त द्वारा दर्शाए गए साहस का अनुमान लगाने या मूल्यांकन करने में प्राय:ध्यान में नहीं रखा जाता। जब समाज सुधारक समाज को चुनौती देता है, तब कोई भी व्यक्ति उसको शहीद कहकर उस का स्वागत नहीं करता। कोई भी व्यक्ति उसका मित्र तक बनने के लिए तैयार नहीं होता। उससे लोग घृणा करते हैं और बचकर रहते हैं, परंतु जब राजनीतिक देशभक्त सरकार को चुनौती देता है, तो सारा समाज उसका समर्थन करता है। उसकी प्रशंसा की जाती है, उसकी सराहना की जाती है और उसे उद्धारक के रूप में तथा मुक्तिदाता के रूप मेंआदर दिया जाता है। कौन अधिक साहस दिखाता है? वह समाज सुधारक जो अकेला लड़ता है, या वह राजनीतिक देशभक्त जो बहुत बड़ी संख्या में अपने समर्थकों के सहयोग से लड़ता है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि रानाडे ने समाज-सुधार के कार्य को हाथ में लेते समय साहस दिखाया था। वास्तव में, उन्होंने उच्चकोटि का साहस दर्शाया था। क्योंकि आप यह बात याद रखें कि उनके समय में सामाजिक तथा धार्मिक प्रयासों तथा रीतिरिवाजों को, चाहे वे जितने घटिया तथा अनैतिक थे, परम पवित्र तथा अलंघनीय माना जाता था तथा जब उनके दैवी व उत्कृष्ट तथा नैतिक आधार पर कोई संदेह प्रकट करता था, या उस पर कोई प्रश्न खड़ा करता था, चुनौती देता था, तो उसकी बात को केवल एक अपसिद्धांत शासन विरुद्ध ही नहीं माना जाता था, बल्कि उसे असहनीय ईशनिंदा तथा धर्मविरोध व देवद्रोह के रूप में माना जाता था।

5

एक सुधारक के रूप में उनका मार्ग सरल व निष्कंटक नहीं था। वह अनेक दिशाओं से अवरुद्ध था। जिन लोगों को वह सुधारना चाहते थे, उनकी भावनाएं प्राचीन अतीत में गहरी धंसी हुई थीं। उनका विश्वास था कि उनके पूर्वज सबसे अधिक बुद्धिमान तथा सबसे कुलीन व उत्कृष्ट व्यक्ति थे और उन्होंने सर्वोच्च आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना की थी। हिन्दू समाज की जो लज्जास्पद तथा त्रुटिपूर्ण बातें रानाडे को महसूस हुईं, वे उनके लिए धर्म की सबसे पवित्र निषेधाज्ञाएं थीं। जनसाधारण की यह मनोवृत्ति थी। बुद्धिजीवी दो वर्गों में बंटे हुए थे। एक वर्ग वह था जो रूढ़िवादी विश्वास वाला था, परंतु उसका दृष्टिकोण राजनीतिक नहीं था ओर एक वर्ग वह था जो अपने विचारों से आधुनिक था, परंतु उसके लक्ष्य तथा उद्देश्य मूलतः राजनीतिक थे। पहले वर्ग का नेतृत्व श्री चितलेकर कर रहे थे और दूसरे का श्री तिलक। वे दोनों रानाडे के विरुद्ध एकजुट हो गए और उन्होंने उनके मार्ग में यथासंभव अधिक से अधिक कठिनाइयां उपस्थित कीं। उन्होंने केवल समाज सुधार के ध्येय को ही सबसे ज्यादा नुकसान नहीं पहुंचाया, बल्कि जैसा कि अनुभव से पता चलता है, उन्होंने भारत में राजनीतिक सुधार के ध्येय को भी सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाया है। राजनीति से विमुख या रूढ़िवादी विचारधारा के लोग हेगलवादी दृष्टि में विश्वास रखते थे। यह मेरे लिए एक पहेली है, अर्थात आदर्श को प्राप्त करना तथा यथार्थ को आदर्श बनाना। इसमें यह बात एकदम गलत है। हिन्दू धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि आप इसके आदर्श स्वरूप को यथार्थता प्रदान करने के लिए आगे नहीं बढ़ सकते, क्योंकि आदर्श बुरा होता है। न ही आप यथार्थ को आदर्श की स्थिति पर पहुंचाने का प्रयास कर सकते हैं, क्योंकि यथार्थ अर्थात् वर्तमान परिस्थिति बद से भी बदतर है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। हिन्दू धार्मिक व्यवस्था को लीजिए या हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को लीजिए और इसकी सामाजिक उपयोगिता तथा सामाजिक न्याय की दृष्टि से जांच कीजिए। यह कहा जाता है कि धर्म उस समय तक अच्छा होता है, जब वह टकसाल से ताजा-ताजा निकलता है। परंतु हिन्दू धर्म तो प्रारंभ से ही एक खोटा सिक्का जैसा रहा है। समाज के हिन्दू आदर्श ने जैसा कि हिन्दू धर्म द्वारा निर्धारित किया गया है, हिन्दू समाज पर सबसे अधिक भ्रष्ट करने वाले तथा विकृत करने वाले प्रभाव के रूप में कार्य किया है। उसका स्वरूप तथा तत्व नीत्शेवादी है। नीत्शे के जन्म लेने से बहुत पहले ही मनु ने उस सिद्धांत की घोषणा कर दी थी, जिसका प्रचार करने का नीत्शे ने प्रयास किया। यह एक ऐसा धर्म है, जिसका अभीष्ट स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की स्थापना करना नहीं है। यह एक सिद्धान्त है, जो शेष हिन्दू समाज द्वारा अतिमानव ब्राह्मण की पूजा व उपासना का पोषण करता है। यह इस बात को प्रस्तुत करता है कि अतिमानव तथा एकमात्र उसका वर्ग ही जीवित रहने तथा शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। दूसरे लोगों का जन्म उनकी सेवा करने के लिए ही होता है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। उनका जीवन अपना जीवन नहीं होता और अपने स्वयं के व्यक्तित्व को विकसित

करने का उनको कोई अधिकार नहीं होता। यह हिन्दू धर्म का सिद्धांत रहा है। हिन्दू दर्शन, चाहे वह वेदांत हो या सांख्य, न्याय और वैशेषिक, हिन्दू धर्म को किसी रूप में प्रभावित किए बिना अपनी धुरी पर घूमता रहा है। इस सिद्धांत को चुनौती देने का साहस उसमें कभी नहीं हुआ। यह हिन्दू दर्शन की प्रत्येक वस्तु ब्रह्ममय है, केवल बुद्धि का ही खिलवाड़ रहा। यह कभी भी सामाजिक दर्शन नहीं हुआ। हिन्दू दार्शनिकों ने अपने दर्शन तथा अपने मनु, दोनों को अलग-अलग हाथों में रखा, दाएं को यह पता नहीं कि बाएं के पास क्या था। हिन्दू को उनके परस्पर विरोध से कभी कष्ट नहीं होता। जहां तक उनकी समाज-व्यवस्था का संबंध है, क्या उससे अधिक भ्रष्ट और कुछ हो सकता है? जातिप्रथा चातुर्वर्ण्य का जो कि हिन्दू का आदर्श है, एक भ्रष्ट रूप है। कोई व्यक्ति जो जन्मजात जड़बुद्धि या मूर्ख नहीं है, चातुर्वर्ण्य को समाज का आदर्श रूप कैसे स्वीकार कर सकता है? व्यक्तिगत रूप से तथा सामाजिक रूप से यह एक मूर्खता या अपराध है। केवल एक वर्ग को ही शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होना, केवल एक वर्ग को ही व्यापार करने का अधिकारी होना, केवल एक वर्ग को ही सेवा करने के लिए होना, व्यक्ति के लिए इसके परिणाम स्पष्ट व प्रत्यक्ष हैं। आपको ऐसा विद्वान व्यक्ति कहां मिल सकता है, जिसके पास आजीविका का कोई साधन न हो और वह अपनी शिक्षा को विकृत न करे? आपको ऐसा सिपाही कहां मिल सकता है, जिसकी कोई शिक्षा तथा संस्कृति न हो और वह अपने शस्त्रों का उपयोग संरक्षण के लिए करे, विनाश के लिए नहीं? आपको ऐसा व्यापारी कहां मिलेगा, जिसके पास फूटी कौड़ी तक न हो और वह ऐसी अर्जनवृत्ति अपना ले, जो घटिया स्तर पर न पहुंचे? आपको ऐसा सेवक कहां मिल सकता है जो न तो शिक्षा प्राप्त करे, न शस्त्र ग्रहण करे और न जीविकोपार्जन के अन्य साधन अपनाए और अपना मनचाहा निर्माता बने। यदि यह व्यक्ति के लिए हानिकारक है तो यह समाज को भी भेध्य तथा नाजुक बना देती है। समाज संरचना को केवल एक अच्छे मौसम के अनुकूल होना ही पर्याप्त नहीं है, उसके तूफान को झेलने की भी शक्ति होनी ही चाहिए। क्या हिन्दू वर्ग व्यवस्था किसी आक्रमण की झंझा को झेल सकती है? जाहिर है कि नहीं झेल सकती। चाहे प्रहार हो या प्रतिरक्षा, समाज को इस योग्य होना ही चाहिए कि वह अपनी शक्तियों का संघटन कर सके। जहां कर्तव्यों तथा दायित्वों का वितरण तथा निर्धारण एकांगी तथा अपरिवर्तनीय हो, वहां संघठन कैसे हो सकता है? नब्बे प्रतिशत हिन्दू-ब्राह्मण, वैश्य तथा शुद्र-हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत शस्त्र धारण नहीं कर सकते थे। यदि देश की सैन्य-संख्या में खतरे के समय वृद्धि नहीं की जा सकती, तो देश की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है? जैसा कि प्राय: आरोप लगाया जाता है, बुद्ध ने हिन्दू समाज को अपने अहिंसा के सिद्धांत द्वारा कमजोर बनाया था। हिन्दू समाज को कमजोर बनाने वाले बुद्ध नहीं, बल्कि चातुर्वर्ण्य का वह ब्राह्मणवादी सिद्धांत है जो न केवल हिन्दू, अपितु हिन्दू समाज के अपकर्ष के लिए भी उत्तरदायी है। आपमें से कुछ लोग मेरी उस बात को बुरा मानेंगे जो

मैंने हिन्दू समाज पर हिन्दू सामाजिक-धार्मिक आदर्श के भ्रष्टकारी प्रभाव के विषय में कही है। परंतु सच्चाई क्या है? क्या इस आरोप का खंडन किया जा सकता है? क्या विश्व में ऐसा कोई समाज है, जहां ऐसे लोग रहते हों, जो एकदम अलग-थलग रहते हों और जिनकी परछाई पड़ना और जिन्हें देखना पाप हो। क्या कोई ऐसा समाज है जिसमें आपराधिक जनजातियां रहती हों? क्या कोई ऐसा समाज है, जिसमें नंग-धड़ंग आदिवासी एवं बनवासी हों? वे गिनती में कितने हैं? क्या वे सैकंड़ों की संख्या में है? क्या हजारों की संख्या में हैं? मेरी कामना है कि उनकी संख्या नगण्य हो। दुख की बात यह है कि उनकी संख्या लाखों में है। लाखों अछूत हैं, लाखों जरायम पेशा जनजातियां हैं, लाखों आदिम जनजातियां हैं। घोर आश्चर्य! हिन्दू सभ्यता, सभ्यता है या उसके नाम पर कलंक है? यह तो आदर्श का हाल है। अब आप उन परिस्थितियों की ओर ध्यान दीजिए, जो उस समय विद्यमान थीं, जब रानाडे मंच पर उतरे थे। जिस अधोगति की अवस्था में वे उस समय पहुंच गए थे, जब अंग्रेज मंच पर आए और रानाडे जैसे सुधारकों को उनका सामना करना पड़ा था, उस अवस्था को अब महसूस करना असंभव है। मैं बुद्धिजीवी वर्ग की दशा से आरंभ करता हूं। सभ्यता का पालन-पोषण तथा मार्गदर्शन उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर ब्राह्मणों द्वारा प्रदत्त नेतृत्व पर निर्भर होना ही चाहिए। प्राचीन हिन्दू कानून के अधीन ब्राह्मण को पुरोहित वर्ग का लाभ प्राप्त था और ब्राह्मण चाहे हत्या का दोषी हो, उसे फांसी की सजा नहीं दी जाती थी और ईस्ट इंडिया कम्पनी उसे यह विशेषाधिकार 1817 तक देती रही। इसमें संदेह नहीं, क्योंकि उस पर श्रेष्ठता का ठप्पा लगा था। पर क्या उसमें कोई श्रेष्ठता शेष रह गई थी? उसके व्यवसाय की समूची श्रेष्ठता लुप्त हो चुकी थी। वह समाज के लिए दीमक बन चुका था। ब्राह्मण ने योजनाबद्ध तरीके से समाज को खोखला किया और धर्म का अनुचित लाभ उठाया। जिन दिनों पुराणों तथा शास्त्रों की रचना ब्राह्मण ने की, वे उन धूर्तताओं की अनमोल खोज है जिनका दुरुपयोग ब्राह्मणों ने निर्धन, अशिक्षित तथा अंधविश्वासी हिन्दू जन-साधारण को उल्लू बनाने, बहकाने तथा ठगने के लिए किया। इस भाषण में उनके संबंध में हवाला देना असंभव है। मैं यहां पर केवल उन बाध्यकारी उपायों का उल्लेख कर सकता हूं, जिन्हें ब्राह्मणों ने अपने अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को भुनाने के लिए उन पर औचित्य तथा पवित्रता का ठप्पा लगाया और हिन्दुओं का अहित किया। जो लोग उनकी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, वे 1795 के रेगुलेशन (विनिमय) XXI की प्रस्तावना को पढ़ें। उसके अनुसार जब कभी भी एक ब्राह्मण कोई भी ऐसी वस्तु प्राप्त करना चाहता था जिसे कि वह अपने शिकार से उसकी इच्छा से प्राप्त नहीं कर सकता था तो वह विभिन्न प्रकार के दबाव डालने वाले उपायों का सहारा लेता था। वह अपने शरीर को चाकुओं तथा उस्तरों से चीरता था, या किसी विष को निगलने की धमकी देता था। ये उसकी सामान्य चालें होती थी, जिनको वह अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए चलाता था। हिन्दुओं पर दबाव डालकर उन्हें मजबूर करने के लिए ब्राह्मणों द्वारा कुछ अन्य

तरीके भी अपनाए जाते थे। वे जितने लज्जाजनक थे, उतने ही विलक्षण भी थे। एक सामान्य चलन यह था कि वह अपने शिकार के घर के सामने कूढ़ खड़ा कर देता था। कूढ़ एक गोल अहाता होता था, जिसमें एक लकड़ी का ढेर लगा दिया जाता था। अहाते के अंदर एक बुढ़िया को बैठा दिया जाता था, जो उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं करने पर कूढ़ में ज़लने के लिए तैयार रहती थी। इस प्रकार का दूसरा उपाय यह था कि वह उसकी महिलाओं तथा बच्चों को अपने शिकार की नजरों के सामने बैठा देता था और उनके सिर काटने की धमकी देता था। तीसरी युक्ति धरने की थी। शिकार के द्वार पर अनशन किया जाता था। यह तो कुछ भी नहीं है। ब्राह्मणों ने गैर-ब्राह्मणों की महिलाओं का कौमार्य भंग करने के अधिकार के लिए दावा करना आरंभ कर दिया था। इस चलन का प्रचलन कालीकट के जेमोरिन के परिवार में तथा वैष्णवों के वल्लभचारी संप्रदाय में था। ब्राह्मण अधोगति के रसातल में धंस चुका था। जैसा बाइबल कहती है, ''यदि लवण ने अपनी लवणता खो दी हो तो किस तत्व से उसे लवणता प्रदान की जाए।'' इसमें संदेह नहीं कि हिन्दू समाज ने अपने नैतिक बंधनों को ढीला करके उन्हें एक खतरनाक कग़ार पर पहुंचा दिया था। इस नैतिक अधोगति को रोकने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी को 1819 में एक विनिमय (1819 का VII) पारित करना पड़ा। इस अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया है कि महिलाओं को बड़े पैमाने पर काम पर लगाया जाता था ताकि वे वेश्यावृति के लिए पत्नियों तथा बच्चियों को प्रलोभन देकर ले जाएं। यह एक सामान्य प्रथा थी। पति तथा पिता अपने परिवारों को तज देते थे। लोगों में विवेक था ही नहीं और उसके अभाव में सामाज़िक पापों व अपराधों के विरुद्ध नैतिक रोष की आशा करना व्यर्थ ही था। वास्तव में, ब्राह्मण हर प्रकार के दोष, अपराध या पाप का समर्थन करने में लगे हुए थे। इसका एक सहज कारण यह था कि वह तो उनके जीवन की बैशाखी थी। उन्होंने अस्पृश्यता का समर्थन किया। अस्पृश्यता ने लाखों लोगों को दासता के नरक में धकेल दिया। उन्होंने जातिवाद का समर्थन किया। उन्होंने बाल-विवाह और बाध्यकारी वैधव्य का समर्थन किया। वर्ण-व्यवस्था के ये दो घोर कंलक हैं। उन्होंने सती प्रथा का समर्थन किया। उन्होंने बहुविवाह के नियम वाली क्रमिक असमानता की समाज व्यवस्था का समर्थन किया। उसके कारण राजपूतों ने अपनी हजारों पुत्रियों का गला जन्म लेते ही घोंट दिया। घोर लज्जाजनक! घोर पाप! क्या ऐसा समाज सभ्य राष्ट्रों को अपना मुंह दिखा सकता है? क्या ऐसा समाज अपने अस्तित्व के बने रहने की आशा कर सकता है? ऐसे प्रश्न उठाए रानाडे ने। उनका निष्कर्ष था कि यदि जीवित रहना है तो कठोर सामाजिक सुधार करने होंगे।

6

तथापि उनके सबसे बड़े विरोधी राजनीतिक वर्ग के बुद्धिजीवी थे। इन राजनीतिक लोगों ने एक नई अभिधारणा विकसित की। उस अभिधारणा के अनुसार राजनीतिक सुधार को

सामाजिक सुधार पर अग्रता प्रदान करना था। इस अभिधारणा पर मंचों पर तर्क प्रस्तुत किए गए और इसका समर्थन बंबई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ति तैलंग जैसे प्रसिद्ध लोगों ने किया। वह एक कुशाग्र बुद्धि वकील थे। उन्होंने उत्कृष्ट कौशल से यह कार्य किया। इस अभिधारणा ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। समाज सुधार आंदोलन के मार्ग में बाधा डालने वाले यदि किसी एक कारण को उत्तरदायी ठहराया जाए तो यह राजनीतिक सुधार की इस मांग को ठहराया जा सकता है। इस अवधारणा का समर्थन नहीं किया जा सकता और मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि रानाडे के विरोधी गलत थे और उन्होंने इसके अनुसार काम करके देश का हित नहीं किया। जिस आधार पर न्यायमूर्ति तेलंग ने राजनेताओं की अभिधारणा का समर्थन किया था, वह वास्तव में तर्कसंगत था। परंतु वह इस बात को पूर्णतया भूल गए कि तर्क विवेक नहीं होता और साहस तर्क नहीं होता। उन्हें 'सामाजिक' तथा 'राजनीतिक' के बीच परस्पर संबंध की वह सही समझ नहीं थी, जो इस विषय में रानाडे को थी। आइए, हम इस अभिधारणा के कारणों की जांच करें। जो तर्क दिए गए थे, वे बहुत प्रभावशाली नहीं थे। परंतु मैं उन सबसे प्रभावशाली तर्कों का सामना करने के लिए तैयार हूं, जो दिए जा सकते थे। फिर भी यह अभिधारणा टिक नहीं पाएगी। मुझे जो बातें सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती हैं, वे हैं : सर्वप्रथम, यह कहा जा सकता है कि हम पहले राजनीतिक शक्ति चाहते हैं, क्योंकि हम लोगों के अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं। यह उत्तर सरकार के एक बहुत ही साधारण सिद्धांत की उपज है, जिसका प्रतिपादन अमरीकी राजनेता जेफरसन ने किया था। उनके मतानुसार राजनीति राज्य द्वारा शासन का केवल एक कार्य है, जिससे कि लोगों के अधिकारों को बिना किसी बाधा के बनाए रखा जा सके। मान लीजिए कि यह सिद्धांत ठोस है। प्रश्न यह है कि यदि कोई अधिकार है ही नहीं तो राज्य शासन किस पर करेगा?

शासन के पक्ष को सारभाग गंभीरता प्रदान करने के लिए अधिकार तो होने ही चाहिएं। प्रत्यक्ष है कि यह अभिधारणा कि राजनीतिक सुधार सामाजिक सुधार से पहले होना चाहिए तब तक एक निरर्थक प्रस्ताव रहता है, जब तक कि विचार यह हो कि सरकार का काम उन लोगों की रक्षा करना होता है, जिनके पास निहित अधिकार होते हैं और उनको दंड देना होता है, जिनके पास कुछ नहीं होता। दूसरा आधार जिस पर इस अभिधारणा के समर्थन में जोर दिया जा सकता है, वह है कि वे राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को कानून द्वारा कुछ मूल अधिकार देना चाहते हैं। और ये तभी दिए जा सकते हैं, जब पहले राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली जाए। यह बात निःसंदेह ऊपर से बहुत युक्तिपूर्ण लगती है। परंतु क्या इसमें कोई सार है? मूल अधिकारों का विचार अमरीकी संविधान में तथा क्रांतिकारी फ्रांस द्वारा निर्मित संविधान में उन्हें अधिनियमित करने के समय से सुविदित हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति को मूल अधिकार प्रदान करने का विचार निःसंदेह बहुत ही

प्रशंसनीय है। प्रश्न यह है कि उनको कारगर किस प्रकार बनाया जाए? प्रचलित मत यह है कि जब अधिकारों का विधि में अधिनियमन हो जाता है तो वे सुरक्षित हो जाते हैं। यह फिर एक अनुचित मान्यता है। अनुभव तो यह सिद्ध करता है कि अधिकारों की रक्षा कानून के द्वारा नहीं, बल्कि समाज की सामाजिक तथा नैतिक चेतना द्वारा की जाती है। यदि सामाजिक चेतना ऐसी है कि वह उन अधिकारों को मान्यता देने के लिए तैयार है जिनका अधिनियमन कानून करता है, तो अधिकार सुरक्षित रहेंगे। परंतु यदि मूल अधिकारों का समुदाय द्वारा विरोध किया जाता है तो कोई कानून, कोई संसद, कोई न्यायपालिका, वास्तविक अर्थ में उनकी गारंटी नहीं दे सकती। अमरीका में नीग्रो लोगों के लिए, जर्मनी में यहूदियों के लिए, भारत में अछूतों के लिए मूल अधिकारों की क्या उपयोगिता है? बर्क ने कहा है कि भीड़ व बहुसंख्या को दंड देने के लिए कोई तरीका नहीं मिलता। कानून एक एकाकी उदंड अपराधी को दंड दे सकता है। यह उन लोगों के समूचे निकाय के विरुद्ध कभी कार्यवाही नहीं कर सकता, जो उसका विरोध करने का निश्चय कर लेते हैं।

कोलरिज के शब्दों में, ''सामाजिक चेतना आत्मा का वह शांत एवं सच्चरित्र विधायक है, जिसके प्रभाव में शेष सभी शक्तियां आपस में टकराएंगी। वही समस्त मूल अथवा अमूल अधिकारों की एकमात्र रक्षिका है।''

राजनीतिक लोगों का तीसरा तर्क स्व-शासन के अधिकारों पर आधारित हो सकता है। स्वशासन अच्छे शासन से बेहतर होता है। यह एक सुविदित नारा है। इसे एक नारे से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता और सभी इस बात से आश्वस्त होना चाहेंगे कि स्वशासन भी एक अच्छा शासन होगा। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक लोग उत्तम शासन चाहते हैं और उनका उद्देश्य लोकतंत्रात्मक शासन की स्थापना करना है। परंतु उन्होंने कभी भी शांत मन से इस बात पर विचार नहीं किया कि क्या लोकतंत्रात्मक शासन संभव है। उनका दावा अनेक भ्रांतियों पर आधारित है। लोकतंत्रात्मक शासन के लिए लोकतंत्रात्मक समाज का होना बहुत आवश्यक होता है। प्रजातंत्र के औपचारिक ढांचे का कोई महत्व नहीं है और यदि सामाजिक लोकतंत्र नहीं है तो वह वास्तव में अनुपयुक्त होगा। राजनीतिक लोगों ने यह कभी भी महसूस नहीं किया कि लोकतंत्र शासन तंत्र नहीं है। यह वास्तव में समाज तंत्र है। लोकतंत्रात्मक समाज के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें एकता, सामुदायिक उद्देश्य, लोकहित के प्रति निष्ठा तथा पारस्परिक सहानुभूति जैसी विशेषताएं हों। परंतु उसके लिए दो बातें तो सुस्पष्ट रूप में आवश्यक होती हैं। पहली है – मनोवृत्ति, अपने साथियों के प्रति समानता तथा आदर का भाव। दूसरी है – एक सामाजिक संगठन जो कठोर सामाजिक बंधनों से मुक्त हो। लोकतंत्र की अलगाव-थलगाव तथा एकांतिकता के साथ संगति नहीं होती। उनके फलस्वरूप सुविधा प्राप्त एवं सुविधा विहीन लोगों के बीच दरार पैदा होती है। दुर्भाग्यवश रानाडे के विरोधियों ने इस तथ्य की सच्चाई को कभी भी महसूस नहीं किया।

इसकी परख के लिए कोई भी कसौटी अपनाई जा सकती है और उससे यह पता चलेगा कि इस विवाद में रानाडे ने जो रुख और कार्ययोजना अपनाई, भले ही वे राजनीतिक सुधार की पूर्व आवश्यकताएं नहीं थीं, पर वे सही तथा बुनियादी थीं। रानाडे ने यह तर्क दिया कि हिन्दू समाज में ऐसे कोई अधिकार नहीं हैं, जिन्हें मनुष्य नैतिक दृष्टि से मान्यता दे सके। उसमें मुट्ठी भर लोगों के लिए विशेष सुविधाएं और विशाल बहुसंख्य जनसमूह के लिए घोर असुविधाएं थीं। रानाडे ने अधिकार-सृजन के लिए संघर्ष किया। रानाडे हिन्दू समाज की रुग्ण तथा मृतप्राय चेतना में जीवन का संचार करना चाहते थे। रानाडे एक ऐसे सामाजिक लोकतंत्र का निर्माण करना चाहते थे, जिसके बिना किसी प्रकार की निश्चित तथा स्थायी राजनीति हो ही नहीं सकती। संघर्ष दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के बीच था और वह इस प्रश्न पर केन्द्रित था कि एक राष्ट्र के जीवित रहने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता तथा सशक्त नैतिक ताने-बाने में से कौन सा अधिक महत्वपूर्ण है। रानाडे का विचार था कि नैतिक बल राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण है। यही विचार महान इतिहासकार लेकी का भी था। वह इतिहास का सावधानीपूर्वक तथा तुलनात्मक अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे :

"एक राष्ट्र की शक्ति तथा समृद्धि की नींव के आधार हैं : विशुद्ध घरेलू जीवन, व्यापार में ईमानदारी, नैतिकता तथा लोकहित के उच्च स्तर, सादा जीवन, साहस, सच्चाई तथा निर्णय में तर्क और उदारता का निश्चित पुट जिसमें चरित्र और बौद्धिक प्रतिभा का समान योगदान हो। यदि आप किसी राष्ट्र के भविष्य के लिए एक बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय करते हैं तो ध्यान से यह देखिए कि गुणों का उत्कर्ष हो रहा है या अपकर्ष। ध्यान दीजिए कि सार्वजनिक जीवन में किन गुणों का सबसे अधिक महत्व होता है। क्या चरित्र का महत्व बढ़ रहा हैं या घट रहा है? जो लोग राष्ट्र में सर्वोच्च पद पर आसीन हैं, क्या वे उन लोगों में से हैं, जिनका नाम निजी जीवन में पार्टी का लिहाज किए बिना सक्षम पारखी लोग सच्ची श्रद्धा के साथ लेते हैं। क्या वे सच्चे विश्वास वाले, सुसंगत छवि वाले तथा निर्विवाद सत्यनिष्ठा वाले व्यक्ति हैं? केवल इस धारा को देखकर ही आप किसी राष्ट्र की जन्मपत्री तैयार कर सकते हैं।"

रानाडे न केवल बुद्धिमान थे, बल्कि तर्कनिष्ठ भी थे, उन्होंने अपने विरोधियों को चेतावनी दी कि वे राजनीति में आमूल परिवर्तनवादियों तथा समाज में अति अनुदारवादियों की भूमिका अदा न करें। उन्होंने सुस्पष्ट तथा सही शब्दों में चेतावनी दी :

"आप आधे-अधूरे उदार नहीं हो सकते। आप राजनीति में उदार तथा धर्म में रूढिवादी नहीं हो सकते। दिल व दिमाग एक साथ रहने चाहिएं। आप ये दोनों काम एक साथ नहीं कर सकते कि आप अपनी बुद्धि का परिष्कार कर लें, मन को पुष्ट कर लें, अपने राजनीतिक अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का क्षेत्र भी बढ़ा लें, और साथ ही साथ अपने दिलों के द्वार बंद करके उसे संकीर्ण भी बना लें। यह एक निरर्थक स्वप्न है कि हम लोगों से उस समय यह आशा करें कि वे अपने निजी अंधविश्वास तथा सामाजिक दोषों के बंधन में बंधे रहें

जब कि वे अपने शासकों से अधिकार तथा विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहें हैं। शीघ्र ही इन व्यर्थ स्वप्न दुष्टाओं को अपने स्वप्नों के ध्वस्त होने का पता चल जाएगा।''

अनुभव ने दर्शा दिया है कि रानाडे के यह शब्द सत्य सिद्ध हुए हैं, यहां तक कि ये पैगम्बरी भविष्यवाणी रहे हैं। जो इससे इंकार करते हैं, वे इस बात पर विचार करें : हम आज राजनीति में कहां हैं और हम जहां हैं, वहां क्यों हैं? राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुए अब 50 वर्ष हो चुके हैं। इसका नेतृत्व अनेक हाथों से गुजरा है। मैं यह नहीं कहता कि वह समझदारों से नासमझों या यथार्थवादियों से आदर्शवादियों के हाथों में गया है, परंतु यह नरमपंथियों से उग्र सुधारवादियों के हाथों में चला गया है। हमारी राजनीतिक यात्रा के 50 वर्ष के अंत में आज देश कहां पर खड़ा है? इस गतिरोध का क्या कारण है? उत्तर सीधा सा है, गतिरोध का कारण है सामुदायिक समझौते का अभाव। पूछिए कि राजनीतिक समझौते के लिए सामुदायिक समझौता क्यों आवश्यक है और रानाडे के दृष्टिकोण के बुनियादी महत्व को महसूस कीजिए, इस प्रश्न का उत्तर गलत सामाजिक व्यवस्था में मिलेगा। वह लोकतंत्र का घोर विरोध करती है, वह वर्गों की प्रबल समर्थक है, वह घोर जन-विरोधी है, वह वर्ग उच्चता तथा सांप्रदायिकता से भरपूर है। यदि राजनीतिक लोकतंत्र को उसका आधार बनाया जाएगा तो वह पूर्ण विडंबना हो जाएगी। यही कारण है कि उच्च जातियों के हिन्दुओं के अलावा कोई भी बिना गंभीर समायोजन के इसे राजनीतिक लोकतंत्र का मुद्दा बनाने के लिए सहमत नहीं होगा। कुछ लोग यह तर्क देकर संतुष्टि प्राप्त कर सकते हैं कि गतिरोध ब्रिटिश सरकार ने उत्पन्न किया है। लोग ऐसे विचारों को ग्रहण करना पसंद करते हैं, जो उनको संतोष प्रदान करते हैं और दूसरों पर जिम्मेदारी डाल देते हैं। यह पलायनवाद की मनोवृत्ति है, परंतु इससे इस तथ्य को नहीं बदला जा सकता कि यह सामाजिक व्यवस्था का दोष है। इसी ने सांप्रदायिक समस्या को जन्म दिया है और इसी ने भारत के सामने राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न की है।

रानाडे का उद्देश्य अगर नई व्यवस्था बनाना नहीं था तो प्राचीन व्यवस्था का परिमार्जन करना अवश्य था। उन्होंने हिन्दू समाज के नैतिक स्तर में सुधार लाने पर जोर दिया। यदि उनकी बातों को सुना जाता और उसका अनुसरण किया जाता तो कम से कम इस व्यवस्था की कठोरता तो समाप्त हो जाती है। भले ही इससे सामुदायिक समझौते को टाला नहीं जा सकता था, पर उसे आसान तो बनाया जा सकता था। उनके प्रयासों से जो कि सीमित थे, पारस्परिक विश्वास का मार्ग खुल जाता। परंतु राजनीतिक लोग तो राजनीतिक सत्ता के दीवाने हो गए थे और उसने उनको पूरी तरह से इतना अंधा कर दिया था कि उन्हें इसके अलावा किसी और चीज में कोई गुण नजर नहीं आता था। रानाडे को अपनी करनी का दंड मिला। क्या राजनीतिक सुरक्षा की स्वीकृति, सामाजिक सुधार की आवश्यकता को नकारने के लिए दंड नहीं है?

रानाडे को उस क्षेत्र में कितनी सफलता मिली, जिसमें उन्होंने इतनी प्रमुख भूमिका अदा की थी? कुछ अर्थों में यह प्रश्न बहुत महत्व का नहीं है? उपलब्धि कभी भी महानता का सच्चा मापदंड नहीं होती। जैसा कार्लाइल ने कहा, "हाय! हम यह भलीभांति जानते हैं कि आदर्शों को कभी भी व्यवहार में पूर्णतया मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता और यह ठीक ही होगा कि हम उसके किसी सहनीय सामीप्य को साभार स्वीकार कर लें।" आदर्शों को हमेशा बहुत दूर ही रहना चाहिए। शिलर शिकायत भरे ढंग से कहते हैं, "हमारे इस असहाय संसार में किसी भी व्यक्ति को वास्तविकता के अतिअल्प परिणाम को पूर्णतया के पैमाने से नहीं मापना चाहिए। हम उसे बुद्धिमान व्यक्ति नहीं मानेंगे; हम उसे एक रुग्ण, असंतुष्ट, मूर्ख व्यक्ति मानेंगे। और फिर भी रानाडे की उपलब्धि का रिकार्ड बिल्कुल शून्य नहीं था। उस समय के समाज सुधारकों के समक्ष जो समस्याएं थीं, वे राय बहादुर पी. आनंद चार्ली द्वारा तैयार समाज सुधारक संबंधी विवरण में दी गई हैं। वे पांच थीं : (1) बाल विवाह, (2) विधवा पुनर्विवाह, (3) हमारे देशवासियों के लिए विदेशों में भ्रमण या यात्रा की स्वतंत्रता, (4) महिलाओं का संपत्ति का अधिकार, और (5) स्त्रियों की शिक्षा। इस कार्यक्रम में से अधिकांश में उन्होंने सफलता प्राप्त की। यदि उनको पूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं हुई तो इसका कारण उनके सामने उस समय की विषमताएं थीं, जिन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए। चतुर, कृतसंकल्प तथा पाखंडी बुद्धिजीवी वर्ग, रूढ़िवादिता को बचाने तथा रानाडे को चुनौती देने के लिए आगे आया। वे दृश्य उत्तेजक थे। वे दृश्य उसी प्रकार उत्तेजक थे, जिस प्रकार युद्ध के भयानक घृणित दृश्य होते हैं, और यह एक युद्ध था। जिस समय इस देश में समाज सुधार पर विवाद चल रहा था, उस समय की भावना व जोश को याद नहीं किया जा सकता। उस समय समाज सुधारकों के विरुद्ध रूढ़िवादी लोगों द्वारा जो युक्तियां प्रयोग में लाई गईं, उनकी जो निंदा की गई, उनको जो गालियां दी गईं, उनका शिष्टाचार के नाते यहां पर उल्लेख करना संभव नहीं। सहमति की आयु संबंधी विधेयक का विरोध करके रूढ़िवादिता का जिन लोगों ने समर्थन किया, उनके आचरण समझ पाना असंभव है। यह कार्य उन्होंने उस अधोगति व अपकर्ष के गर्व को महसूस किए बिना किया, जिसमें लोगों के तथाकथित नेता गिर गए थे। विधेयक का उद्देश्य ऐसे पति को दंड देना था, जो अपनी ऐसी पत्नी के साथ जिसकी आयु 12 वर्ष की नहीं हुई हो, संभोग करेगा। क्या कोई समझदार व्यक्ति, क्या कोई लज्जालु व्यक्ति इतने सीधे-सादे विधेयक का विरोध कर सकता था ? परंतु इसका विरोध किया गया और रानाडे को उन्मादी रूढ़िवादिता के ताप को सहन करना पड़ा। यह मानकर कि रानाडे की उपलब्धियां कम थीं, कौन व्यक्ति और अधिक उपलब्ध करने के लिए उनकी असफलता पर गर्व कर सकता था या विजयोल्लास मना सकता था? विजयोल्लास मनाने या जय-जयकार करने का कोई कारण नहीं था। समाज सुधार का ह्रास बिल्कुल स्वाभाविक था। समाज सुधार की निंदा की कोई सीमा नहीं थी। राजनीतिक सत्ता की आसक्ति अत्याधिक मोहक थी। इसका

परिणाम यह हुआ कि समाज सुधारकों की संख्या घटती गई। कुछ समय के बाद समाज सुधार का मंच छोड़ दिया गया और लोग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में जमा हो गए। सत्ता लोलुपों ने समाज सुधारकों पर विजय प्राप्त कर ली। मुझे यकीन है कि अब कोई भी व्यक्ति उनकी उस विजय को गर्व की बात नहीं मानेगा। यह वास्तव में निश्चय ही दुख की बात थी। रानाडे को भले ही पूर्णतया विजय न मिली हो, परंतु उनका पक्ष गलत नहीं था और निश्चय ही वह कभी भी गलत के पक्ष में नहीं थे, जिस प्रकार कि उनके कुछ विरोधी थे।

8

रानाडे की तुलना अन्य लोगों से कैसे की जाए? तुलनाएं सदैव अप्रिय होती हैं। साथ ही, यह भी सच है कि तुलना से ही व्यक्ति प्रसिद्ध होता है। वास्तव में, तुलना करते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि रुचिकर तथा शिक्षाप्रद तुलना होने के लिए वह सदैव समान व्यक्तियों के बीच ही की जानी चाहिए। सौभाग्य से यहां तुलना की गुंजाइश है। रानाडे एक समाज सुधारक थे और एक समाज सुधारक होने के नाते उनकी तुलना किसी अन्य समाज सुधारक के साथ की जा सकती है। विशेष रुप से यह तुलना रानाडे तथा ज्योतिबा फुले के मध्य हो सकती है। फुले का जन्म 1827 में तथा स्वर्गवास 1890 में हुआ था। रानाडे का जन्म 1842 में तथा स्वर्गवास 1901 में हुआ था। इस प्रकार फुले तथा रानाडे समकालीन थे और दोनों श्रेष्ठ व प्रमुख समाज सुधारक थे। कुछ लोग शायद रानाडे की अन्य राजनीतिज्ञों के साथ तुलना पर इस आधार पर आपत्ति कर सकते हैं कि रानाडे राजनीतिज्ञ नहीं थे। यह कहना कि रानाडे राजनीतिज्ञ नही थे, राजनीतिज्ञ शब्द को एक बहुत ही संकीर्ण तथा संकुचित अर्थ में बांधना है। एंक राजनीतिज्ञ केवल राजनीति का ही कार्य नहीं करता, बल्कि वह विशेष विश्वास का भी प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अंतर्गत राजनीति के तौर-तरीके तथा सिद्धांत शास्त्र, दोनों ही आते हैं। रानाडे ने राजनीति की ऐसी धारा की स्थापना की थी, जो न केवल उसके तौर-तरीके के लिए, बल्कि उसके सिद्धांत पक्ष के लिए भी अपना अलग महत्व रखती थी। इस दृष्टि से रानाडे राजनीतिज्ञ थे और उनकी तुलना सार्थक रुप से अन्य राजनीतिज्ञों से की जा सकती है। अन्य राजनीतिज्ञों तथा समाज सुधारकों से रानाडे की तुलना शिक्षाप्रद और ज्ञानवर्धक ही होगी। उसके लिए पर्याप्त सामग्री भी है। सवाल वास्तव में समय और रुचि का है। समय इतना नहीं है कि रानाडे की तुलना समाज सुधारकों तथा राजनीतिज्ञों से भी की जा सके। मुझे वास्तव में निर्णय करना होगा कि रानाडे की तुलना समाज सुधारकों से करूं या राजनीतिज्ञों से। यह रुचि का विषय है। यदि मुझ पर छोड़ दिया जाता तो मैं तो यही पसंद करता कि उपलब्ध समय में रानाडे की तुलना फुले से करता। मेरी राय में बुनियादी दृष्टि से समाज सुधार राजनीतिक सुधार से अधिक महत्वपूर्ण है। खेद है कि मेरी रुचि श्रोताओं की रुचि से भिन्न है। मेरा विचार है कि यदि श्रोताओं का समय लेना है तो मुझे अपने से कहीं अधिक महत्व उनकी रुचियों और अरुचियों को देना ही होगा। सामाजिक सुधार के

प्रति उत्साह का तूफान शांत हो गया है। राजनीति के उन्माद ने भारत की जनता को अपने पाश में जकड़ लिया है। राजनीति एक नशा बन गई है। जितना अधिक उसका सेवन करो, उतनी कहीं अधिक लालसा उसके लिए बढ़ती जाती है। जो काम मैं कर रहा हूं, वह बड़ा ही अप्रीतिकर है। मैं उसे करने का दुस्साहस इसलिए कर रहा हूं कि यह मेरा कर्तव्य है कि मैं सविस्तार इस बारे में बताऊं और लोगों की इस जिज्ञासा को शांत करूं कि रानाडे के राजनीतिक दर्शन का वास्तव में क्या महत्व है और वर्तमान राजनीतिज्ञों में इनका क्या स्थान है।

आज के वे कौन से राजनीतिज्ञ हैं, जिनके साथ रानाडे की तुलना की जा सकती है? रानाडे अपने समय के महान राजनीतिज्ञ थे। अतः उनकी तुलना आज के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति से ही करनी चाहिए। भारत के क्षितिज पर दो महापुरुष हैं और वे इतने महान हैं कि उन्हें बिना नाम लिए पहचाना जा सकता है। वे हैं, गांधी और जिन्ना। वे कैसे इतिहास की रचना करेंगे, इसे तो भावी पीढ़ी ही बताएगी। हमारे लिए तो इतना काफी है कि निर्विवाद रूप से वे अखबारों की सुर्खियों पर छाए हुए हैं। उनके हाथ में बागडोर है। एक हिन्दुओं का नेता है, तो दूसरा मुस्लिमों का। वे आज के आदर्श पुरुष और नायक हैं। मैं उनकी तुलना रानाडे से करना चाहता हूं। रानाडे की तुलना में वे कैसे हैं? इसके लिए यह जरूरी है कि उनके उन स्वभावों तथा तौर-तरीकों का कुछ वर्णन किया जाए, जिनके कारण हम उनसे परिचित हो गए हैं। उनके मूल्यांकन के बारे में मैं केवल अपने विचार प्रस्तुत कर सकता हूं। सबसे पहली बात मेरे मन में यह कौंधती है कि जहां पर उनके विराट अहं भाव का संबंध है, उन जैसे अन्य दो व्यक्तियों को खोज पाना कठिन ही है। उनके लिए व्यक्तिगत प्रभुत्व ही सब कुछ है और देश-हित तो शतरंज की गोट है। उन्होंने भारतीय राजनीति को निजी मल्ल-युद्ध का अखाड़ा बना रखा है। परिणामों की उन्हें कोई परवाह नहीं। वास्तव में तो उन्हें उनकी सुध तभी आती है, जब वे घटित हो जाते है। जब वे घटित हो जाते हैं तो या तो वे उसके कारण को भुला देते हैं, या यदि वे उसे याद भी रखते हैं तो वे उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वे आत्म-तुष्टि की ओढ़नी ओढ़ लेते हैं और वह उनके सभी पश्चात्तापों को हर लेती है। वे विलक्षण एकाकीपन के ऊंचे मंच पर खड़े हो जाते हैं। वे अपने बराबरी वालों से ओट खड़ी कर लेते हैं। वे अपने से धटिया लोगों से मेलजोल पसंद करते हैं। आलोचना से वे बड़े क्षुब्ध तथा व्यग्र हो जाते हैं, पर चाटुकारों की चाटुकारिता की चाट वे बड़े प्रेम से खाते हैं। दोनों ने एक अद्‌भुत रंगमंच तैयार किया है और वे चीजों को इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि जहां भी वे जाते हैं, वहां सदा उनकी जय-जयकार होती है। निश्चय ही दोनों सर्वोच्च होने का दावा करते हैं। यदि सर्वोच्चता ही उनका दावा होती तो यह अधिक अचरज की बात नहीं होती। सर्वोच्चता के अलावा दोनों इस बात का दावा करते हैं कि उनसे तो कभी भूल व चूक हो ही नहीं सकती। धर्मपरायण नौवें पोप के पवित्र शासन-काल में जब अचूकत्व

का अहं उफन रहा था तो उन्होंने कहा था, ''पोप बनने से पूर्व मैं पोपीय अचूकत्व में विश्वास रखता था, अब मैं उसे अनुभव करता हूं।'' यह ठीक ही रवैया इन दो नेताओं का है, जिन्हें विधाता ने अपनी असावधानी के क्षणों में हमारे नेतृत्व के लिए नियुक्त किया है। सर्वोच्चता तथा अचूकत्व की इस भावना को समाचार-पत्रों ने हवा दी है, यह तो कहना ही पड़ेगा। मेरे विचार में नार्थक्लिफ छाप की जिस पत्रकारिता को वर्णन के लिए गार्डिना ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह भारत में पत्रकारिता की वर्तमान स्थिति पर ठीक-ठीक लागू होती है। कभी भारत में पत्रकारिता एक व्यवसाय था। अब वह व्यापार बन गया है। वह तो साबुन बनाने जैसा है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। उसमें कोई नैतिक दायित्व नहीं है। वह स्वयं को जनता का जिम्मेदार सलाहकार नहीं मानता। भारत की पत्रकारिता इस बात को अपना सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि कर्तव्य नहीं मानती कि वह तटस्थ भाव से निष्पक्ष समाचार दे, वह सार्वजनिक नीति के उस निश्चित पक्ष को प्रस्तुत करे जिसे वह समाज के लिए हितकारी समझे, चाहे कोई कितने भी उच्च पद पर हो, उसकी परवाह न किए बिना किसी भय के उन सभी को सीधा करे और लताड़े, जिन्होंने गलत अथवा उजाड़ पथ का अनुसरण किया है। उसका तो प्रमुख कर्तव्य यह हो गया है कि नायकत्व को स्वीकार करें और उसकी पूजा करे। उसकी छत्रछाया में समाचार-पत्रों का स्थान सनसनी ने, विवेक-सम्मत मत का विवेकहीन भावावेश ने, उत्तरदायी लोगों के मानस के लिए अपील ने, दायित्वहीनों की भावनाओं के लिए अपील ने ले लिया। लार्ड सेलिसबरी ने नार्थक्लिफ पत्रकारिता के बारे में कहा है कि वह तो कार्यालय-कर्मचारियों के लिए कार्यालय-कर्मचारियों का लेखन है। भारतीय पत्रकारिता तो उससे भी दो कदम आगे है। वह तो ऐसा लेखन है, जैसे ढिंढोरचियों ने अपने नायकों का ढिंढोरा पीटा हो। नायक-पूजा के प्रचार-प्रसार के लिए कभी भी इतनी नासमझी से देशहित की बलि नहीं चढ़ाई गई है। नायकों के प्रति ऐसी अंधभक्ति तो कभी देखने में नहीं आई, जैसी कि आज चल रही है। मुझे प्रसन्नता है कि आदर योग्य कुछ अपवाद भी हैं। लेकिन वे ऊंट के मुंह में जीरे के समान हैं और उनकी बातों को सदा ही अनसुना कर दिया जाता है। समाचार-पत्रों की वाहवाही का कवच धारण करके इन दोनों महानुभावों की प्रभुत्व जमाने की भावना ने तो सभी मर्यादाओं को तोड़ डाला है। अपने प्रभुत्व से उन्होंने न केवल अनुयायियों को, बल्कि भारतीय राजनीति को भी भ्रष्ट किया है। अपने प्रभुत्व से उन्होंने अपने आधे अनुयायियों को मूर्ख तथा शेष आधों को पाखंडी बना दिया है। अपनी सर्वोच्चता के दुर्ग को सुदृढ़ करने में उन्होंने 'बड़े व्यापारिक घरानों' तथा धन-कुबेरों की सहायता ली है। हमारे देश में पहली बार पैसा संगठित शक्ति के रूप में मैदान में उतरा है। जो प्रश्न प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने अमरीकी जनता के सामने रखे थे, वे यहां भी उठेंगे, यदि वे पहले नहीं उठे हैं : शासन कौन करेगा, पैसा या मानव? कौन नेतृत्व करेगा, पैसा या प्रतिभा? सार्वजनिक पदों पर कौन आसीन होगा, शिक्षित, स्वतंत्र, देशभक्त अथवा पूंजीवादी गुटों के सामंती दास?

सामंती दास? जो भी हो फिलहाल तो भारतीय राजनीति का हिन्दू वंश अध्यात्म की ओर उन्मुख होने के बजाए नख से शिख तक अर्थ-प्रधान और धन-लोलुप हो गया है। यहां तक कि वह भ्रष्टाचार का पर्याय बन गया है। अनेक सुसंस्कृत व्यक्ति इस मलकुंड से कतरा रहे हैं। राजनीति तो असह्य गंदगी और मल वाले गंदे नाले जैसी बन गई है। राजनीति में भाग लेने और गंदी नाली साफ करने में कोई भेद नहीं रह गया है।

इन दो महापुरुषों के हाथों में राजनीति बेतुके कार्यों की होड़ बनकर रह गई है। यदि गांधीजी को महात्मा गांधी कहा जाता है, तो जिन्ना को कायदे आजम कहा ही जाना चाहिए। यदि गांधी की कांग्रेस है, तो जिन्ना की मुस्लिम लीग होनी ही चाहिए। यदि कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति और अखिल भारतीय कांगेस कमेटी है, तो मुस्लिम लीग की भी कार्यकारिणी समिति और परिषद होनी ही चाहिए। कांग्रेस अधिवेशन के बाद लीग का अधिवेशन होना ही चाहिए। यदि कांग्रेस कोई बयान जारी करती है तो लीग को भी वैसा ही करना ही चाहिए। यदि कांग्रेस सत्तरह हजार शब्दों का संकल्प पारित करती है, तो मुस्लिम लीग को कम से कम अठारह हजार शब्दों का तो संकल्प पारित करना ही चाहिए। यदि कांग्रेस का अध्यक्ष कोई प्रेस कांफ्रेंस बुलाए, तो मुस्लिम लीग का अध्यक्ष भी अवश्य ही वैसा करे। यदि कांग्रेस संयुक्त राष्ट्र से कोई अपील करे, तो मुस्लिम लीग भी पीछे क्यों रहे। कब यह सब समाप्त होगा? कब उनके बीच कोई समझौता होगा? निकट भविष्य में तो कोई आशा नहीं है। वे केवल अनर्गल शर्तों को लेकर ही भेंट करेंगे। जिन्ना का आग्रह है कि गांधी स्वीकार करें कि वह हिन्दू हैं। गांधी का आग्रह है कि जिन्ना स्वीकार करे कि वह भी एक मुस्लिम नेता है।

कूटनीतिज्ञता का ऐसा खोखला और दयनीय दिवालियापन तो कभी देखने में नहीं आया, जैसा कि भारत में इन दोनों नेताओं के आचरण में दीख रहा है। वे वकीलों की भांति लंबे-चौड़े अनंत भाषण दे रहे हैं। वकीलों का तो काम ही है कि वह बात-बात पर बहस करें, कुछ भी स्वीकार न करें और समय का रुख देखकर बात करें। गतिरोध को समाप्त करने के लिए उनमें से किसी को भी कोई सुझाव दें तो सदा यही उत्तर मिलेगा, 'नहीं'। उनमें से कोई भी समस्या के उस समाधान पर विचार नहीं करेगा, जो सनातन नहीं है। प्रसिद्ध वाणिज्यिक उक्ति के अनुसार उनके चक्कर में फंसकर राजनीति का 'दिवाला पिट गया है' और कोई भी राजनीतिक लेन-देन नहीं हो सकता।

इन दोनों की तुलना में रानाडे कैसे हैं? इस बारे में मेरा अपना कोई निजी अनुभव नहीं है। पर दूसरों ने जो कहा है, उसे मैंने पढ़ा है। उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि वे कैसे रहे होंगे। अहंभाव तो उनमें था ही नहीं। अपनी उपलब्धियों के आधार पर यदि वे कितना भी गर्व ही नहीं, अपितु धृष्टता भी कर लेते तो भी अनुचित नहीं होता। लेकिन वे तो अति सरल व्यक्ति थे। गंभीर युवा वर्ग उनकी विद्वत्ता और हंसमुख स्वभाव पर मुग्ध था। अनेक

युवक तो पूर्णतया उनके रंग में रंग गए। उन्होंने उनके उदात्त स्वभाव और प्रभाव को ग्रहण किया और अपने पूज्य शिक्षक के प्रति असीम श्रद्धा रखते हुए अपने संपूर्ण जीवन को उनकी शिक्षा के अनुरूप ढाल लिया। वह कभी भी मूर्खों की प्रशंसा से फूलकर कुप्पा नहीं हुए। वह कभी भी अपनी बराबरी वालों से मिलने से नहीं कतराए। उसी के अनुसार उनका लेन-देन चलता रहा। उन्होंने कभी अपने को अंत:करण की आवाज पर निर्भर करने वाला रहस्यवादी घोषित नहीं किया। वह तर्कनिष्ठ थे। वह सदा ही अपने विचारों को तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसे जाने के लिए तत्पर रहते थे। उनकी महानता सहज एवं स्वाभाविक थी। न तो उन्हें किसी स्टेज की और न ही किसी ओढ़ी गई सनक की या विज्ञापन के बल पर खरीदे गए समाचार-पत्रों के सहारे की कोई जरूरत थी। जैसा कि मैं बता चुका हूं, रानाडे मुख्यत: समाज सुधारक थे। वह ऐसे राजनेता नहीं थे, जो राजनीति का व्यापार करता है। लेकिन भारत की राजनीतिक प्रगति में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। कुछ ऐसे राजनेताओं के तो वह गुरु रहे, जिन्होंने असाधारण सफलताएं प्राप्त कीं और अपनी प्रतिभा से अपने आलोचकों को चमत्कृत कर दिया। कुछ का उन्होंने मार्गदर्शन किया, पर सभी को उन्होंने दर्शन का पाठ पढ़ाया।

रानाडे का राजनीतिक दर्शन क्या था? तीन सूत्रों में उनका सार इस प्रकार है :

(1) किसी कोरे काल्पनिक आदर्श की तो हमें स्थापना करनी ही नहीं चाहिए। निश्चय ही आदर्श ऐसा होना चाहिए कि वह आश्वासन दे कि वह व्यवहार योग्य है।

(2) राजनीति में बुद्धि और सिद्धांत से कहीं अधिक महत्व जन-भावना और जन-स्वभाव का है। संविधान की रचना के विषय में तो खासतौर पर ऐसा ही है। कपड़ों की भांति संविधान भी रुचि का विषय है। दोनों ही सही नाप के हों, दोनों ही रुचिकर हों।

(3) राजनीतिक वार्ता में नियम यही होना चाहिए कि क्या संभव है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो भी दिए जाने का प्रस्ताव किया जाए, उसी से हम संतोष कर लें। जी नहीं। इसका अर्थ है कि जो भी दिए जाने का प्रस्ताव किया जाए, उसे तो स्वीकार कर ही लेना चाहिए, जब कि हम जानते हों कि हमारा दबाव इतना भारी नहीं है कि वह विरोधी को और अधिक देने के लिए विवश कर सके।

रानाडे के राजनीतिक दर्शन के ये तीन प्रमुख सिद्धांत हैं। उनका दिग्दर्शन अति सरल कार्य है। उसके लिए उनके लेखों तथा भाषणों से समुचित उद्धरण दिए जा सकते हैं। पर उसके लिए न तो समय है और न ही कोई आवश्यकता है, क्योंकि रानाडे के भाषणों तथा लेखों का अध्ययन करने वाले के लिए वे स्पष्ट होंगे ही। इन तीन सिद्धांतों के बारे में रानाडे से विवाद करने वाला हो ही कौन सकता है और यदि हो भी तो विवाद किस पर करेगा? सर्वप्रथम के बारे में कोई स्वप्न-द्रष्टा ही विवाद करेगा। हमें उसकी ओर ध्यान देने की कोई जरूरत

नहीं है। दूसरा सिद्धांत इतना स्पष्ट है कि यदि हम उसकी उपेक्षा करेंगे तो हम ही नुकसान उठाएंगे। तीसरा प्रस्ताव कुछ ऐसा है, जिसके बारे में मतभेद हो सकता है। दरअसल, इसी ने उदार पंथियों को कांग्रेसियों से अलग किया। मैं उदारपंथी नहीं हूं, पर मुझे पूर्ण विश्वास है कि रानाडे का दृष्टिकोण सही था। सिद्धांत के बारे में कोई समझौता नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए। लेकिन यदि एक बार सिद्धांत के बारे में सहमति हो जाए तो इस बारे में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि उसे किस्तों में भुनाया जाए। राजनीति में तो किस्तें चलेंगी ही और जब सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाता है तो वह हानि नहीं पहुंचाता और वास्तव में ऐसा हो सकता है कि किन्ही परिस्थितियों में वह नितांत लाभप्रद हो। इस तीसरे सिद्धांत के बारे में रानाडे और तिलक के बीच वास्तव में कोई मतभेद नहीं था, केवल एक अपवाद था। तिलक का विचार था कि दबाव डालकर संभव को अधिक से अधिक संभव बनाया जा सकता है। रानाडे दबावों को संदेह की दृष्टि से देखते थे। बस केवल यही भेद था। शेष के बारे में वह सहमत थे। दबाव के प्रभाव से रानाडे के राजनीतिक दर्शन का महत्व नहीं घटता। कौन नहीं जानता कि कौन से दबाव हमारी झोली में हैं। हमने पुराने-नए सभी को तो आजमा लिया है। नतीजा क्या निकला, इसे बताने की जरूरत नहीं।

9

रानाडे का जन्मदिन मनाते समय हमें आलोचकों तथा विरोधियों की संभावित प्रतिक्रिया की उपेक्षा नहीं करनी होगी। आलोचक पूछेंगे कि रानाडे का जन्मदिन मनाने की क्या तुक है? उनका तर्क होगा कि नायक-पूजा के दिन तो कब के लद चुके हैं। विरोधी कहेंगे कि जब मैं गांधी तथा जिन्ना के मामले में नायक-पूजा की निंदा करता हूं तो श्री रानाडे को नायक' कैसे बना रहा हूं। यह बड़ा ही संगत प्रश्न है। यह सच है कि नायक-पूजा अब दम तोड़ रही है। उसके बारे में हमें कोई संदेह नहीं है। कार्लाइल के जमाने में भी वह दम तोड़ ही थी, जब उन्होंने बड़े ही रोष से अपने जमाने के विरुद्ध शिकायत करते हुए कहा था:

''यह कैसा जमाना है। वह तो महापुरुषों के अस्तित्व को ही नकारता है, महापुरुष तो होने ही चाहिएं, इसे भी वह नकारता है। हमारे आलोचकों को महापुरुष दिखाओ। उसके बारे में लेखा-जोखा दो, उसकी पूजा न करो, उसकी तो दर्जी की भांति नाप-जोख करो।''

लेकिन निश्चय ही भारत में नायक-पूजा ने दम नहीं तोड़ा है। मूर्ति-पूजा के क्षेत्र में वह आज भी 'अद्वितीय' है। यहां धर्म में मूर्ति-पूजा है। यहां राजनीति में मूर्ति-पूजा है। भले ही दुर्भाग्य की बात हो, पर भारत के राजनीतिक जीवन में नायक और नायक-पूजा एक जीता जागता तथ्य है। मैं मानता हूं कि नायक-पूजा भक्त को भ्रष्ट और देश को नष्ट करती है। मैं आलोचना का उस हद तक स्वागत करता हूं, जिस हद तक वह एक चेतावनी देती है कि पहले हम अच्छी तरह छानबीन कर ही लें कि हमारा पुरुष महापुरुष है और फिर हम उसकी पूजा शुरू करें। लेकिन दुर्भाग्य से यह कोई आसान काम नहीं है। उसका कारण है। यदि समाचार-पत्र हाथ में हों तो महापुरुष का उत्पादन बाएं हाथ का खेल है। कार्लाइल ने इतिहास

के महापुरुषों का वर्णन करते समय एक मजेदार उक्ति का सहारा लिया। उन्होंने कहा कि वे अनेकों बैंक नोटों जैसे हैं। बैंक नोटों की भांति वे स्वर्ण के प्रतीक हैं। हमें देखना यह है कि वे जाली नोट तो नहीं हैं। मैं मानता हूं कि महापुरुषों की पूजा में हमें अधिक सचेत रहना चाहिए। उसका कारण है। इस देश में हम संभवतः एक ऐसी स्थिति में पहुंच चुके हैं कि जहां-जहां नोटिस बोर्डों पर लिखा हो 'जेबकतरों से सावधान', वहां-वहां ऐसे नोटिस बोर्ड भी हों 'महापुरुषों से सावधान'। महापुरुषों की पूजा के पक्षधर कार्लाइल ने भी अपने पाठकों को सचेत करते हुए कहा था: ''इतिहास में ऐसे ढेर सारे महापुरुष गिनाए गए हैं, जो झूठे और स्वार्थी थे।'' गहरा खेद व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, ''विश्व का (श्रद्धांजलि रूपी) वेतन (इन तथाकथित महापुरुषों) की जेबों में चला जाता है। विश्व का कार्य नहीं सधता। नायक तो बाहर निकल गए हैं; नीम हकीम भीतर घुस आए हैं।''

रानाडे को देवताओं जैसा वह सम्मान तो नहीं मिला, जो भारत के इन महापुरुषों के भाग्य में आज बदा है। मिलता भी कैसे? उनके पास कोई सीधा ईश्वरीय संदेश तो था नहीं। न तो उनके पास कोई चमत्कार था और न ही किसी चमत्कार-प्रदर्शन का उन्होंने वायदा किया। न तो सरस्वती के अवतार थें और न ही उनके पास कोई दैवी शक्तियां थीं। लेकिन इन अभावों को उन्होंने पूरा किया। भले ही रानाडे ने प्रभुत्व और चमत्कार नहीं दिखाया, पर आपदाओं का पहाड़ भी हमारे सामने खड़ा नहीं किया। भले ही भारत की सेवा के लिए उनके पास कोई दैवी शक्तियां नहीं थीं, पर उनके दुरुपयोग के संकट से भी तो वह बचा रहा। भले ही वह सरस्वती के अवतार नहीं थे, पर उन्होंने बुद्धि और मनोवृत्ति का वह विकृत वितंडावाद भी तो नही दिखाया, जिसकी बुनियाद ही बेईमानी पर खड़ी होती है। उसने तो अविश्वास के बीज बो दिए हैं और समझौते को दूभर बना दिया है। अतिउल्लास और असंयम पर उनका पूर्ण अंकुश था। उन्होंने अतिवाद का सहारा लेकर सस्ती प्रसिद्धि नहीं बटोरी। लोगों की देश-प्रेम की भावनाओं से हेरा-फेरी और खिलवाड़ करके उन्होंने लोगों को गुमराह नहीं किया। उन्होंने कभी भी ऐसे घटिया हथकंडों का इस्तेमाल नहीं किया। उनमें शोर तो होता है, पर जोर नहीं। वे न तो त्रुटिहीन होते हैं और न ही धूर्तता विहीन। वे तो देश के प्रति उत्साही तथा निष्ठावान सेवकों की भी कमर तोड़ देते हैं, पंगु बना देते हैं। वे कैसे आगे बढ़े? संक्षेप में रानाडे तो एक बुद्धिमान कप्तान की भांति थे। वह जानता है कि केवल प्रभाव और प्रदर्शन के लिए महासागर के बीचोंबीच अपने जहाज के साथ चतुराई भरी चालबाजियां नहीं कर सकता और उसका कर्तव्य है कि वह उसे नियत बंदरगाह तक सुरक्षित ले जाए। संक्षेप में, रानाडे जाली बैंक नोट नहीं थे। उनकी पूजा करते समय हम यह अनुभव नहीं करते कि हम किसी झूठे और घटिया आदमी के सामने घुटने टेक रहे हैं।

वैसे भी रानाडे का यह जन्मदिन समारोह नायक-पूजा है ही नहीं। एक तो नायक-पूजा यह है कि हम उसके प्रति अपार आभार व्यक्त करें। नायक की जी-हुजूरी करना एक नितांत भिन्न प्रकार की नायक-पूजा है। पहली में कोई दोष नहीं है, पर दूसरी निःसंदेह अति जघन्य

है। पहली तो हर उदात्त चीज के प्रति मानव का आदर भाव है। महापुरुष तो केवल उसका साकार रूप होता है। दूसरी तो अपने स्वामी के प्रति खलनायक की स्वामी-भक्ति है। पहली सदाचार का लक्षण है, तो दूसरी दुराचार का। पहली उसकी सोचने की शक्ति और कार्य करने की आजादी नहीं छीनती। दूसरी तो हमें काठ का उल्लू बनाती है। पहली में राज्य के लिए विनाश की संभावना नहीं होती। दूसरी में तो खतरा ही खतरा होता है। संक्षेप में, रानाडे का जन्मदिन मनाकर हम ऐसे आका की पूजा नहीं कर रहे हैं, जो न तो किसी के द्वारा चुना जाता है, न किसी के प्रति उत्तरदायी है और न किसी के द्वारा हटाया जा सकता है, बल्कि हम तो प्रशंसा-सुमनों से ऐसे नेता को श्रद्धांजलि दे रहे हैं, जिसने लोगों का मार्गदर्शन किया। उन्हें ढोरों की तरह हांका नहीं। उसने तो उनके सुविचारित निर्णय को कार्यरूप देने का प्रयास किया। उसने हेरा-फेरी अथवा हिंसा से उन पर अपनी इच्छा लादने और थोपने का प्रयास नहीं किया।

यह जन-समुदाय नायक-पूजा के लिए एकत्रित नहीं हुआ है। यह तो इस बात का अवसर है कि हम रानाडे के राजनीतिक दर्शन को अपने मन में पुनः ताजा कर सकें। मेरे विचार में यह आवश्यक हो गया है कि हम समय-समय पर अपने मन में उसकी याद को ताजा करते रहें। कारण यह है कि उनका दर्शन खतरनाक और खोखला नहीं है, भले ही वह मंद हो। भले ही उसमें चमक-दमक न हो, फिर भी वह सोना है। क्या किसी को संदेह है? यदि है तो वे बिस्मार्क, बाल्फोर तथा मोर्ले के इन उद्‌गारों पर मनन करें। महान जर्मन नेता बिस्मार्क ने कहा था : ''राजनीति तो संभव का मायाजाल है।''

ब्रिटिश संविधान पर वाल्टर बाजेट की प्रसिद्ध पुस्तक की अपनी भूमिका में बाल्फोर ने कहा है :

''यदि हमें उस दीर्घकालीन प्रक्रिया के सही आधार को खोजना है जिसने मध्यकालीन राजतंत्र को आधुनिक लोकतंत्र में परिणत किया है और जिसके द्वारा अत्यधिक परिवर्तन हुआ है व अतिअल्प विनाश हुआ है, तो हमें प्रतिभा और सिद्धांत के स्थान पर स्वभाव और चरित्र का अध्ययन करना ही होगा। यह एक ऐसा सच है, जिसे याद रखना उन लोगों के लिए लाभकारी होगा, जिन्होंने पराए देशों में ब्रिटिश संस्थानों को शत-प्रतिशत ज्यों-का-त्यों अंगीकार किए जाने की सिफारिश की है। ऐसा प्रयोग खतरे से खाली नहीं हो सकता। संविधानों की नकल करना तो आसान है, पर स्वभावों की नहीं और यदि ऐसा हो जाए कि उधार लिए हुए संविधान और स्वभाव की संगति न बैठे, तो इस असंगति के भयंकर दुष्परिणाम निकल सकते हैं। इसका कोई खास महत्व नहीं कि वहां के लोग कौन से अन्य गुणों से संपन्न हैं, यदि उनमें निम्न की कमी है जो इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्व के हैं। यथा, यदि उनमें यह क्षमता नहीं है कि वे अपनी निष्ठाओं का क्रम-निर्धारण नहीं कर सकते तथा उनसे प्रभावित नहीं हो सकते; यदि वे स्वातंत्र्य के प्रति सहज रुचि और कानून के प्रति सहज

आदरभाव नहीं रखते, यदि उनमें मधुर हास्य का अभाव है और वे बेईमानी को बर्दाश्त करते हैं; यदि वे नहीं जानते कि कब और कैसे समझौता किया जाए; यदि वे भयंकर दुष्परिणामों के प्रति वह अविश्वास नहीं करते जिसे कभी-कभी गलत ढंग से तर्क का प्रभाव कहा जाता है; यदि भ्रष्टाचार से उन्हें घृणा नहीं होती और यदि उनके विभाजन या तो असंख्य या फिर अति गहरे होते हैं तो ब्रिटिश संस्थानों का सफल कार्यकरण कठिन अथवा अंसभव हो सकता है। उन स्थानों पर तो वास्तव में इनके प्रति क्षीण संभावना है जहां संसदीय अनुनय-विनय की कलाओं तथा दल प्रबंधन की दक्षताओं को पूर्णता का सर्वोच्च स्तर प्रदान किया जाता है।''

मोर्ले ने कहा है :

''तार्किक पूर्णता के पीछे भागना उस सामाजिक ताने-बाने की सामग्री का अज्ञान जताना है, जिससे कि राजनेता का पाला पड़ता है। विचार अथवा संस्था में सजीव परिवर्तन के अभाव की उपेक्षा करना मोह तथा आसक्ति है। घड़ी-घड़ी ऐसे परिवर्तन करना, भले ही वे किए जा सकते हों, बज्र मूर्खता है। मार्मिक फ्रेंच उक्ति है कि छोटे-छोटे सुधार बड़े सुधारों के कट्टर शत्रु हैं। आमतौर पर इसका इस्तेमाल इस दृष्टि से किया जाता है कि वह सामाजिक विनाश का संकेत है।''

ये वे सिद्धांत हैं जिन पर राजनीतिक सफलता निर्भर करती है। क्या वे रानाडे द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से भिन्न हैं। यह रानाडे की महानता का प्रमाण है कि बिस्मार्क, बाल्फोर तथा मोर्ले से वर्षों पूर्व उन्होंने इन सिद्धांतों का प्रतिपादन कर दिया था।

जिस पीढ़ी की सेवा रानाडे ने की, वह बुद्धिमान थी। उसने उन्हें अपना राजनीतिक पथ-प्रदर्शक, मित्र तथा दार्शनिक सलाहकार स्वीकार किया। उनकी महानता शाश्वत है। वे केवल वर्तमान पीढ़ी के ही नहीं, अपितु भावी पीढ़ियों के भी पथ-प्रदर्शक, मित्र तथा दार्शनिक सलाहकार बन सकते हैं।

एक आरोप रानाडे पर बहुधा लगाया जाता है। मेरा विचार है कि उसका उत्तर दे ही दिया जाए। उनके बारे में कहा जाता है कि उनका विचार था कि भारत पर अंग्रेजों की विजय विधि का विधान थी और भारत का इससे बढ़कर हित नहीं हो सकता कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहे और उसी में उसकी अंतिम नियति निहित है। संक्षेप में कहा जाए तो रानाडे पर आरोप लगाया जाता है कि वह भारत की स्वाधीनता के पक्षधर नहीं थे।

आरोप के आधार हैं, रानाडे के ये उद्‌गार :

''इसे सहज ही स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह विधि का विधान ही है कि असंख्य भारतवासियों के अति विशाल जनसमूह को विदेशी प्रभुत्व के प्रभावों तथा प्रतिबंधों के अधीन सदियों तक रखा जाए जब तक इन प्रभावों तथा प्रतिबंधों का उद्देश्य बना रहे कि वे उन दिशाओं में लोगों की शक्ति तथा चरित्र के निर्माण में स्थायी सहयोग देते रहें, जिनमें

कि भारतीय जातियां अति प्रभाव-ग्रस्त हैं। एक बात निश्चित है कि 500 वर्ष तक बने रहने के पश्चात मुस्लिम साम्राज्य ढह गया और उसके कारण पंजाब तथा पूरे मध्य भारत और दक्षिणी भारत की पुरानी मूल जातियों को पुनः स्थापित होने का अवसर मिला। पुनः स्थापना के ये आधार उन आधारों से कहीं अधिक ठोस स्वरूप के थे, जिन्होंने प्रारंभिक मुस्लिम विजेताओं के आगे बड़ी आसानी से घुटने टेक दिए थे।''

''हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों में ही उन अनेक गुणों का अभाव है, जो व्यवस्था तथा सुव्यवस्थित सत्ता के प्रति प्रेम के परिचायक होते हैं। दोनों में अभाव हैं। वे नागर स्वतंत्रता से प्रेम नहीं करते। वे नागरिक जीवन के लिए आवश्यक गुणों का पालन नहीं करते। यांत्रिक कौशल के प्रति उनकी अभिरुचि नहीं है। विज्ञान और शोध में उनकी रुचि नहीं है। साहसपूर्ण खोज का उनमें साहस नहीं है। कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का उनमें संकल्प नहीं है, तथा महिलाओं के प्रति उदात्त सम्मान की भावना उनमें नहीं है। पुरानी हिन्दू और पुरानी मुस्लिम सभ्यता की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उसमें इन गुणों का प्रशिक्षण ऐसे तरीके से दिया जा सकता, जिससे भारत की जातियों को पश्चिमी यूरोप की जातियों के स्तर तक लाया जा सके। इसलिए शिक्षा के कार्य का पुनर्वीकरण करने की आवश्यकता पड़ी और अब यह कार्य विगत शताब्दी से भी अधिक समय से ब्रिटिश छत्रछाया में चल रहा है, जिसका परिणाम हम सबके सामने है।''

इन बयानों पर केवल सरसरी दृष्टि डालने मात्र से ही हमें यह पता चल जाएगा कि यह आरोप बयानों को गलत पढ़ने के कारण नहीं, बल्कि उन्हें गलत समझने के कारण लगाया जाता है। बयान साफ तथा सीधा-साधा है। उसके विषय में अनुमान से भी यह नहीं कहा जा सकता कि उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रानाडे भारत की स्वतंत्रता के विरुद्ध थे। उस अर्थ में यह आरोप झूठा और निराधार है।

रानाडे के इन बयानों से उनके आत्म-सम्मान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे तो उनकी बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता को प्रमाणित करते हैं।। इन बयानों से रानाडे क्या बताना चाहते थे? जैसा मैं समझता हूं मेरा विचार है कि रानाडे दो बातें बताना चाहते थे। पहली बात वह यह बताना चाहते थे कि ब्रिटेन की भारत पर जीत ने भारत को अपने आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे का पुनर्निर्माण करने, नवीकरण करने तथा सुधार करने के लिए समय व अवसर तथा आवश्यक सुरक्षा प्रदान की, जिससे भारत स्वतंत्र होने के लिए किसी भी विदेशी आक्रमण के दबाव को सहन करने के लिए पुनः सक्षम बन सके। दूसरी बात रानाडे यह बताना चाहते थे कि भारत जब तक एक राष्ट्र के रूप में स्वयं को संतोषजनक रूप से सुसंगठित न कर ले, वह विचार तथा भावना से एकजुट न हो जाए और समान नियति की भावना से ओत-प्रोत न हो जाए, उससे पहले यदि वह ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर निकलता है तो वह स्वतंत्रता के नाम पर अव्यवस्था तथा विघटन को आमंत्रित करता है।

इन सच्चाइयों का कितना अधिक महत्व है? लोग इस बात को महसूस नहीं करते कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्षों के सुचारु समाधान में सुरक्षा की कितनी बड़ी भूमिका होती है। जो समाज प्रगति करना चाहता है, उसमें ये संघर्ष होते ही हैं। स्वर्गीय प्रो. मेटलैंड से एक बार इस बात को स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न पूछा गया कि संसदीय संस्थाएं इंग्लैंड में फलीफूलीं और यूरोप में वे अपनी जड़ें जमाने में असफल रहीं, इसका क्या कारण है? उन्होंने जो उत्तर दिया, उससे सुरक्षा के महत्व का पता चलता है। उन्होंने कहा कि यह अंतर इंग्लिश चैनल के कारण है। इस उत्तर से वह यह बताना चाहते थे कि जब इंग्लैड अपनी राजनीतिक व्यवस्था में सुधार कर रहा था तो इंग्लिश चैनल के कारण इंग्लैंड विदेशी आक्रमण से निरापद था और इसलिए लोगों के लिए स्वतंत्रता हेतु अपने राजा के विरुद्ध लड़ना निरापद हो गया और राजा के लिए भी अपनी जनता को संघर्ष करने की अनुमति देना निरापद हो गया। सुरक्षा के इस महत्व पर अब्राहम लिंकन ने भी जोर दिया था। अमरीकी राजनीतिक संस्थाएं शाश्वत क्यों बनी रहीं, इस बात को बताते हुए लिंकन ने कहा था :

''यदि यूरोप, एशिया और अफ्रीका की सभी सेनाएं एक साथ मिल जाएं और उनका सेनापति नेपोलियन बोनापार्ट हो, तब भी वे ओहियो नदी से जबरदस्ती जल की एक बूंद नहीं ले सकतीं या एक हजार वर्ष तक प्रयास करने पर भी ब्लू रिज को पार नहीं कर सकतीं।''

इस उक्ति में लिंकन सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए सुरक्षा के महत्व और उसकी आवश्यकता पर भी बल दे रहे थे। जिस प्रकार इंग्लैंड तथा अमरीका सुरक्षित देश हैं, उस प्रकार से भारत एक सुरक्षित देश नहीं है। उस तक पहुंचने के मार्ग हैं, चाहे वे मार्ग थल-मार्ग हों, जल-मार्ग हों या नभ-मार्ग। चूंकि भारत की सुरक्षा नहीं है, इसलिए यह डर है कि जब भारत अपने को पुन: व्यवस्थित कर रहा होगा, तब यदि बाहर से आक्रमण हुआ तो वह टूट जाएगा। भारत जब अपने को व्यवस्थित करेगा, तब उसे सुरक्षा के रूप में निर्जल गोदी चाहिए और ब्रिटिश साम्राज्य उसके लिए एक निर्जल गोदी है। कौन कह सकता है कि रानाडे ने अपने देशवासियों को उस सुरक्षा के महत्व को बताकर बुद्धिमानी नहीं की, जिसे ब्रिटिश साम्राज्य दे सकता है और जिसकी भारत को बहुत आवश्यकता है।

पराधीन राष्ट्र प्रबल राष्ट्र के बंधन से स्वयं को छुड़ाने और अपने को स्वतंत्र घोषित करने के लिए तो सदैव आतुर रहता है। किंतु स्वयं उस पर स्वतंत्रता का क्या प्रभाव पड़ेगा, उसके बारे में शांत मन से वह यदाकदा ही विचार करता है। तथापि इस विषय में विचार करना बहुत महत्वपूर्ण है। प्राय: यह अनुभव नहीं किया जाता कि पराधीन राष्ट्र को प्रबल राष्ट्र के साथ बांधने वाले बंधन प्रबल राष्ट्र की तुलना में पराधीन राष्ट्र के लिए अधिक आवश्यक होते हैं। यह पराधीन राष्ट्र की आंतरिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। पराधीन राष्ट्र एक अखंड राष्ट्र हो सकता है। पराधीन राष्ट्र में कई खंड हो सकते हैं। ये खंड ऐसे भी हो सकते

हैं, जो कभी भी एकजुट नहीं होंगे। अथवा ये खंड ऐसे भी हो सकते हैं कि अभी तक तो वे एकजुट न हों, परंतु यदि उन्हें लंबे अर्से तक एक साथ रख दिया जाए तो वे एकजुट हो जाएंगे। पराधीन राष्ट्र पर बंधन तोड़ने से जो प्रभाव पड़ेगा, वह उसकी आंतरिक परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। जो पराधीन राष्ट्र समग्र रूप से एक इकाई है, उसके द्वारा बंधन तोड़ने से सब अच्छा ही अच्छा हो सकता है। जिस पराधीन राष्ट्र के खंड कभी एकजुट नहीं हो सकते, उसके द्वारा बंधन तोड़ने का कोई अच्छा या बुरा, किसी भी प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता। यह इस बात पर निर्भर करता है कि इसे किस दृष्टिकोण से देखा जा रहा है? किंतु तीसरे प्रकार के मामले में निश्चित रूप से खतरा है। जहां एकीकरण वांछनीय और संभव है, वहां समय से पहले बंधन को तोड़ने से निश्चित रूप से विघटन होगा। वह एक निरर्थक कार्य होगा। यह वह दूसरा खतरा है, जिसके प्रति रानाडे अपने देशवासियों को सचेत करना चाहते थे।

यह कौन कह सकता है कि रानाडे ने इस चेतावनी को देकर बुद्धिमानी नहीं की थी? जो व्यक्ति इस चेतावनी की आवश्यकता पर शंका करना चाहते हैं, उन्हें केवल चीन की ओर देखना होगा। 30 वर्ष पहले चीन में क्रांति हुई थी। क्या चीन के लोग व्यवस्थित हो गए हैं? जी नहीं, लोग अभी तक पूछ रहे हैं, ''चीनी क्रांति का चक्र कब रुकेगा।''

जो व्यक्ति चीन की परिस्थितियों को जानते हैं, वे केवल यही कह सकते हैं, ''शायद अगले सौ वर्षों में।'' क्या चीन में ऐसी स्थिर सरकार स्थापित हुई है, जिसके प्रति सभी चीनियों की निष्ठा हो? स्थिति इससे बहुत भिन्न है। वास्तव में, यदि सच-सच कहा जाए तो चीन में क्रांति के बाद पहले से भी आपसी फूट है और अधिक विघटन हो गया है। क्रांति से इतनी अधिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है कि उसकी स्वतंत्रता को खतरा हो गया है। इस तथ्य से इनेगिने भारतीय अवगत हैं कि यदि चीन ने क्रांति से उत्पन्न अव्यवस्था के परिणामस्वरूप अपनी स्वतंत्रता नहीं खोई है तो उसका कारण केवल यह है कि उसके शत्रु तो बहुत से थे, पर उनमें यह सहमति नहीं हुई कि उनमें से चीन को कौन निगले। चीनी क्रांति बहुत भारी भूल थी। यह युआन-शिह-काई विचार था। उन्होंने कहा था :''मुझे इस बारे में संदेह है कि क्या इस समय चीन के लोग गणतंत्र के लिए परिपक्व हैं और क्या वर्तमान परिस्थितियों में चीनी लोगों के लिए गणतंत्र को अनुकूल बना लिया गया है। सीमित राजतंत्र प्रणाली को अपनाने से परिस्थितियां फिर से तेजी से सामान्य और स्थिर हो जाएंगी। पर लोगों की प्रकृति या चीन की वर्तमान परिस्थितियों के प्रतिकूल किसी भी प्रकार की प्रायोगिक सरकार से यह लक्ष्य कहीं देरी से प्राप्त होगा। मैं वर्तमान सम्राट को इसलिए बनाए रखना चाहता हूं कि मैं संवैधानिक राजतंत्र में विश्वास करता हूं। यदि हमें इस प्रकार की सरकार रखनी है तो लोग उन्हें ही रखने के लिए सहमत होंगे और उसके स्थान पर किसी और को रखना नहीं चाहेंगे। इस संकट की घड़ी में मेरा एकमात्र लक्ष्य चीन को विघटन से और उसके बाद आने वाली आपदाओं से बचाना है।''

जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि चीन की स्थिति भारत के लिए उदाहरण नहीं, बल्कि एक चेतावनी के समान होनी चाहिए, वे रानाडे पर भारत की स्वतंत्रता या विरोध करने के लिए दोषारोपण करने के स्थान पर इस बात से प्रसन्न होंगे कि रानाडे के पास समय से पहले होने वाली क्रांति की बुराइयों का पूर्वानुमान करने और उसी प्रकार के कदम को न उठाने के लिए अपने देशवासियों को चेतावनी देने की बुद्धि थी।

10

भावी पीढ़ियां महान पुरुषों के अंतिम वचनों और अंतिम पश्चात्तापों में हमेशा रुचि लेती हैं। महान पुरुषों के अंतिम वचन इस लोक के बारे में उनके अनुभव तथा परलोक संबंधी उनकी अनुभूति के संदर्भ में हमेशा महत्वपूर्ण नहीं होते। उदाहरण के लिए सुकरात के अंतिम विचार ये थे कि उन्होंने क्रिटों को बुलाकर उससे यह कहा, "हम एस्क्युलेपियस को एक मुर्गे के देनदार हैं; उसका कर्जा चुकाना और इसे किसी भी हालत में नहीं भूलना।" किंतु महान पुरुषों के अंतिम पश्चात्ताप हमेशा महत्वपूर्ण होते हैं, और वे मनन करने के योग्य होते हैं। नेपोलियन की मनोदशा को लीजिए। सेंट हेलेना में अपनी मृत्यु से पहले नेपोलियन ने तीन महत्वपूर्ण मुद्दों के बारे में अपनी बेचैनी जताई, जो आखिर में उसके पश्चात्ताप बने। वे इस प्रकार थे :

वह अपने जीवन की सर्वोच्च घड़ी में अपने प्राण नहीं छोड़ सका, उसने मिस्र छोड़ा, अपनी पूर्व दिशा में विजय प्राप्त करने की महत्वाकांक्षाओं का त्याग किया और उसका अंतिम पश्चात्ताप जो किसी भी प्रकार से किसी से कम नहीं था, वह था वाटरलू में उसकी हार। क्या रानाडे के मन में कोई भारी पश्चात्ताप थे? एक बात तो निश्चित है कि यदि रानाडे को कोई पश्चात्ताप थे, तो वे उस प्रकार के पश्चात्ताप नहीं थे, जिन्होंने नेपोलियन के मन की शांति भंग कर दी थी। रानाडे सेवा के लिए जीवित रहे, न कि प्रशंसा के लिए। उनके लिए इस बात का बहुत कम महत्व था कि उनकी मृत्यु उनके यशस्वी तथा गौरवशाली क्षण में हो या अकीर्तिकर क्षण में; या वह एक नायक के रूप में मरें; एक विजेता या स्वामी के रूप में मरें या वे एक साधारण आदमी की तरह मामूली सर्दी-जुकाम से मरें। वास्तव में, रानाडे को कोई पश्चात्ताप नहीं था। अभिलेख से पता चलता है कि रानाडे को किसी ऐसे कार्य या घटना का आभास नहीं था, जिसका उन्हें पश्चात्ताप रहा हो। वे आजीवन प्रसन्न व शांत रहे। परंतु यह पूछना उचित है कि यदि रानाडे आज जीवित हो जाएं तो क्या उन्हें कोई पश्चात्ताप होगा? मुझे विश्वास है कि एक विषय ऐसा है, जिसके संबंध में वह बहुत ही दुखी होंगे, और वह विषय है - भारत में उदार दल (लिबरल पार्टी) की वर्तमान स्थिति।

भारत में उदार दल की इस समय क्या स्थिति है? उदार दल आहत है। वास्तव में, यह बहुत नरम अभिव्यक्ति है। उदारवादी भारतीय राजनीति के 'तिरस्करणीय व्यक्ति' हैं। नॉर्टन

द्वारा एक अन्य संदर्भ में प्रयुक्त शब्दों में कहें तो उन्हें न जनता ने अपनाया और न ही सरकार ने। उनमें इन दोनों में से किसी की भी अच्छाई नहीं है, किंतु दोनों की बुराइयां हैं। एक समय ऐसा था, जब उदार दल कांग्रेस का प्रतिद्वंद्वी था। आज उदार दल का कांग्रेस के साथ संबंध कुत्ते और मालिक के संबंध जैसा है। कभी-कभार कुत्ता अपने मालिक पर भौंकता है, किंतु अपने जीवन में अधिकांश समय में वह अपने मालिक के पीछे चलने में ही संतुष्ट रहता है। उदार दल कांग्रेस की पूंछ के अलावा और क्या है? उसका अस्तित्व इतना निरर्थक हो गया है कि बहुत से लोग यह कह रहे हैं कि उदारवादी कांग्रेस में क्यों नहीं मिल जाते? रानाडे उदार दल के विध्वंस से होने वाले पश्चात्ताप को किस प्रकार पचा सकते हैं? कोई भी भारतीय किस प्रकार इस पश्चात्ताप को पचा सकता है? उदारवादियों के लिए उदार दल की विफलता एक अति दुखद घटना है। परंतु देश के लिए वास्तव में यह एक घोर अनर्थ है। एक दल का अस्तित्व लोकप्रिय सरकार के लिए इतना अधिक अनिवार्य होता है कि इसके बिना आगे बढ़ने के संबंध में सोचा ही नहीं जा सकता। अमरीका के एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने कहा है - "अपने संवैधानिक संगठन के किसी भाग की विफलता और लिखित संविधान के एक बड़े भाग के डूबने की कल्पना करना कहीं आसान है, पर राजनीतिक समूहों के बिना आगे बढ़ने की कल्पना करना कहीं कठिन है। वे तो हमारी जीवनदायनी संस्थाएं हैं।

वास्तव में, किसी दल में नियंत्रण और अनुशासन के बिना मतदाताओं के समूह द्वारा देश पर शासन करने के प्रयास को जेम्स ब्राइस ने इस प्रकार कहा है : "यह उसी प्रकार का प्रयास है, जैसे कि शेयर धारकों के वोटों द्वारा रेलवे बोर्ड के प्रबंधन का प्रयास करना, या यात्रियों के वोटों द्वारा चलते हुए जहाज की दिशा बदलना।"

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जन-सरकार के लिए दल एक अनिवार्य घटक होता है। परंतु इसी प्रकार इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि जन-सरकार के लिए एक दल का शासन घातक होता है। वास्तव में, यह तो जन-सरकार को नकारना है। इस संबंध में जर्मनी और इटली का उदाहरण सबसे संगत उदाहरण है। वहां तो सर्वसत्तावादी देशों से चेतावनी लेनी थी। कहां हम उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए उन्हें अपना आदर्श मान रहे हैं। राष्ट्रीय एकता के नाम पर इस देश में एक दलीय प्रणाली का स्वागत किया जा रहा है। जो लोग ऐसा कर रहे हैं, वे एक दलीय शासन के दोषों की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं, उसमें इस बात की गुंजाइश है कि अत्याचार हो और सार्वजनिक कार्यकलापों को गलत दिशा दे दी जाए। एक दलीय जन-सरकार को चलने देना लोकतंत्र को परोक्ष रूप से तानाशाही बनने की अनुमति देना है। भारत में कांग्रेस शासन के अधीन हमारा यह अनुभव रहा है कि एक दल की सरकार के शासन में बहुमत का अत्याचार किस प्रकार कोरा अत्याचार नहीं रहता और कैसे वह एक जोखिम भरा तथ्य बन जाता है। क्या श्री राजगोपालाचारी ने हमसे यह नहीं कहा था कि कार्यपालिका और न्यायपालिका का अलग-अलग होना अब आवश्यक नहीं रहा है, जैसा कि ब्रिटिश शासन में आवश्यक था? क्या यह तानाशाह के

मुंह में खून लगने जैसा नहीं है? क्या तानाशाही इसलिए तानाशाही नहीं रहती कि वह निर्वाचित है? तानाशाही इसलिए भी स्वीकार्य नहीं हो जाती कि तानाशाह हमारे अपने ही भाई-बंधु हैं। तानाशाह का चयन यदि चुनाव द्वारा किया जाए तो यह तानाशाही के विरुद्ध गारंटी नहीं है। तानाशाही के विरुद्ध वास्तविक गारंटी यही है कि उसे सत्ता से हटाने के लिए उसका मुकाबला किया जाए; उसे नीचा दिखाया जाए और उसके एक प्रतिद्वंद्वी दल द्वारा उसे उखाड़ा जाए। प्रत्येक सरकार निर्णय में गलती कर सकती है, बहुत ही बुरा प्रशासन दे सकती है, भ्रष्टाचार, अन्याय और दमन व अत्याचार तथा प्रतिष्ठा के कार्य कर सकती है। कोई भी सरकार आलोचना से मुक्त नहीं होनी चाहिए। किंतु सरकार की आलोचना कौन कर सकता है? यदि यह बात व्यक्तियों पर छोड़ दी जाए तो आलोचना कौन कर सकता है। सर टोंबी यह सलाह दे गए हैं कि किसी व्यक्ति को अपने शत्रु से किस प्रकार निबटना चाहिए? उन्होंने कहा था, ''जैसे ही तुम उसे देखो, वैसे ही उसे तुरंत खींच लो और जैसे ही खींचो उस पर भयंकर रूप से दहाड़ो''

परंतु इस सलाह पर अमल करना उस व्यक्ति के लिए संभव नहीं, जो सरकार के विरुद्ध लड़ना चाहता है। ऐसी बहुत सी बातें हैं जो व्यक्तियों के विरुद्ध इस भूमिका को सफलतापूर्वक निभा रही हैं। ब्राइस के अनुसार एक तो यह है कि विशाल जनसमूह भाग्यवादी है। व्यक्तिगत प्रयास की महत्ता न होने के कारण उनमें मौन स्वीकृति तथा समर्पण की प्रवृत्ति है। वे अपने को असहाय समझते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि मनुष्य के कार्यकलापों का संचालन तो बड़ी शक्तियां करती हैं और उनकी धारा को व्यक्ति अपने प्रयास से नहीं मोड़ सकता। दूसरे, बहुसंख्यकों के अत्याचार की संभावना होती है। उन व्यक्तियों का जो बहुमत के पीछे नहीं चलते, प्रायः उनका दमन किया जाता है, उन्हें दंड दिया जाता है और उन्हें अन्य सामाजिक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। कांग्रेस के शासन में हममें से कुछ लोगों को इसका पर्याप्त अनुभव मिल चुका है। तीसरे, सी.आई.डी. का भय है। गेस्टापों तथा अन्य सभी साधन आलोचकों पर निगरानी रखने तथा उन्हें शांत करने के लिए सरकार के पास मौजूद हैं।

स्वतंत्रता रहस्य है साहस का और साहस व्यक्तियों द्वारा एक दल में बंध जाने से उत्पन्न होता है। सरकार को चलाने के लिए दल अनिवार्य होता है। किंतु सरकार निरंकुश न हो जाए, इसके लिए दो दलों का होना अनिवार्य है। एक लोकतांत्रिक सरकार तभी लोकतांत्रिक रह सकती है, जब कि वहां दो दल हों, अर्थात् सत्तारूढ़ दल और दूसरा विरोधी दल। जैसा कि जेनिंग्स ने कहा है : ''यदि विपक्ष नहीं है तो लोकतंत्र भी नहीं है। महामहिम का विपक्ष कोई निरर्थक उक्ति नहीं होती। महामहिम को विपक्ष भी चाहिए तथा सरकार भी।''

इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में इस बात से कौन इंकार कर सकता है कि भारत में उदार दल की विफलता एक बड़ा अनर्थ नहीं है? उदार दल के पुनरुज्जीवन या एक अन्य दल के निर्माण के बिना, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का परिणाम यह होगा कि स्वतंत्रता छिन जाएगी.

क्योंकि तानाशाही और स्वतंत्रता के बीच सांप और न्योले जैसा बैर होता है, चाहे तानाशाही देशी हो या विदेशी। यह खेद का विषय है कि भारतीय लोगों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। परंतु मुझे इस बात में संदेह नहीं कि जो लोग यह चिल्लाते हैं कि केवल कांग्रेस ही एकमात्र पार्टी है और कांग्रेस ही राष्ट्र है, उनको अपने इस निर्णय पर पछताना पड़ेगा।

उदार दल विफल क्यों हुआ है? क्या रानाडे के दर्शन में कोई त्रुटि है? क्या उदार दल के लोगों में कोई दोष या उदारदल की कार्यप्रणाली में कोई दोष है? मेरा अपना यह मत है कि रानाडे के दर्शन में व उनकी विचारधारा में कोई बुनियादी दोष नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों में कांग्रेस का ध्येय सर्वोत्तम है और उदार दल के पास सर्वोत्तम व्यक्ति हैं। उदार दल के पास दोनों बातें हैं। मेरे विचार से उदार दल इसलिए विफल हुआ कि उसमें संगठन का पूर्ण अभाव था।

उदार दल के संगठन की कमजोरियों को प्रकट करना अरुचिकर नहीं होगा।

पेंडलेंटन हेरिंग ने अपनी पुस्तक - *पालिटिक्स आफ डेमोक्रेसी* - में यह कहा है कि एक पार्टी का संगठन तीन संकेन्द्रित मंडलों में फैला होता है। केन्द्रीय मंडल गुट तंत्र का प्रतिनिधित्व करता है। इसका दल के संगठन पर नियंत्रण होता है, जिसे उच्च कमान कहते हैं। उसके साथ उसके कार्यकर्ता जुड़ें होते हैं। इन कार्यकर्ताओं का मुख्य धंधा यह होता है कि चाहे चालीय अधिकारी के रूप में अथवा सार्वजनिक पद के रूप में हों, पार्टी संगठन के माध्यम से अपना पेट भरें। वे पेशेवर राजनेता कहलाते हैं और पार्टी तंत्र के रूप में काम करते हैं। इस आंतरिक मंडल, अर्थात् हाई कमान तथा तंत्र के चारों ओर ऐसे बहुत से लोगों का एक बड़ा घेरा होता है, जो भावात्मक निष्ठा तथा परंपरा के बंधन से दल के साथ बंधे होते हैं। वे दल के द्वारा घोषित सिद्धांतों का आदर करते हैं। वे पार्टी के पेशेवर कार्यकर्ताओं तथा नेताओं के कार्यों की अपेक्षा अपने दल के आदर्शों तथा प्रतीकों के प्रति अधिक सजग रहते हैं। वे दल के आदर्श को वोट देते हैं, दल के रिकार्ड को नहीं। इस दूसरे मंडल के बाहर लोगों का वह विशाल जनसमूह होता है, जो किसी दल से जुड़ा नहीं होता। ये लोग थाली के बैंगन जैसे होते हैं। वे किसी दल से नही जुड़ते। इसका कारण यह है कि वे या तो लक्ष्य-विहीन होते हैं, विचार शून्य होते हैं या उनके कोई ऐसे विशेष हित होते हैं, जिनका समावेश किसी भी मंच में नहीं होता। दूसरे मंडल के बाहर जो लोग होते हैं, वे किसी भी राजनीतिक दल के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यक्षेत्र होते हैं, वें ही वह पुरस्कार हैं जिसे पार्टी को प्राप्त करना ही चाहिए। इस पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए सिद्धांतों को प्रतिपादित करना तथा राजनीति को सूत्रबद्ध करना पर्याप्त नहीं है। लोगों की सिद्धांतों तथा राजनीति में रुचि नहीं होती, बल्कि रुचि कार्यों को कार्यरूप देने में होती है। एक दल के लिए यह आवश्यक होता है कि वह संगठित प्रयास कराए। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने कहा है कि बहुमत शासन वाले स्वशासन में कार्यों को व्यक्तिगत प्रयास से नहीं, बल्कि संगठित प्रयास से पूरा

किया जा सकता है। अब देखना यह है कि संयुक्त प्रयास के लिए क्या आवश्यक होता है? इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत मत को जनमत में परिणत किया जाए। अत: किसी पार्टी का मुख्य कर्तव्य यह हो जाता है कि जनमत की इस परणति अथवा निर्माण को किसी सिद्धांत विशेष की स्वीकृति का रूप दे। सिद्धांत रूप में राजनीतिक दल जनमत की अभिव्यक्ति तथा कार्यान्वयन के माध्यम होते हैं, परंतु व्यवहार में दल जनमत तैयार करते हैं, उसका मार्गदर्शन करते हैं, उसे प्रभावित करते हैं और प्राय: उसका नियंत्रण करते हैं। वास्तव में, यह दल का मुख्य कार्य होता है। इसके लिए दल को दो कार्य करने चाहिएं। पहला काम यह है कि उसे जनता के साथ अपना संपर्क रखना चाहिए। वह जनता के बीच में जाए और उसको अपने सिद्धांतों, नीतियों, विचारों तथा उम्मीदवारों के विषय में जानकारी दे। दूसरा काम यह है कि उसे चाहिए कि वह अपने माल, अर्थात अपनी बातों के पक्ष में प्रचार करे। उसे चाहिए कि वह उनके संबंध में जनता को पूरी तरह से जानकारी देकर उनके प्रति उसे जागरूक करे। पुन: ब्राइस के शब्दों में - ''मतदाताओं को उन राजनीतिक मसलों की जानकारी दीजिए, जिनके बारे में उन्हें निर्णय करना है, उन्हें अपने नेताओं के विषय में सूचना दीजिए तथा अपने विरोधियों के दोषों तथा अपराधों को बताइए।'' ये बुनियादी बाते हैं, जिनसे संगठित प्रयास का श्रीगणेश हो सकता है। जो दल संगठित प्रयास करने में असफल रहता है, उसे स्वयं को दल कहने का कोई अधिकार नहीं होता।

उदार दल ने एक संगठन के रूप में इनमें से कौन सा कार्य किया है। उदार दल के पास केवल उच्च कमान है। उसके पास कोई तंत्र न होने के कारण उच्च कमान केवल एक छाया मात्र है। उसका अनुयायी वर्ग केवल उस संकेन्द्रित मंडल तक ही सीमित होता है, जिसमें परंपरा के बंधनों से बंधे लोग होते हैं। नेताओं के पास ऐसा कुछ नहीं होता, जिससे वे लोगों के अंदर भावात्मक निष्ठा उत्पन्न कर सकें। भीड़ को एकत्रित करने के लिए उनके पास युद्ध का नारा नहीं होता। उदार दल का जन-संपर्क में विश्वास नहीं है। एक ऐसे दल के विषय में कल्पना नहीं की जा सकती, जो मुख्य जनधारा से नितांत अलग-थलग हो। वह धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। यह बात नहीं है कि प्रचार करने के लिए उसके पास कोई सिद्धांत नहीं है, लेकिन हिन्दू धर्म की भांति वह धर्मांतरण निरपेक्ष पंथ है। सिद्धांतों तथा नीतियों को सूत्रबद्ध करने में उसका विश्वास है। परंतु वह उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास नहीं करता। प्रचार तथा संगठित प्रयास उदार दल के लिए वर्जनाएं हैं। वे व्यक्तिगत स्तर पर आवाज उठाते हैं। वे सालाना बैठकें करते हैं। जब क्रिप्स जैसा कोई व्यक्ति आता है अथवा जब वाइसराय महत्वपूर्ण व्यक्तियों को आमंत्रित करता है तो वे आमंत्रण के लिए भाग-दौड़ करते हैं। बस यही सीमा है, उनकी राजनीतिक गतिविधि की।

यदि उदार दल की बदनामी हुई है तो क्या इसमें कोई आश्चर्य है? उदार दल सबसे महत्वपूर्ण इस तथ्य को भूल गया है कि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन का होना

अनिवार्य है और विशेष रूप से राजनीति में तो बहुत ही अनिवार्य है, जहां अनेक परस्पर विरोधी तत्वों को व्यवहारिक एक-सूत्रता में बांधना बहुत ही महत्वपूर्ण होता है।

भारत में उदार दल की इस विफलता के लिए कौन उत्तरदायी है? तथापि, हमें इस बात को कहने का बहुत खेद है और मेरा विचार है कि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस विफलता का उत्तरदायित्व किसी हद तक रानाडे पर भी है। रानाडे का संबंध विशिष्ट वर्गों से था। उनका जन्म तथा पालन-पोषण उनके अंदर ही हुआ था। वह कभी भी जनता के आदमी नहीं बने। उदार दल के पास कोई तंत्र या मशीनरी नहीं है। उसने एक तंत्र व मशीनरी का निर्माण क्यों नहीं किया, इसका कारण यह है कि इस दल का जन-संपर्क में विश्वास नहीं था। जन-संपर्क के प्रति विमुखता रानाडे की प्रमुखता है। जन-संपर्क की उपेक्षा करके यह दल रानाडे द्वारा छोड़ी गई परंपरा का अनुसरण कर रहा है। उदार दल के लिए रानाडे की एक और परंपरा है, और उसका संबंध सिद्धांतों तथा नीतियों की प्रेरणा-शक्ति में झूठे विश्वास से है। मेजिनी ने एक बार कहा था, ''आप व्यक्ति की हत्या कर सकते हैं, उसके महान विचार की नहीं।'' मुझे यह सबसे गलत विचार प्रतीत होता है। मनुष्य नश्वर होते हैं। उसी प्रकार विचार भी होते हैं। यह विचार गलत है कि विचार अपना संवर्धन स्वयं कर सकते हैं। जिस प्रकार पौधे को पानी की, उसी प्रकार विचार को प्रचार की दरकार रहती है। अन्यथा दोनों मुरझाकर नष्ट हो जाएंगे।

रानाडे, मेजिनी से सहमत थे और इस बात में उनका विश्वास नहीं था कि विचार के पल्लवन के लिए किसान की भांति एड़ी-चोटी का पसीना बहाने की जरूरत है। यदि उदार दल केवल सिद्धांत तथा नीति-निर्धारण से ही संतुष्ट है तो उसके लिए रानाडे की परंपरा ही उत्तरदायी है।

उदारवादियों के क्या कर्तव्य हैं? मैं यह जानता हूं कि सभी उदारवादी यही कहेंगे कि हमारा कर्तव्य अपने गुरु का अनुसरण करना है। सच्चे श्रद्धालु शिष्यों के समूह का और क्या दृष्टिकोण हो सकता है? किंतु इसके अलावा क्या कोई और बात अधिक भ्रांतिपूर्ण और अविवेकपूर्ण हो सकती है? इस प्रकार के दृष्टिकोण के दो अर्थ लगाए जा सकते हैं। एक यह है कि महान व्यक्ति अपने शिष्यों पर अपने सिद्धांत थोपते हैं। दूसरी बात यह है कि शिष्यों को अपने गुरु से अधिक बुद्धिमान नहीं होना चाहिए। किंतु ये दोनों निष्कर्ष गलत हैं। ये गुरु के प्रति अन्याय करते हैं। कोई भी महापुरुष वास्तव मेंअपने सिद्धांतों या निष्कर्षों को अपने शिष्यों पर थोपकर उन्हें पंगु नहीं बनाता। महापुरुष अपने शिष्यों पर अपने सिद्धांत नहीं थोपता। वह उनका आह्वान करता है और उनकी विभिन्न क्षमताओं को जागृत करके उन्हें कर्मठ बनाता है। शिष्य अपने गुरु से केवल मार्गदर्शन प्राप्त करता है। वह अपने गुरु के निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। अपने गुरु के सिद्धांतों या निष्कर्षों को अस्वीकार करने में शिष्य की कोई कृतघ्नता नहीं होती। जब वह उन्हें पुनः अस्वीकार करता है, तब

भी वह हार्दिक आदर के साथ अपने गुरु के संबंध में यह स्वीकार करता है, "आपने मुझसे स्वयं मेरा परिचय कराया, मुझे ज्ञान प्रदान किया, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं।" गुरु इस आदर से कम का पात्र नहीं है। और शिष्य इससे अधिक आदर लेने के लिए बाध्य नहीं है।

अतः यह बात गुरु के लिए भी सही नहीं है और स्वयं शिष्य के लिए भी सही नहीं है कि वह गुरु के सिद्धांतों और निष्कर्षों के बंधन में बंधकर रह जाए। उसका कर्तव्य सिद्धांतों को जानना है और यदि वह उनके मूल्यों और उनकी सार्थकता से संतुष्ट हो जाए तो उनका प्रचार-प्रसार करना है। यह प्रत्येक गुरु की इच्छा होती है। ईसा मसीह और बुद्ध ने भी यही चाहा था। मुझे पूरा विश्वास है कि रानाडे की भी यही इच्छा रही होगी कि यदि उदारवादियों का रानाडे के प्रति आस्था, प्यार और आदर है तो उनका परम कर्तव्य एक साथ मिलकर उनका गुणगान करना ही नहीं है, बल्कि रानाडे के विचारों और सिद्धांतों को फैलाने के लिए अपने को संगठित करना भी है।

इस बात की कितनी आशा है कि उदारवादी इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए आगे आएंगे। इस संबंध में लक्षण शुभ नहीं हैं। पिछले चुनावों में उदारवादियों ने एक भी सीट के लिए चुनाव नहीं लड़ा। निःसंदेह यह अपने आप में आश्चर्य की बात है। किंतु यह बात स्वयं ही प्रभावहीन हो जाती है, जब कोई व्यक्ति उदार दल के प्रमुख प्रकाश-स्तंभ माननीय श्रीनिवास शास्त्री की इस घोषणा को याद करता है कि वह कांग्रेस की सफलता की कामना करते हैं। इस बात की तुलना तो केवल भीष्म के विश्वासघाती और द्रोहात्मक आचरण से हो सकती है। वह माल तो कौरवों का उड़ाते थे पर उनके शत्रुओं अर्थात् पांडवों की सफलता के न केवल गीत गाते अघाते थे, बल्कि उनके लिए जान भी खपाते थे। इससे यह पता चलता है कि उदारवादियों का भी रानाडे के सिद्धांतों पर से विश्वास उठ गया था। यदि उदार दल की सेहत की यही हालत है तो यह अच्छा ही होगा कि यह दल मर-मिट जाए। इससे एक नए विन्यास के लिए रास्ता खुलेगा और हमें उदारवादियों तथा उदारतावाद की व्यर्थ की बकबक व बकझक की नीरसता से छुटकारा मिलेगा। यदि ऐसा होगा तो दिवंगत रानाडे की आत्मा को शांति ही मिलेगी।

अनुक्रमणिका

अंतर्जातीय भोज, 47
अंतर्जातीय विवाह, 47,68,111,118
अछूत, 56-58,267; बंगाल के, 67; मद्रास के, 67
अमृतसर, 44; सिख प्रचार कांग्रेस, 50
अल्पसंख्यक; बहुसंख्यक तथा, 202-205
अल्स्टर, 60
अस्पृश्यता, 98,265
असम, 130
असामाजिक भावना, 71-72
अहिंसा, 109; अहिंसा के सिद्धांत, 263
ऑगेस्टिनियन सिद्धांत, 254
आंध्र राज्य, 165, 166; का गठन, 164
आपराधिक जातियां, 72-73
आर्थिक सुधार, 62, 66
आर्यसमाजी, 80, 86, 199; आर्यसमाजियों के चातुर्वर्ण्य, 80-86
आरनोल्ड, मैथ्यू, 122
आयरलैंड, दक्षिणी, 60-61
आयरिश होम रूल, 60
आश्रम व्यवस्था, 108
इन्द्र सिंह, 41
इब्बतसन, सर डेनजिल, 30
ईस्ट इंडिया कंपनी, 142, 143, 148
ईसाई, 74, 87, 195
उड़ीसा, 130
उत्तर तथा दक्षिण; के बीच तनाव दूर करने के उपाय, 206-208
उत्तरी राज्यों का विभाजन, 184-186
उदार दल (लिबरल पार्टी) (उदारवादी), 283-284, 286, 287-289
उपनिषद, 108, 118
ऊंची जातियां, 115
'एक राज्य एक भाषा', 176, 177
एक्टन, लार्ड, 152, 154, 204
कुओं का प्रयोग; सार्वजनिक, 58
कुरान, 110, 120
कलकत्ता, 157, 206
कबीर, 98
कश्मीर, 166
कविठा की घटना, गुजरात, 57-58
कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) 55, 56; 163 164, 177, 178, 189, 192, 197, 200, 201 203, 260, 274, 284, 286, 289
कारवर, प्रोफेसर, 103
कार्लाइल, 265-257, 260, 273-277
केतकर, डा., 19, 20, 26, 35
कोलरिज, 267
क्रांति, 41
क्षत्रिय, 30, 80-86
क्षेत्रीय भाषाएं, 179
गांधी, महात्मा, 272-274; अम्बेडकर का, को उत्तर, 111-112; गोडसे द्वारा, की हत्या, 192; रानाडे और, 272-274; जातपांत का दोष निवारण, द्वारा, 106-122
गाडगिल, प्रो., 141, 156
गार्डिना, 273
गुजरात, 193
गुजराती, क्या बंबई के मूलवासी हैं, 142-147; बंबई के व्यापार और उद्योग के मालिक, 148-150
गोकल चंद, सर, 43
गोत्र बाहर विवाह, 21
घीवाला, प्रो., 151, 154-155
चकवारा; जयपुर रियासत में, 58
चमार; पंजाब के, 67

चन्द्रगुप्त, 62
चव्हाण, 188
चातुर्वर्ण्य (जाति प्रथा), 112, 115, 163; आर्य-समाजियों के, 80-86
चार्ली, राय बहादुर पी. आनन्द, 270
चितलेकर, 262
चैतन्य, 109, 114
छुआछूत, 107, 111, 112, 113
जनसंघ, 179
जानू गांव; गुजरात में अहमदाबाद जिले का, 58
जातपांत तोड़क मंडल, 39, 41, 42-45, 47, 48, 49, 50, 51, 54-106, 109, 110, 111
जिन्ना, 272-274; और रानाडे, 272-274
जाति की परिभाषा, 19
जाति-व्यवस्था, 203-204
जैमिनी, 'पूर्व मीमांसा' पुस्तक, द्वारा, 100
ज्ञानदेव, 109, 114
टार्डे, गेबरिल, 31-32, 33
टैगोर, दैवेन्द्र नाथ, 109
टोंबी, सर, 285
डिवी, प्रोफेसर जॉन, 104
तपासे, 188
तानाशाही, 286
तुकाराम, 109, 114
तिलक, 112, 261
तिरुवल्लूवर, 109, 114
तैलंग, न्यायाधीश न्यायमूर्ति, 266
दयानंद सरस्वती, 119
दलित जातियां (वर्ग), 49, 107, 109
दांतवाला, प्रो., 151-154
दिल्ली, 206-208
देशमुख, 188
देसाई, दिनकर राव, 188
देसाई, मोरारजी, 188, 189, 197
धर्म के आदर्श, 114
धर्म-परिवर्तन, 45, 74-75, 103, 287
धर्म-शब्द, 100
धर्मशास्त्र, 107-108
धार्मिक सुधार, 61, 640; सुधार के मूलभूत मुद्दे, 101-103
नरेन्द्र नाथ, राजा, 43
नरवणे, 188
नशाबंदी, 201
नार्टन, 283-284
नार्थ क्लिफ, 273
नायक-पूजा (महापुरुष), 254-289
नारंग, डा. गोकल चंद, 43
निजाम, 196
निम्बालकर, 188
नेपोलियन, 257, 283
नेसफील्ड, 19, 20, 30
नेहरू, जवाहरलाल, 164, 166, 178, 182, 186
प्यूरिटनवाद; इंग्लैंड में, 61
प्लेटो, 81-82
पंजाब, 42, 45, 166, 182; पूर्वी, 130; के चमार, 67; के ब्राह्मण, 67
पंत, गोविन्द बल्लभ, 184
पटेल, वल्लभभाई, 164
पटेल, बाबूभाई जे., 188
पत्रकारिता; भारत; में 273
पाठारे प्रभु समुदाय, 73, 74
पाकिस्तान की कल्पना (देश विभाजन), 179
पाणिक्कर, 180-181, 182
पोप, नोवें, 274-273
पेरिया; मद्रास के, 67
पुराण, 108, 118
पुरोहिताई (पुजारी), 101-102, 116-117, 12:
प्रकाशम, श्री, 164
प्रसाद, डा. राजेन्द्र, 164
फुले, ज्योतिबा, 271
बंबई, 44, 49, 50, 54, 130, 186, 187; अतिरिक्त आय पर महाराष्ट्र की दृष्टि, 150-151; और

इतिहास का निर्णय (अधिमत), 139-141; ईस्ट इंडिया कंपनी परिषद, 74; आर्थिक निर्भरता, 157; की स्थिति, 188-193; के बारे में निर्णय, 138; के बारे में प्रस्ताव, 138; के बारे में विवाद, 137-139; गुजराती क्या बंबई के मूलवासी हैं?, 142-147; गुजराती, के व्यापार और उद्योग के मालिक, 148-150; पूरे भारत का व्यापार केन्द्र, 147-148; बृहत्तर, प्रस्ताव का उद्देश्य, 157-158; भूगोल का निर्णय (अभिमत), 140-141; महाराष्ट्र और, 137-158; महाराष्ट्र से अलग रखने का आधार, 138-139; महाराष्ट में, को सम्मिलत करने के प्रस्ताव के विपक्ष में दलीलें, 151-158; संयुक्त या विभाजन, 194-198

बंगाल, 182; के अछूत 67; पश्चिमी, 130

बकिल, 254

बनर्जी, डब्ल्यू.सी., 56, 58, 59

बनारस, 182

बलाई अछूत जाति, 57

बर्क, 101, 104, 267

बहुसंख्यक, तथा अल्पसंख्यक, 202-205

बाईबल, 110, 120, 265

बाल्फोर, 122, 278

बाल विवाह, 27, 33, 59, 465, 270

बिस्मार्क, 278

बिहार, 130, 149, 181, 184; का विभाजन, 185

बुद्ध, भगवान, 62, 263

बुद्धिजीवी वर्ग, 122, 162, 264, 265, 270

बेटसन, प्रो.; की 'मेंडेल्स प्रिंसिपल्स आफ हैरिडिटी,' पुस्तक, 69

बोलाराम, 207, 208

ब्राइस, 175, 285, 287

ब्राह्मण, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 54, 67, 72, 73-74, 80-86, 99, 108, 113, 116-117, 122, 143, 182, 192, 262, 263, 264, 265; उप-शाखाएं, 71; पंजाब के, 67; मद्रास के, 67

ब्राह्मणवाद, 46

भंडारकर, डी.आर, 67

मद्रास : अछूत, 67; पेरिया, 67; ब्राह्मण, 67

भाई परमानंद, 43

भारतीय देशवासियों के लिए विदेशों में भ्रमण या यात्रा की स्वतंत्रता, 270

भाषा; क्या एक भाषा के लिए एक ही राज्य होना आवश्यक है?, 179-181; प्रांतीय, 132, 133

भाषावाद; की पराकाष्ठा, 175-176; की सीमितताएं, 173-174, 176-184

भाषावार प्रांत, 163-167; क्या भाषावार प्रांतों का निर्माण स्थगित किया जा सकता है?, 130; के निर्माण से लाभ, 129-130; के निर्माण की समस्या, 127-133; के निर्माण से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयां, 127-129; के पुनर्गठन की मांग का प्रयोजन, 127

भाषावार राज्य, 173-208 : उत्तर बनाम दक्षिण, 181-184; पक्ष-विपक्ष, 176-179; की समस्याएं, 200-205; समस्या के सिद्धातों का सारांश, 199-200

भूमि राजस्व, 201

मध्य प्रदेश, 181, 184; का विभाजन, 185-186

मध्य भारत, 130

मद्यनिषेध, 201

मनु, 96-97, 98, 128-129, 263

'मनुस्मृति', 97

मराठी-भाषी जनता; बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक, 141

'महाभारत', 97, 108

महार जाति (महार), 253-254; की भर्ती पर रोक, 253-254

महाराष्ट्र : अन्य प्रांतों से तुलना, 134-136; और बंबई नगर, 137-158; क्या समर्थ दृष्टि से समक्ष प्रांत बन सकेगा, 133-136; को संघीय प्रकृति वाला प्रांत होना चाहिए या एकात्मक प्रकृति वाला, 136-137; बंबई

की अतिरिक्त आय पर दृष्टि, 150-151; समस्याएं और समाधान, 186-199; महाराष्ट्रीय मिश्रित राज्य के अधीन रहें, 187-188
महिलाओं का संपत्ति का अधिकार, 270
मार्क्स, कार्ल, 59, 254
मुसलमान (मुस्लिम), 69, 74, 75, 76, 87, 88, 105
मुस्लिम लीग, 274
मुहम्मद साहब, पैगम्बर, 61-62
मेजिनी, 288
मेटलैंड, प्रो., 281
मेहता, जीवराज, 188
मोर्ले, 278
'यंग इंडिया', 118
राज्य पुनर्गठन आयोग, 180 181, 182, 199
राजगोपालाचारी, 165, 182, 183
राजधानी; भारत की दूसरी, 206, 205
राजनीतिक क्रांति; 62 राजनीतिक बहुमत; 204, 205
राजनीतिक सुधार, 55, 66
राजनीतिक सुधार दल, 55-62
राजस्थान, 181
राजा, राय बहादुर एम.सी., 107
राजेन्द्र प्रसाद, डा. 182
राधाकृष्णन, प्रो.; एस, की 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ', पुस्तक, 88-89
रानाडे, 253-289; की जन्मशती, 253; राजनीतिक दर्शन, 275, 276
रामकृष्ण परमहंस, 109, 114
रामदास, संत; 'दस बोध', द्वारा, 54
रामानुज, 98
राष्ट्रीय आंदोलन, 105
राय, राजा राममोहन, 109
रिजले, सर एच., 19, 20, 30
रूजवेल्ट, प्रेसीडेंट, 273
रूढ़िवादिता, 270; रूढ़िवादी विचारधारा, 262; रूढ़िवादी लोग, 270
रेडमंड, 60
रोजबरी, लार्ड, 157
रोम; के प्लेबियन का मामला, 62-63
लिंकन, अब्राहम, 259
लाहौर, 43, 44, 54; का जातपांत तोड़क मंडल, 39, 41, 106, 109, 111
लूथर, 61
लेजले, फर्डिनेंड, 59
व्यक्ति-पूजा, 29
वर्ण (वर्ण-व्यवस्था), 108-109, 118-120
वांचु, न्यायमूर्ति श्री, 163
वाडेरेकर, 188
वारंगल, 165, 166
विधवा स्त्रियां, 23, 27, 33, 59; विधवा विवाह, 23-27, 33, 59, 74, 270
विल्सन, राष्ट्रपति वुडरो, 286
विवेकानंद, 109
विवाह, 20-27, 68
वेद, 96-97, 100, 108, 118, 119
वैधव्य; बाध्यकारी, 265
वैश्य वर्ग, 30, 80-86, 263
शास्त्री, श्री निवास, 253, 289
शाह, शांति लाल, 188
शिवाजी, 62
श्रम (श्रमिकों) का विभाजन, 66, 67
'श्रुति', 97, 98, 99
श्रीधर, 164
श्रीनिवासन, दीवान बहादुर, 107
श्री पोट्टी श्रीरामुलु, 164-165, 164-165
स्टीफन, लेस्ली, 94
'स्मृति', 96-97, 98, 99, 100, 108
स्वराज, 105-106
स्वतंत्रता, 285-286
सगोत्र विवाह, 21
सजातीय विवाह, 20-22, 23, 24, 26, 27, 32

संत राम, 41, 42, 43, 47, 109, 110, 111, 119-120
संत लोग, 112-114, 122
सत्य ही ईश्वर, 109
सतारा हाईस्कूल, 253
सती प्रथा, 27, 33, 182
सदाचार, 96, 98-99
समाज : चार वर्ण, 30-31; आदर्श, 78-80
समाजवाद, 64, 65
संयुक्त प्रांत, 130, 181
सहपान, 118
साठे, 188
सांप्रदायिक बहुमत, 204, 205
सामाजिक अधिकार, 85
सामाजिक आदर्श, 115
सामाजिक क्रांति, 62, 85
सामाजिक व्यवस्था, 62
सामाजिक विभाजन, 68
सामाजिक सम्मेलन (सोशियल कांफ्रेंस), 55-62, 260
सामाजिक सामंजस्य, 118
सामाजिक सुधार (समाज सुधार), 55, 59, 64, 89-96, 98, 260, 261, 262, 269, 270, 271-272
समाजवादी, 62, 63, 64, 65
सिकंदराबाद, 207, 208
सिख, 75, 76, 87, 88, 105; अमृतसर में आयोजित, प्रचार कांग्रेस, 50
सीतारमैया, डा. पट्टाभि, 164
सुजननिकी के सिद्धांत, 68-69
सेठ, इन्दुमति, 188
सेनार, 19-20, 30
सेलिसबरी, लार्ड, 273
हंसराज, महात्मा, 43
हर भगवान, 44, 45, 47
'हरिजन', 106, 107, 109, 111
हरिद्वार मेला, 182
हिन्दू दर्शन, 263
हिन्दू धर्म, 74-75, 109, 114, 119, 120-121, 262, 263, 287
हिन्दू नाम, 69
हिन्दू महासभा, 179
हिन्दूवाद, 119
हिन्दू संस्कृति, 89, 202
हिन्दू सभ्यता, 202
हिन्दू समाज, 69-72, 73, 80, 83, 103-106, 112, 114, 121,-122, 262, 263, 264, 268; अंतर्जातीय विवाह, 18; एकता, 76; दार्शनिक, 263; नीति और आचार पर जाति प्रथा का प्रभाव, 77-78; समुदाय (संगठन), 75-76; सामाजिक व्यवस्था, 89-96, 260; साहित्य, 71; सुधार, 260; हिन्दू-मुस्लिम दंगे, 70
हीरे, श्री, 88, 197
हेरिंग, पेंडलेंटन, 286
हैदराबाद, 165-166, 207, 208
होम रूल संविधान, 60